रवीन्द्रनाथ ठाकुर

एक जीवनी

राष्ट्रीय जीवनचरित

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

एक जीवनी

कृष्ण कृपलानी

अनुवाद

रणजीत साहा

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

उसके लिए
जो कभी थी

विषय सूची

1

वंश परंपरा

तुम्हारी ही शताब्दियां एक दूसरे का करती हैं पीछा
एक नन्हे-से जंगली फूल को पूर्णता प्रदान करती हुई

भारतीय परंपरा में इतिहास और गाथाएं, यथार्थ और मिथक के अंतःसूत्र इतनी जटिलता से गुंथे हैं कि यह कहना बहुधा आसान नहीं होता कि एक कहां समाप्त हो जाता है और दूसरा कहां से शुरू हो जाता है। और यह अकारण नहीं है कि जब हम ठाकुरों जैसे महत्वपूर्ण परिवार की वंश परंपरा के सूत्र ढूंढ़ने लगते हैं तो हम बहुत जल्द ही प्रचलित रूढ़ियों और पारिवारिक अनुश्रुतियों के गलियारों में खो जाते हैं और उसी अतीत में से हमें अपनी राह बहुत सावधानी से चुननी है।

आठवीं सदी के मध्य में राजनैतिक उथल-पुथल और सामाजिक संक्रमण के बाद बंगाल एक शक्तिशाली हिंदू-साम्राज्य बन गया था। इस बात की पुष्टि तत्कालीन पाठ्य-ग्रंथों में बार बार की गई है। इसके साथ यह किंवदंती भी जुड़ी है कि बौद्धों की अराजकता के कारण दूषित हो गए हिंदू-समाज की ''पवित्रता'' को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए पांच ब्राह्मण पश्चिमी कन्नौज राज्य से आमंत्रित किए गए जो उन दिनों ब्रह्मण्य-संस्कृति का गढ़ था। इन पांच ब्राह्मणों के वंशधरों का नाम आज भी बड़े आदर से लिया जाता है। बंगाल के नवीन जातीय अभिजात्य से जुड़कर यह आज तक स्मरणीय बना हुआ है। वैसे इतिहासकारों ने इस रोचक और विशाल संतति प्रयोग के बारे में एक तरह से चुप्पी साध रखी है; जिसने उस आधुनिक बंगाल का निर्माण किया हो और जो आज भी प्रायः उसी रूप में विद्यमान है। जो भी हो, उन पांच ब्राह्मणों में से एक का नाम दक्ष था और जो ठाकुर घराने के पूर्वज के रूप से सम्मानित हैं।

इतिहास विडंबनापूर्ण घटनाओं से भरा होता है। बारहवीं सदी के अंत में बंगाल पर पश्चिम की तरफ से तुर्की और अफगानों का आक्रमण हुआ और कुछ समय बाद दिल्ली सल्तनत के अधीन आ गया। फलस्वरूप बहुत-से हिंदुओं ने ताकत के बल पर या फिर नए स्वामियों द्वारा सत्ता के हस्तांतरण का लालच दिखाए जाने पर इस्लाम को स्वीकार

लिया। ऐसे ही लोगों में साहसी एक ब्राह्मण ने, जो एक मुस्लिम बालिका के प्रेम पाश में बंधा था—एक ही पत्थर से दो चिड़ियों का शिकार करते हुए, बड़ी चालाकी से इस्लाम धर्म अपनाकर न केवल अपनी प्रेयसी को पाने में सफल हो गया बल्कि एक प्रभावी अधिकारी के रूप में दक्षिण बंगाल के जेसौर के मुस्लिम सूबेदार दीवान का भी पद पा गया। इस युवक का नया नाम था, पीर अली खान। दो विश्वस्त ब्राह्मण भाई भी उसके अधीन थे—कामदेव और जयदेव— जो कई पीढ़ियों तक और ऐतिहासिक उतार-चढ़ाव के अनुल्लेख के बावजूद उस मूल घराने के वंशज थे—जिसके पूर्वज और गाथा पुरुष थे—दक्ष।

और एक दिन, जैसी कि कहानी है, रमजान के रोजे के दौरान, कामदेव ने जब यह देखा कि पीर अली खान एक नींबू सूंघ रहे हैं तब उसने मजाक करते हुए कहा, "जैसी कि हमारे धर्म की रीत है, किसी चीज को सूंघना भी आधा खाना ही है। इसलिए आपने अपने रोजे के नियम को तोड़ डाला है।" पीर अली खान ने कोई जवाब तो नहीं दिया लेकिन चूंकि वे जन्म से हिंदू थे, इसलिए कामदेव की बात उनके मन में गूंजती रही। कुछ दिनों के बाद, उन्होंने दूसरे कई हिंदुओं के साथ, इन दोनों ब्राह्मण भाइयों को भी, सूबेदार के दीवानखाने में आयोजित एक संगीत-सभा में, आमंत्रित किया। श्रोतागण जिस सभा-कक्ष में संगीत का आनंद ले रहे थे, उसके बगल वाले कमरे में ही दस्तरखानों पर पसंदीदा मुस्लिम पकवान रखे हुए थे, जिनमें गोमांस भी था। जब इनकी महक बगल वाले संगीत-सभा कक्ष तक पहुंची तो उपस्थित हिंदू उद्विग्न हो उठे। तब पीर अली खान ने मुस्कुराते हुए जोड़ा, "आपके धर्म के अनुसार जैसा कि विधान है, अगर किसी चीज को सूंघना आधा खाना है तो आप लोगों ने निषिद्ध भोजन का स्वाद लिया है और इस तरह अपना जाति धर्म गंवा चुके हैं।" जाहिर है इस बात पर हिंदुओं में भगदड़-सी मच गई और वे वहां से अपनी अपनी नाक ढांककर चलते बने। लेकिन यह 'कलंक' बना ही रहा। तब से ऐसा कहा जाता रहा है कि 'ठाकुर परिवार' श्रेष्ठता की दृष्टि से नीची जाति है और इसके सदस्यों को पीराली (पीर अली) ब्राह्मणों की संज्ञा से अभिहित किया जाता रहा है।

अपनी जातिगत 'पवित्रता' खो देने के बाद इस परिवार के लिए उस समुदाय में रहना कठिन हो गया जिसने उसे कमोबेश पनाह दी थी। यह कष्टकर स्थिति उन सबके लिए और भी बदतर हो गई जब उन्हें अपनी कन्याओं के लिए सुयोग्य वर को पाने में कठिनाई होने लगी। इसलिए इस परिवार के हर सदस्य को अपने पूर्वजों का घर छोड़ना पड़ा और वे स्वयं अपने और अपनी बेटियों के लिए योग्य वर की तलाश में एक जगह से दूसरी जगह भटकते रहे। तब विरला ही ऐसा कोई निर्भीक ब्राह्मण हुआ करता था जो इस परिवार की कन्या को स्वीकार कर लेता था। ऐसे ही लोगों में एक थे जगन्नाथ कुशारि जिन्होंने कामदेव और जयदेव जैसे बदनसीब भाइयों की एक भतीजी से विवाह किया था और जिसे अपने निर्बंध उत्साह के चलते सारे कष्टों को झेलना पड़ा। जगन्नाथ कुशारि को इस धृष्टता

के लिए भारी कीमत चुकानी पड़ी और इस नाते उसे अपना घर तक छोड़ना पड़ा। ऐसा कहा जाता है कि इस निर्भीक और उतावले व्यक्ति की पुरुष संतति द्वारा ही ठाकुर परिवार की बुनियाद डाली गई।

इस व्यक्ति का नाम था पंचानन कुशारि। प्रवास और सामाजिक उत्पीड़न ने इस परिवार के वंशजों को उदात्त और महत्वाकांक्षी बना दिया था। अपनी उच्च कुलीनता का गौरव खोने के बाद वे जैसे निर्भय हो गए थे क्योंकि अब उनके पास ऐसा कुछ भी नहीं था, जिसे खोने का उन्हें डर होता। चूंकि वे अब पहले की तरह अधिक धर्मनिष्ठ नहीं हो सकते थे इसलिए उन्होंने अधिक मानवीय होने का संकल्प लिया और उन तमाम अच्छी चीजों की तरफ़ आकृष्ट हुए, जिसे जीवन और समय-चक्र ने संभव बना दिया था। चारों तरफ महत्वाकांक्षा का ही बोलबाला था। सारे देश में ऐसी बातें हो रही थीं, जिनके बारे में पहले कभी नहीं सुना गया था। सागर-पार से आए गोरे लोगों ने पवित्र गंगा के किनारे एक कारखाना और व्यापार केंद्र खोला था और उनकी शक्ति व प्रतिष्ठा कुछ ऐसी बढ़ चली थी कि मुस्लिम शासकगण भी इस बात को बड़ी समझदारी से लेने लगे थे कि उनसे बेहतर संबंध बनाए रखा जाए। इसलिए सत्रहवीं सदी के अंतिम दशक में पंचानन और उसके काका सुखदेव ने अपना घर उसी तरह छोड़ दिया, जिस तरह कभी उनके पूर्वजों ने छोड़ा था, और गंगा किनारे स्थित गोविंदपुर नामक एक गांव में बस गए जो ब्रिटिश अधिवास से बहुत दूर नहीं था।

गोविंदपुर एक छोटी-सी बस्ती थी, मछुआरों की बस्ती— जिसमें मछुआरों जैसी ही गरीब जाति के लोग रहा करते थे। अपने बीच एक ब्राह्मण परिवार को बसा देखकर उन्हें गर्व हुआ और उन्होंने उनकी जाति के नाते काका और उनके भतीजे को वह सारा सम्मान दिया जो उन्हें मिलना चाहिए था। वे पंचानन को हमेशा पंचानन ठाकुर के नाम से संबोधित करते रहे। आज भी रीति है कि लोग इन ब्राह्मणों को ठाकुर कहकर संबोधित करते हैं। बाद में उन्हें नदी मार्ग से आने-जाने वाले विदेशी जहाजों के लिए रसद वगैरह की आपूर्ति करने की एक लाभप्रद जीविका प्राप्त हुई। इस तरह ब्रितानी और दूसरे विदेशियों को उनसे संपर्क साधने के कई अवसर मिले और जैसा कि स्वाभाविक ही था, कि आज भी अधिकांश उन्हें यह जान पड़ा है कि ठाकुर पंचानन का पदनाम या खानदानी नाम है । इसलिए वे पंचानन को मि. ठाकुर कहकर पुकारने लगे और एक अपरिचित नाम-संज्ञा को ठीक से उच्चारित न कर पाने की स्थिति में इन्हें 'टैगोर' कहकर पुकारने लगे।

यह परिवार फलने-फूलने लगा। इसकी नियति आरंभ से ही भारत में ब्रितानी शक्ति के साथ जुड़ी रही है। जैसे जैसे यह शक्ति बढ़ी और कारोबार वढ़ा, वैसे वैसे मूलरूप से साधारण मछुआरों के गांव भी क्रमशः समृद्ध और समुन्नत कलकत्ता शहर में तब्दील होते गए। और इसके साथ ही ठाकुर परिवार का भाग्य भी बदलता चला गया। पंचानन ठाकुर

के वंशज व्यापारी राजकुमार और भूमिपति अभिजात बन गए।

इस परिवार का भाग्य प्रिंस द्वारकानाथ ठाकुर के जीवन और वृत्ति काल में अपने शिखर पर जा पहुंचा था। द्वारकानाथ रवीन्द्रनाथ के पितामह थे। ई. सन 1794 में जन्मे द्वारकानाथ जब सिर्फ तेरह वर्ष के ही थे तभी उनके पिता चल बसे थे। खूबसूरत, बहुमुखी प्रतिभा के धनी और उद्यमी द्वारकानाथ ने अपने स्वच्छंद या रोमानी व्यक्तित्व के नाते अपने लिए एक साम्राज्य बना लिया होता और युवराज बन गए होते। हालांकि लोग उनके राजसी ठाट-बाट और दिल खोलकर दान देने की प्रवृति के कारण उन्हें 'प्रिंस' कहकर ही संबोधित किया करते थे। उनके लंबे-चौड़े कारोबार में कई चीजें शामिल थीं, नील के कारखाने, शोरा, चीनी, चाय, कोयला खदान वगैरह वगैरह। इनके साथ ही उनके पास बंगाल और ओड़िसा में उपस्थित प्रचुर कृषि भूमि-संपदा, सामान ढोने वाली नावों का बेड़ा भी था– जो ब्रिटिश बंदरगाहों पर तैनात थे। उन्होंने भारत की राजधानी में पहले आधुनिक बैंक की स्थापना की थी, जिसे यूनियन बैंक के नाम से जाना जाता था। अपने इस बहुविध कारोबार को वे अपने व्यापारिक संस्थान–कार, टेगौर एंड कं. (Carr, Tagore and Co.) के माध्यम से नियंत्रित करते थे।

द्वारकानाथ बड़ी शानोशौकत से रहते थे और लोगों के साथ राजसी ढंग से पेश आते थे। उन दिनों के अभिजात्य जन दोहरी जिंदगी जीते थे। घर पर, संयुक्त परिवार में पुरातन पंथी और परंपरागत ढंग से रहा करते थे, सुबह-शाम इष्टदेव या इष्टदेवी की निष्ठापूर्वक पूजा-अर्चना की जाती थी। लेकिन घर-परिवार के बाहर लंबे-चौड़े स्वागत कक्षों और सजे सजाए दावतखानों में जगमगाते झाड़फानूसों के बीच घर के मुखिया अपने मित्रों और आगंतुकों की दिलजोई किया करते थे। जहां शराब दिल खोलकर बहाई जाती और जहां हुक्का खुशबूदार तंबाकू के साथ हर घड़ी उनके स्वागत में तैयार रखा होता। वहीं प्रसिद्ध संगीतज्ञ एक-दूसरे से होड़ लेते हुए अपनी कुशलता का प्रदर्शन किया करते और पेशेवर-नर्तकियां अपने सौंदर्य से रिझाया करती थीं। कलकत्ता के मध्य स्थित जोड़ासांको नाम से प्रसिद्ध यह इलाका, जहां ठाकुरों का पैतृक भवन आज भी खड़ा है और जो शिक्षा का केंद्र है; द्वारकानाथ के प्रतिभावान पौत्र का ही नहीं, एक कृतज्ञ राष्ट्र का स्मारक भी है। वहां अब वह राजसी भवन नहीं है, जिसे द्वारकानाथ ने संलग्न भूमि पर खड़ा किया था, जहां वे अपने दोस्तों और मेहमानों और तत्कालीन कलकत्ता के शासक समाज के अग्रणी शेरों की खातिरदारी किया करते थे।

द्वारकानाथ की अकूत दानवृत्ति भी कुछ कम रईसी से भरी नहीं थी। शायद ही ऐसी कोई संस्था बची हो या कोई अवसर रहा हो–जिसके लिए उन्होंने उदारतापूर्वक दान न दिया हो। उन्होंने कलकत्ता के राष्ट्रीय पुस्तकालय और सन 1816 में भारत के पहले आधुनिक शिक्षा संस्थान, हिंदू कालेज, जो कि बाद में प्रेसिडेंसी कालेज के रूप में विकसित

हुआ, की स्थापना में भरपूर सहयोग दिया था। यही नहीं, वे 1835 में कलकत्ता में पहले 'मेडिकल कालेज एंड हॉस्पिटल' की स्थापना में सक्रिय थे, जिससे आज भी कई अस्पताल संबद्ध हैं, यह देश में मेडिकल शिक्षा का प्रमुख केंद्र है। उन्होंने छात्रों को उत्साहित करने के लिए निःशुल्क छात्रवृत्तियां प्रदान कीं ताकि वे चिकित्सा का अध्ययन कर सकें और हिंदुओं के इस पूर्वाग्रह को तोड़ने की कोशिश में कि मृत शरीर की चीर-फाड़ से दूर रहें, वे उस कमरे में आकर स्वयं उपस्थित हो जाते थे, जिसमें चीर-फाड़ की जाती थी।

वे सन 1784 में *सर विलियम जोन्स* द्वारा संस्थापित *एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल* के पहले भारतीय सदस्य और संरक्षक थे। कलकत्ता की *द आर्कियालोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, द जूलोजिकल सर्वे आफ इंडिया, द बोटेनिकल एंड जियोलॉजिकल सर्वे आफ इंडिया* और इनके साथ ही भारत में सबसे पुराने और सबसे बड़े *द इंडियन म्यूजियम* जैसी आज की अग्रणी वैज्ञानिक संस्थाएं इसी सोसायटी की ऋणी हैं। उनके कलकत्ता से इंग्लैंड जाने के मौके पर, कलकत्ता से ही प्रकाशित तत्कालीन अंग्रेजी जर्नल ने लिखा था, "द्वारकानाथ की सार्वजनिक दानशीलता के बारे में बताने के लिए कलकत्ता की एक एक कर ऐसी सभी दातव्य संस्थाओं का नाम गिनना होगा। इनमें से भला ऐसी कौन होगी जिसने उनसे उदार दानराशि नहीं प्राप्त की?"

उन्होंने केवल अपना धन ही उदारता और बुद्धिमतापूर्वक प्रदान नहीं किया बल्कि अपने जोरदार विरोध के खिलाफ भी डटकर खड़े हो गए। चाहे वह कोई भी तत्कालीन समाज सुधार की बात हो या प्रगतिशील आंदोलन की या फिर धार्मिक, सामाजिक या राजनैतिक मसलों की। वे राजा राममोहन राय के विश्वासी मित्र और कट्टर समर्थक थे। श्री राय एक उल्लेखनीय धार्मिक और सामाजिक सुधारक थे और एक ऐसे भविष्यद्रष्टा थे, जिन्हें भारतीय इतिहासकारों ने एक स्वर से आधुनिक भारत का जनक कहा है। प्रिंस द्वारकानाथ में विलक्षण राजनैतिक मेधा थी और हालांकि वे यह मानते थे कि भारत में ब्रिटिशराज की स्थापना आधुनिक राष्ट्र के तौर पर इस देश के सुदृढ़ीकरण के लिए एक ऐतिहासिक जरूरत है, लेकिन साथ ही वे उन पहले लोगों में थे जिन्होंने लोक-निर्णय को संघटित किया था और उन नए विचारों का वहन कर ऐसा प्रभाव उत्पन्न किया था जिससे देश में एक बेहतर सरकार के प्रति नवीन आग्रह उत्पन्न हो।

उन दिनों किसी हिंदू के लिए सागर-पार की यात्रा केवल एक रोमांचक यात्रा भर ही नहीं थी। यह समाज के विरुद्ध जुड़ा एक अवज्ञापूर्ण क्रांतिकारी कदम था। क्योंकि समुद्र यात्रा को अच्छी नजरों से नहीं देखा जाता था और अभियुक्त के लिए कठोर दंड का विधान था। द्वारकानाथ दो दो बार इंग्लैंड गए, पहली बार 1842 में और दूसरी बार 1844 में। सुप्रसिद्ध प्राच्यविद् फ्रेडरिक मैक्समुलर, पेरिस में एक युवा विद्यार्थी थे और प्रो0 बर्नोफ के अधीन ऋग्वेद का अध्ययन कर रहे थे। मैक्समुलर ने अपनी जीवनी में द्वारकानाथ के

जीवंत और रंगारंग व्यक्तित्व का, जो कि उनसे हुई भेंट के दौरान उनके मानस पर बड़ी गहराई से अंकित हो गया था, उल्लेख किया है और द्वारकानाथ द्वारा फ्रांस के लुई फिलिप के सम्मान में दी गई उस शानदार दावत का भी जिक्र करते हुए बताया है कि विशिष्ट अतिथियों के बीच कश्मीरी शाल के वितरण से सारा सभाकक्ष मानो हवा में तैर रहा था। द्वारकानाथ अपनी दूसरी यूरोप यात्रा से अपने घर लौट नहीं पाए। तेरह वर्ष पूर्व अपने मित्र और वरिष्ठ सहयोगी राजा राममोहन राय, जिनका ब्रिस्टल में निधन हो गया था, की तरह द्वारकानाथ का भी, अपने वतन से दूर केवल 52 वर्ष की आयु में अगस्त, 1846 को लंदन में देहांत हो गया। "द टाइम्स" के 3 अगस्त, 1846 के अंक में मृत्यु-संवाद स्तंभ के अंतर्गत लिखा गया था—"संभवतया भारत में उनकी टक्कर का कोई नहीं है, भले ही वह किसी पद या प्रतिष्ठा पर हो जिसने अपने आस-पास खड़े लोगों की प्रगति और बेहतरी को इतनी उदारता से संरक्षण प्रदान किया हो। और हम यह भी विश्वास कर सकते हैं कि भारत में और इंग्लैंड में भी ऐसे लोगों की कमी नहीं जो अपनी वर्तमान सफलता और स्वतंत्रता के लिए द्वारकानाथ ठाकुर के अनुग्रह के प्रति कृतज्ञ न हों।"

वे अपने पीछे तीन पुत्रों को छोड़ गए। जिनमें से सबसे बड़े थे देवेन्द्रनाथ ठाकुर, कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता। देवेन्द्रनाथ, एक मायने में अपने गाथा पुरुष पिता से भी कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण थे। चूंकि उनके पिता की एक "प्रिंस" के रूप में प्रसिद्धि थी, पुत्र की ख्याति लोगों के बीच एक महर्षि के रूप में थी, क्योंकि वे एक साथ संत भी थे और मनीषी भी। हालांकि वे द्वारकानाथ के पुत्र थे लेकिन वस्तुतया वे राजा राममोहन राय के नैतिक वंशज और आध्यात्मिक उत्तराधिकारी थे, जिन्होंने उनके संदेशों को जारी रखते हुए उन्हें सार्थक बनाया। उनके व्यक्तित्व का रवीन्द्रनाथ के बौद्धिक विकास पर गहरा प्रभाव पड़ा।

देवेन्द्रनाथ का जन्म 1817 में हुआ था और उनका लालन-पालन क्रमशः बढ़ती जाती उस विलासिता के बीच हुआ था, जो उनकी युवावस्था तक अपनी चरम-सीमा तक पहुंच गई थी। अपने धनवान पिता और स्नेहातुर मां ही नहीं बल्कि ममता से भरी अपनी दादी के लाड़-प्यार के साथ वे अपनी युवावस्था के आरंभिक कुछ वर्षों तक पूरे ऐश्वर्य के बीच पले-बढ़े। लेकिन यह सिलसिला आगे चल नहीं पाया क्योंकि संकट बहुत जल्द और अचानक आ खड़ा हुआ। तब उनकी उम्र केवल अठारह साल थी। उनकी दादी तब मृत्यु शैय्या पर थीं और उन्हें गंगा के किनारे एक खपरैल की कुटिया में ले जाया जाना था क्योंकि धर्मनिष्ठ हिंदू इस पवित्र नदी के तीर पर अपनी अंतिम श्वास छोड़ना चाहते हैं। लगातार तीन रातों तक दादी मृत्यु की प्रतीक्षा करती रहीं और पूरे समय देवेन्द्रनाथ उनके पायताने खड़े रहे। अवश्यंभावी मृत्यु की उपस्थिति की अंधकारपूर्ण और अलौकिक घड़ियों में एकांत और खामोश। उनकी मृत्यु की पूर्व रात्रि को, जब वह नदी किनारे अकेले बैठे थे, अचानक किसी तीव्र आध्यात्मिक आनंद से वे स्तब्ध रह गए और अपनी सामान्य चेतना खो बैठे।

और जब वे उससे बरी हुए तो उन्हें अनुभव हुआ, "मैं ठीक पहले जैसा आदमी नहीं रहा। संपत्ति के प्रति मेरा लगाव उदासीन हो गया। वह फटी-पुरानी बांस की चटाई जिस पर मैं बैठा था—मुझे अपने लिए उपयुक्त जान पड़ी। कालीन और कीमती दिखावे मुझे घृणास्पद प्रतीत होने लगे और मेरा मानस उस आनंद से परिपूर्ण हो उठा, जिसका अनुभव मैंने पहले कभी नहीं किया था।"

काफी वर्षों के बाद लिखी अपनी जीवनी में उन्होंने अपनी आध्यात्मिक भूख और सत्य के संधान तथा अपनी आस्था के उत्थान और उत्कर्ष के बारे में बड़े विस्तार से लिखा है। यह एक बड़ा ही महत्वपूर्ण दस्तावेज है जिसे एवेलिन अंडरहिल ने "आत्मा के उन कतिपय प्रामाणिक इतिहासों में से एक बताया है, जो संख्या में बहुत कम हैं।" घर वापस लौटने पर देवेन्द्रनाथ ने अपनी व्यक्तिगत स्वामित्व की बहुत-सी चीजें अपने मित्रों और दूसरे लोगों के बीच बांट दीं। लेकिन भौतिक उत्पादनों के अधिकार-बोध से परे होकर भी उन्होंने न तो कोई आनंद पाया, न किसी ज्ञान की प्राप्ति ही की। उन्होंने अपने धर्म के पवित्र ग्रंथों के साथ साथ पाश्चात्य दर्शन की किताबें भी पढ़ीं। लेकिन उन्हें आश्वस्ति नहीं मिली। वे लिखते हैं, "मेरे हृदय में दारुण पीड़ा थी। मेरे चारों ओर गहन अंधेरा था। संसार के प्रति मेरी ललक मिट गई थी लेकिन परमात्मा का बोध निकटतर नहीं हुआ था। चित्त इहलौकिक (पार्थिव) और स्वर्गिक पारलौकिक उल्लास के द्वंद्व का शिकार था। मेरा जीवन उदासी से भरा था और सारी दुनिया कब्रगाह की तरह जान पड़ती थी। ऐसी मानसिक स्थिति में, "अचानक एक दिन मैंने देखा कि मेरे सामने ही किसी संस्कृत ग्रंथ का पन्ना फड़फड़ा रहा है। मैंने यूं ही जिज्ञासावश उसे ऊपर उठा लिया लेकिन उसमें जो कुछ भी लिखा हुआ था—उसका कुछ भी मेरे पल्ले नहीं पड़ा।" इसे उन्होंने एक प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान के पास भेजा। उन्होंने इस सामग्री के पहले पाठ-अंश को 'इशोपनिषद' प्रथम श्लोक के रूप में पहचान लिया और उसके अर्थ की व्याख्या की, "जो कुछ भी इस घूमती दुनिया में चलायमान है, वह परमात्मा द्वारा आवेष्टित है। अतः आत्मत्याग में ही अपने आनंद को प्राप्त करो, तथा पराए धन के प्रति कोई आसक्ति न रखो।"

यह घटना उस युवा उपासक के लिए जो अंधेरे में भटक रहा था, एक रहस्योद्घाटन जैसी थी। "परमात्मा में मेरी आस्था गहरी हो चली, सांसारिक खुशियों के बदले मैं दैवीय आनंद का आस्वाद लेने लगा।... जब मैंने उपनिषदों का गहराई से अध्ययन किया , मेरी मनीषा दिन-प्रतिदिन सत्य के प्रतिदान से आलोकित होती चली गई और सत्यधर्म के प्रचार-प्रसार के प्रति मेरे मन में तीव्र लालसा लगी।" और इस तरह 1839 के पहले दिन, जिस दिन बंगाल के हिंदू, मां दुर्गा का वार्षिक उत्सव मनाते हैं, देवेन्द्रनाथ ने अपने मित्रों और सहयोगियों को बुलाया और उनके साथ एक विशुद्ध ईश्वरवादी (आस्तिकवादी) संघ की स्थापना की, जो वैश्विक और अमूर्त देवत्व (ईश्वरत्व) की उपासना के प्रति समर्पित

था, जिसका समस्त जीवों और प्राणियों से लगाव था, जो उपनिषदों की शिक्षा से संबद्ध था। यह विश्वास, जो एक साथ नवीन और प्राचीन दोनों ही था, वह हिंदुओं में प्रचलित उन रूढ़ियों और अंधविश्वासों को चुनौती देनेवाला था जो किसी देव या देवी की मूर्ति को केंद्र में रखकर किए जाते थे। यह सच था कि देवेन्द्रनाथ एक नए विश्वास का सूत्रपात कर रहे थे, स्वयं उनके पैतृक भवन में झाल-मंजीरे और घंटा-घड़ियाल के साथ बड़े ताम-झाम से देवी दुर्गा का पूजा पाठ संपन्न होता था और इसे रोकने में उनका कोई जोर नहीं चलता था।

राजा राममोहन राय ने सन 1825 में ब्रह्म सभा की स्थापना द्वारा एक ऐसी मिलन स्थली बनाई थी, जिसमें किसी जात-पात और वर्ण-विशेष के सभी लोग आपस में मिल-जुलकर बिना किसी विग्रह या प्रतीक के और बिना कोई सांप्रदायिक कर्मकांड के एक साथ परमात्मा की उपासना कर सकते थे, लेकिन यह आंदोलन तब तक मुरझाया ही रहा जब तक कि इस युवा रहस्यवादी, जिसमें कि एक धर्म सुधारक की वृत्तियां मौजूद थीं, ने उनकी नवजात सभा को 1843 में प्राचीन संस्था के साथ संयुक्त कर इसे ब्रह्म नाम नहीं दे डाला और उस मिलन स्थली को एक आंदोलन के रूप में और कुल मिलाकर कमोबेश बुद्धिजीवियों की एक छोटी-सी मंडली को सुदृढ़ आस्था के जीवंत केंद्र में परिवर्तित न कर दिया।

जहां एक ओर परमात्मा प्रेम में डूबे देवेन्द्रनाथ एक नए धर्म संस्थान की नींव रख रहे थे, वहीं दूसरी ओर पिता द्वारकानाथ अपने देशवासियों को अपनी तड़क-भड़क से चकाचौंध कर रहे थे। वे अपने बेटे से इस बात की उम्मीद करते थे कि वह भी उनके ऐश्वर्य में हिस्सा बंटाता और पारिवारिक परंपरा के अनुसार संपत्ति बटोरने और खर्च करने के काम को आगे बढ़ाता। लेकिन पुत्र तो कहीं और एक दूसरे ही मिशन में पूरी तरह खोया हुआ था। अतः पिता का हताश और क्षुब्ध होना स्वाभाविक ही था। उन्होंने एक बार कहा था, "कारोबार पर ध्यान देने के लिए उसके पास दिमाग ही कहां है? और अब तो उसने इस तरफ से आंखें मूंद ली हैं और दिन दिन भर बस ब्रह्म और ब्रह्म ही की रट लगाए रहता है।"

हालांकि उन दोनों के बीच किसी तरह का मन-मुटाव नहीं था। इसकी वजह यह थी कि पुत्र पिता के बैंक में अपना काम संभालता रहा, भले ही उसका अधिकाधिक समय, स्रोत और उत्साह उस अपने जीवन के उद्देश्य को समर्पित था। पिता ने एक विवेकपूर्ण सावधानी पहले ही बरती थी। इस बात से बेखबर कि उनकी मृत्यु के बाद उनका तेजी से फैला लंबा-चौड़ा और भरा-पूरा कारोबार किन संकटों से गुजरता हुआ पुत्र को कर्ज के चंगुल में ले ले, उन्होंने अपनी कुछ स्थावर संपत्ति का एक न्यास बना दिया ताकि कारोबार में होने वाली किसी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति में उनके पुत्रों को लाभग्राही के रूप में एक सुनिश्चित

रकम आय के तौर पर हमेशा मिलती रहे। एक श्रेष्ठ जुआरी की तरह वह यह भी जानते थे कि नियति एक अविश्वसनीय प्रेयसी है।

और शायद यही होना बदा था। द्वारकानाथ की लंदन में मृत्यु के बाद ही इस बात का पता चला कि फर्म की देनदारी उस की संपत्ति से बहुत ज्यादा थी। बैंक पर भुगतान के लिए भारी दबाव पड़ा और 'कार, टैगोर एंड कंपनी' के प्रसिद्ध व्यापारिक घराने को अपना दरवाजा बंद कर देना पड़ा। इस संकट के दौर में पुत्र ने दिखा दिया कि वह किस धातु का बना है। उसने सारे लेनदारों को एक साथ बुलाया और सारे बही खातों को उनके सामने खोलकर रख दिया। इस घोषणा के साथ कि लेनदारों का न्यास की संपत्ति पर कोई अधिकार नहीं है तो भी स्वयं वह और उनके भाई स्वेच्छा से न्यास से प्राप्त होने वाले मुनाफे पर अपने अपने दावों को छोड़ने के लिए तैयार हो गए जब तक कि लेनदारों की एक एक पाई तक चुका न दी जाय। इस प्रकार अपने और अपने परिवार को घोर अभाव में झोंककर भी उन्हें एक प्रसन्नता का अनुभव हुआ, जो आत्मत्याग से ही संभव होता है। "मैं जो कुछ चाहता था, वह खुद मेरे सामने था। मैं इस दुनिया को छोड़ देना चाहता था, जबकि दुनिया ने खुद मुझे अपनी तरफ से छोड़ दिया। ओह, यह कैसा अनूठा संयोग था!"

लेकिन , स्थिति जो भी हो, वह अभावग्रस्त नहीं रहे। लेनदार उनकी सत्यनिष्ठा से प्रभावित थे और उन्होंने उनको तथा उनके भाइयों को इस बात की अनुमति दे दी कि वे समुचित मासिक भत्ता प्राप्त करते रहें। और कुछ दिनों के बाद सारी संपत्ति का प्रबंध देवेन्द्रनाथ के हाथों में सौंप दिया गया। हालांकि कई वर्षों तक विवेक सम्मत प्रबंध-कार्य और कम खर्चीले रहन सहन के चलते ही वे तमाम भुगतान कर पाए और चक्रवृद्धि ब्याज की राशि चुका पाए। वे केवल सूद समेत सारी रकम का भुगतान कर पाने में ही सफल नहीं हुए बल्कि उन धर्मार्थ कार्यों और अनुदानों के लिए भी काफी राशि जुटा पाए, जिन्हें अपनी लंदन-यात्रा के पूर्व बड़ी जल्दीबाजी में उदारता के साथ देने का वादा प्रिंस द्वारकानाथ ने किया था।

महर्षि ने सारे भारत का उन दिनों दूर दूर तक भ्रमण किया था, जबकि बड़ी प्रतिकूल स्थितियों में यात्रा करनी पड़ती थी और यह सचमुच बड़े जोखिम का काम था। सामान्यतया वे प्रतिवर्ष अपने घर से दूर हिमालय स्थित पश्चिमी प्रदेशों की यात्रा किया करते थे। प्राचीन ऋषि मुनियों की तरह उन्हें भी उत्तुंग और हिममंडित पर्वत शिखरों से बहुत लगाव था। वे व्यक्ति और प्रकृति के विलक्षण परिदर्शक थे और उनकी जीवनी प्रकृति के बहुविध विवरणों, व्यक्ति तथा घटनाओं के सूक्ष्म निरीक्षण से भरी पड़ी थी।

वर्ष 1856 में ऐसे ही एक भ्रमण के पूर्व, कुछ समय के लिए वे निरंतर जीवन और जगत की नश्वरता और अपनी अस्वस्थता से खिन्न हो चले थे और अपने प्रिय हिमालय की तरफ जाकर अपने शेष दिन बिताना चाहते थे। उन्होंने लगभग यह तय कर लिया

था कि वे वापस घर-परिवार में नहीं लौटेंगे और जीवन के अंतिम कुछ वर्ष शांत चित्त होकर ध्यान-धारणा में लगाएंगे। यहां इस बात का उल्लेख करना जरूरी है कि वे अपने निश्चय से कैसे डिग गए। यह सितंबर 1858 के एक दिन की बात है, जब वे पर्वत पथ पर सैर कर रहे थे और जैसी कि उनकी आदत थी, वे एक झरने का मनोहर दृश्य देखकर रुके और उसे निहारने लगे। झरना स्वच्छ, निर्मल, शीतल और सुंदर था; लेकिन जैसे ही घाटी से उतरकर वह समतल की ओर बढ़ेगा– वह पंकिल, गंदला और दूषित हो जाएगा। फिर भी कांदो-कीचड़ से लथपथ और अपने गौरव से च्युत हो जाने के बावजूद यह जल जमीन को उपजाऊ बनाएगा और मानवता की सहायता करेगा। अचानक उन्हें अपनी अंतरात्मा की आवाज सुनाई पड़ी, "अपने गौरव को छोड़ दो और इस स्रोतस्विनी की तरह बहते चलो। वह सत्य, जिसे तुमने अर्जित किया है, और यहां समर्पण और विश्वास की जो सीख तुम्हें मिली है–उसके बारे में सारी दुनिया को जाकर बताओ।"

उनकी कठोर प्रवृत्ति और जीवन-दर्शन में पलायनवाद का कोई स्थान न था। उन्होंने इस आदेश का पालन किया और कलकत्ता की अपनी दायित्व भरी दुनिया में लौट आए। हालांकि हिमालय की ओर उनकी यात्राएं जारी रहीं लेकिन उन्होंने पलायन के बारे में कभी नहीं सोचा। वे परिपक्व आयु तक जीवित रहे। उन्होंने उन्नीसवीं सदी के सूर्यास्त और बीसवीं सदी के नए सूर्योदय को देखा था और साथ ही यह देखने को भी जीवित रहे थे कि जिस धार्मिक और सामाजिक आंदोलन की उन्होंने शुरुआत की थी वह इतनी तेजी से आगे बढ़ चला कि उसने उन्हें ही पीछे छोड़ दिया– नवीन और प्राचीन के बीच की सीमा पर खड़े एक निस्संग पर्वत शिखर की तरह।

2

विस्मयभरी आंखों वाला बालक

मैंने सुनी है जो आहट अपने बचपन के खेलों की
अखिल विश्व के समस्त संगीत में, उसका ही सुर बजता है।

यह सौभाग्य की बात थी कि महर्षि अपने उस उत्तुंग हिमालय वाले मचान से नीचे धरती पर उतर आए थे जहां वे कभी अपने जीवन के अंतिम वर्षों को ईश्वरीय साधना में बिताना चाहते थे। क्योंकि इस हिमालयी प्रस्थान-भावना के तीन वर्ष के अंदर ही 7 मई, 1861 को रवीन्द्रनाथ ठाकुर का जन्म हुआ। महर्षि ने लोगों को बहुत-सी भेंटें उपहारस्वरूप दी थीं लेकिन उनमें सबसे अनमोल भेंट उनकी यह चौदहवीं संतान थी।

वैसे इस बालक के पैदा होने की घटना कुछ अलग-सी जरूर कही जा सकती है। तब उनकी माता शारदा देवी अपने पति की तेरहवीं संतान को जन्म दे चुकी थीं, और दो वर्ष बाद ही उसे जन्म देने वाली थीं। हालांकि यह तेरहवीं संतान, जन्म के कुछ दिनों बाद चल बसी थी। ऐसे में, शायद ही किसी परिवार में चौदहवीं संतान का कोई विशेष स्वागत किया जाता होगा, जहां सभी बड़े भाई और बहनें और उनका परिवार एक साथ एक ही संयुक्त परिवार में रहते हों। जोड़ासांको की लंबी-चौड़ी और हलचलों से भरी हवेली वैसे ही नाती-पोतों और परपोतों से खचाखच भरी पड़ी थी और ऐसे में एक अतिरिक्त सदस्य के आगमन की घटना कोई विशेष महत्व नहीं रखती थी। इस बालक का नाम रवीन्द्रनाथ रखा गया और उसे पुकारने का छोटा-सा नाम था-- रवि। वह एक स्वस्थ और गोरा बालक था, भले ही वह अपने भाइयों और बहनों की तरह बहुत गोरा नहीं था, शायद इसीलिए उसकी बड़ी बहन सौदामिनी देवी अपने छोटे-से भाई को नहलाते हुए अक्सर कहा करती, मेरा रवि भले ही सांवला हो, बहुत गोरा न हो लेकिन वह अपने तेज से सब पर छा जाएगा।"

जब बालक रवि कुछ बड़ा हुआ तो वह घर के दूसरे हमउम्र भतीजों और भतीजियों द्वारा बहिष्कृत कर दिया गया और इस प्रकार नौकरों की देख-रेख में पला बढ़ा। मां की सेहत पंद्रहवीं संतान को जन्म देने के बाद एक तरह से खराब हो चली थी और उन्हें अपने

इस लंबे-चौड़े परिवार की तमाम चीजों को देखना भी था—जिसमें कई कई बेटियां, बहुएं, बेटे, दामाद और उन सबके बच्चे शामिल थे। किसी संयुक्त हिंदू परिवार की आम परेशानियों के साथ साथ ठाकुर परिवार ने कुछ दूसरी नई मुसीबतों को भी अपने गले मढ़ लिया था और उनमें से एक थी घर के दामादों को परिवार के आम सदस्यों की तरह स्वीकार कर लेना। शारदा देवी, सचमुच एक विशिष्ट स्वभाव की महिला थीं—जिन्होंने बड़ी कुशलता और धैर्य के साथ इतने बड़े घराने में यथोचित तालमेल बनाए रखा था। यह सचमुच बड़े दुख की बात है कि इस असाधारण महिला के बारे में हमें कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती, जिसने अपने को अंधेरे में रखकर दूसरों की महानता का पथ उजागर किया।

शारदा देवी के पति वास्तव में विशिष्ट व्यक्तित्व के धनी थे और निस्संदेह पत्नी को इस बात का गर्व भी था। लेकिन धार्मिक सुधारों के लिए समर्पित पति के पास इतना अवकाश न था कि वे पत्नी को अधिक समय दे पाते। चूंकि वह एक पुरातन पंथी हिंदू परिवार की बेटी थीं इसलिए उन्हें अपने मानस को इस बात के लिए सदैव तैयार रखना पड़ता होगा कि वे अपनी प्रतिभा को उत्साहपूर्वक तोड़ती रहें। उनकी विपुल संतानों में से सभी सुदृढ़, सुदर्शन और बुद्धिसंपन्न और तेजस्विता से परिपूर्ण थे और सबके-सब अपनी अपनी समस्याओं से जूझ रहे थे। उनके सबसे बड़े पुत्र थे द्विजेन्द्रनाथ जो विलक्षण बुद्धिसंपन्न थे— एक साथ कवि, संगीतकार, दार्शनिक और गणितज्ञ। उन्होंने जो कुछ भी किया उससे उनकी महान और मौलिक प्रतिभा का पता चलता है। उनकी मनीषा कल्पना—प्रवण, उर्वर और अन्वेषणपूर्ण थी। काव्य-संरचना में उनके प्रयोग बड़े ही विलक्षण और साहसिक थे, जिसने कि अपने सबसे छोटे भाई की प्रतिभा पर बड़ा गहरा प्रभाव डाला। असाधारण विचारक और दार्शनिक गद्य-लेखक के रूप में उनका कोई सानी नहीं था। उन्होंने बंग्ला भाषा में आशुलिपि का आविष्कार किया और कविता में इस पर एक नियमावली भी लिखी, जिसके बारे में एक विदग्ध समालोचक ने लिखा था, "यह केवल विलक्षण बुद्धि का स्मारक ही नहीं, छंदोबद्धता का चमत्कार भी है।"

शारदा देवी के पुत्र सत्येन्द्रनाथ ऐसे पहले भारतीय थे जिन्होंने भारतीय सेवा (आई. सी.एस.) के कठिन दुर्ग को भेदा था। लेकिन इसके साथ ही वे कहीं अधिक विशिष्टता संपन्न थे। वे संस्कृत के श्रेष्ठ विद्वान थे और बंग्ला तथा अंग्रेजी लेखन पर उनका असाधारण नियंत्रण था। उन्होंने बंग्ला में 'गीता' और 'मेघदूतम' का पद्यानुवाद प्रस्तुत किया। साथ ही बौद्ध धर्म पर एक ग्रंथ लिखा और अपने संस्मरणों पर भी लेखनी चलाई, जो कि विशेष रोचक और पठनीय बन पड़ी थीं। वे पहले ऐसे लेखक थे जिन्होंने मराठी की धार्मिक काव्य-रचनाओं से बंग्ली पाठकों का परिचय कराया था। उन्होंने महर्षि (देवेन्द्रनाथ) के आत्मजीवन को अंग्रेजी में अनूदित किया था जो बाद में मैकमिलन, लंदन से प्रकाशित हुआ। उनकी युवा पत्नी रूप और गुण में असामान्य ढंग से सुंदर थीं, लेकिन उस जमाने

की अधिकांश स्त्रियों की तरह निरक्षर और पर्दे में रहने वाली थीं। सत्येन्द्रनाथ को उन्हें न केवल बंग्ला और अंग्रेजी पढ़ाने में बल्कि उस युग के अनुरूप सभी क्षेत्रों में कुशल बनाने में सफलता प्राप्त हुई। ऐसा कहा जाता है कि सत्येन्द्रनाथ ने पहली बार जब उन्हें, बिना घूंघट के, खुली बग्घी में कलकत्ता की सड़कों पर सैर करने को निकाला तो सारा शहर हैरान रह गया। एक बड़े कलंक के तौर पर लोग इस घटना की काफी अरसे तक निंदा करते रहे। लेकिन सत्येन्द्रनाथ संयत बने रहे और बाद में उन्हें अपने साथ इंग्लैंड भी ले गए। उनके पुत्र सुरेन्द्र और पुत्री इन्दिरा बड़े ही सुंदर और प्रतिभावान थे, और रवीन्द्रनाथ के प्रिय संगी थे। जब रवीन्द्रनाथ अध्ययन के लिए पहली बार इंग्लैंड गए थे, इन्दिरा देवी बंग्ला साहित्य की वयोज्येष्ठ महिला के रूप में सम्मानित और अपने काका के संगीत की सर्वमान्य अधिकारिणी के रूप में बनी रहीं। उनका रूप-गुण संपन्न व्यक्तित्व जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में आजीवन प्रसन्न-मधुर बना रहा—जब तक कि उनकी मृत्यु 87 वर्ष की उम्र में अगस्त, 1960 में नहीं हो गई।

शारदा देवी के तीसरे पुत्र थे, हेमेन्द्रनाथ—जिनकी मृत्यु अपेक्षाकृत बहुत छोटी उम्र में हो गई— केवल चालीस वर्ष में, उन्हें प्रमुख रूप से उनके सबसे छोटे भाई रवीन्द्रनाथ ने अपनी आरंभिक शिक्षा के दिनों के बारे में लिखते हुए बड़े आदर के साथ याद किया है। हेमेन्द्रनाथ, जिन पर बालक रवि और उसके समवयसी साथियों की पढ़ाई-लिखाई का भार था, इस बात पर जोर देते रहे कि बच्चों को अंग्रेजी में नहीं बल्कि उनकी मातृभाषा में ही शिक्षा देनी चाहिए। वर्षों बाद, कवि ने इस लघु वरदान के बारे में लिखा था—"अध्ययन की प्रक्रिया कमोबेश भोजन करने की प्रक्रिया जैसी ही होनी चाहिए। पहले ही कौर में मिले जायके के साथ हमारा पेट अपने काम के प्रति चौकस हो उठता है, इससे पहले कि वह भोजन से भर जाए। इसलिए भोजन को पूरा पूरा पाचन रस प्राप्त होता है। लेकिन ऐसा होता नहीं, बल्कि जब एक बंगाली बालक को अंग्रेजी में पढ़ाया-लिखाया जाता है.... तो भले ही उसका गला रुंध जाए वह वर्तनी और व्याकरण को लेकर बड़बड़ाता रहता है, जबकि उसका पेट खाली पड़ा रहता है और जब वह स्वभाव की जरूरत को बुरी तरह महसूस करने लगता है, उसकी भूख मर चुकी होती है। ऐसी स्थिति में जबकि अंग्रेजी शिक्षा की चारों तरफ दुहाई दी जा रही थी, मेरे तीसरे भाई इस मामले में बड़े साहसी थे कि उन्होंने हमारी बंग्ला कक्षा को जारी रखा। उस स्वर्गीय आत्मा की स्मृति को मेरा सादर प्रणाम।"

शारदा देवी के पांचवें पुत्र ज्योतिरीन्द्रनाथ, जो वस्तुतया असामान्य प्रतिभा संपन्न गुणों के धनी थे और अपने युग के प्रवीण लोगों में से एक थे, वे अन्यतम भावप्रवण व्यक्ति थे और एक साथ संगीतज्ञ, स्वर-संयोजक, कवि और नाटककार थे। अपनी विपुल ओजस्विता और दृढ़ राष्ट्रीयता उन्हें कई साहसिक क्षेत्रों की तरफ ले गई जो कला और साहित्य की परिधि से परे थे। उन्होंने जहाज निर्माण और उद्योग के क्षेत्र में ब्रिटिश एकाधिकार को

तोड़ने की भरपूर कोशिश की और इस प्रक्रिया में उन्होंने अपने आप को लगभग तबाह कर लिया था। उनके छोटे और अपेक्षाकृत अधिक प्रसिद्ध भाई के बौद्धिक और काव्यात्मक विकास पर उनका जबरदस्त प्रभाव पड़ा था।

शारदा देवी की दूसरी संतानों में, सबसे छोटे को छोड़कर, उनकी दो पुत्रियों में से बड़ी थीं सौदामिनी, जो शिशु कवि की देखभाल करती थीं और जो बाद में वयोवृद्ध महर्षि की समर्पित सेविका और संरक्षिका थीं। पांचवीं पुत्री थीं सुवर्ण कुमारी देवी, जो बड़ी कुशल संगीतज्ञ और लेखिका थीं और जिन्हें बंगाल की प्रथम महिला उपन्यासकार होने का गौरव मिला है। सुवर्ण कुमारी की दो पुत्रियों ने भी उल्लेखनीय उपलब्धि प्राप्त की--हिरण्मयी देवी समाज-सेविका के रूप में और सरला ने लेखिका, गायिका और राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन में एक सक्रिय राजनैतिक सहभागी के तौर पर।

ऐसी प्रखर, झक्की और हठधर्मी संतानों को एक साथ और शांति से रख पाना कोई छोटी-मोटी बात नहीं थी। और ऐसे में भी शारदा देवी के पास अगर थोड़ा बहुत समय या रुझान अपने सबसे छोटे बेटे की देखभाल के लिए था तो इसमें हैरानी की कोई बात नहीं है। उन्हें अपने मातृत्व की भरपूर कीमत चुकानी पड़ी थी और उनके पास देने को शायद बहुत थोड़ा ही बचा था। मां के स्नेह की भूख, जो कि बालक रवि के बचपन में कभी मिट नहीं पाई, और जो स्त्रियों के प्रति अनुराग और स्नेह की आकांक्षा के रूप में बार बार प्रकट होती रही। इस तड़प की मर्मस्पर्शी गूंज उनकी उत्कृष्ट बाल-कविताओं में मिलती है जो उन्होंने प्रौढ़ावस्था में लिखीं। इनमें से कुछ बाद में 'द क्रेसेन्ट मून' (अंग्रेजी) में प्रकाशित हुईं।

और कई वर्षों के बाद जब, कवि अपने बचपन की स्मृतियों को याद करते हैं तो वहां आत्म-दया का कोई चिह्न नहीं है। बल्कि वे इस खुशकिस्मती के लिए अपने आपको धन्यवाद दे रहे होते हैं क्योंकि अभिभावकीय उत्कंठा के अभाव में वे खतरनाक किस्म की विलासिता और लाड़-दुलार से अलग रह सके। वे कहते हैं, "इस सारी प्रक्रिया को दोबारा देखने पर यही जान पड़ता है कि यह अभिभावकों के लिए सामाजिक आनंद की बात होती थी क्योंकि बच्चे तो कभी न थमने वाली शरारतें करते ही रहते हैं।" हालांकि किसी बच्चे को बहुत लाड़-प्यार नहीं किया जाता था लेकिन चूंकि इस घराने की अभिजात्य तौर तरीकों के लिए बड़ी प्रतिष्ठा थी तो भी घर के बच्चे कमोबेश सादगी में ही पले-बढ़े। "हमारे भोजन में स्वादिष्ट व्यंजनों की कोई जगह नहीं थी। हमारे पहनने-ओढ़ने वाले कपड़ों की सूची को आधुनिक लड़के तिरस्कार भरी दृष्टि से ही देखेंगे। ऐसे किसी भी मौके की आड़ में हम जूते या मोजे नहीं पहन सकते थे जब तक कि दसवीं कक्षा उत्तीर्ण न कर लें। सर्दी के दिनों में एक मोटा झोटा सूती कुरता ही बहुत होगा। हमें कभी ऐसा महसूस नहीं होता कि किसी नाते हम अभावग्रस्त हैं। हां केवल उस मौके पर हम शिकायत किया

करते थे जब बूढ़ा दर्जी नियामत हमारे कुरते में जेब लगाना भूल जाता क्योंकि अब तक ऐसा कोई बच्चा इस कदर गरीब पैदा नहीं हुआ था कि वह अपनी संपत्ति के नाम पर अपनी जेब में कुछ ठूंस न सके।"

रवीन्द्रनाथ का बचपन और लड़कपन घरेलू नौकरों के संरक्षण में ही बीता और जिसे उन्होंने 'सर्वोक्रेसी' कहकर याद किया है। यह 'सुदूर का प्यासा' ही बना रहा। बच्चे की सेवा टहल में लगे रहने की बोरियत से बचे रहने की कोशिश और आराम की घड़ी इतमीनान से बिताने के लिए इन नौकरों में से एक ने बड़ा ही आसान तरीका ढूंढ़ निकाला था। वह रवि को किसी सुविधाजनक जगह पर खड़ा कर उसके चारों ओर खड़िया का घेरा बनाकर बड़ी गंभीर मुद्रा में उसे चेतावनी देता कि अगर वह इस जादुई घेरे से बाहर निकलेगा तो भारी मुसीबत में पड़ जाएगा। उस बालक को रामायण की कहानी का हवाला देकर यह बताया जाता कि कैसे लक्ष्मण द्वारा खींची गई रेखा को पार करने की वजह से सीता को त्रासदायक स्थितियों का सामना करना पड़ा। इसलिए बालक उसी एक जगह पर खड़ा रहता और क्या मजाल कि वह उस घेरे से कदम बाहर निकाले। सौभाग्य से खड़िया का यह घेरा उस जगह पर खींचा गया होता जिसके पास ही खिड़की थी और उसके उस पार की बाहरी दुनिया दिखाई पड़ती जहां एक पोखर का पानी झिलमिलाता रहता। उसके एक तरफ विशाल बरगद का पेड़ था और दूसरी तरफ नारियल के पेड़ों का झुरमुट। खिड़की की झिलमिली से वह नीचे देखा करता। पोखर में नहाने वालों की तरह तरह की हरकतें निहारता रहता। उनमें से हर एक के अजीब हाव-भाव और उस विशाल बरगद की गोलाकार चबूतरे के साथ आंख मिचौनी खेलती छायाएं। कवि ने वर्षो बाद इस बचपन के साथी को इन पंक्तियों में याद किया था :

"तुम्हारी शाखाओं से झूलतीं तुम्हारी उलझी जटाएं
ओ प्राचीन वटवृक्ष
दिन रात इस तरह खड़े रहते थे तुम
जैसे कोई समाधिस्थ ऋषि
क्या तुम्हें उस बालक की याद है
जिसकी कल्पना तुम्हारी परछाई के साथ खेला करती थी।"...

यह बालक 'सर्वोक्रेसी' की सख्ती के प्रति समर्पित इसलिए नहीं कर दिया गया था कि वह अन्यथा आज्ञाकारी था बल्कि अपने परिवेश के प्रति इसकी असीम जिज्ञासा यहां तक कि छोटी-से-छोटी चीजों में भी उसकी गहरी रुचि ने उसे ऐसा बना दिया था। "अपने बचपन की तरफ पीछे मुड़कर देखने पर जो बात बहुधा मेरी स्मृति में उभरती है वह है प्रकृति, जो जीवन और संसार दोनों को भरती-पूरती है...। मानों यह प्रकृति ही थी जो

हाथ जोड़े हंसती हुई पूछ रही होती थी, क्या मैं अंदर प्रविष्ट हुई और मुझे ऐसा लगता था कि कुछ भी असंभव नहीं है।"

एक घेरे में बंद बचपन की पीड़ादायक अनुभूति ने उन पर बड़ी गहरी छाप छोड़ी और बाद के वर्षों में शिक्षा संबंधी उनका आदर्श भी इसी सांचे में ढला। बच्चे की जिज्ञासा और व्यक्ति तथा प्रकृति के उस व्यापक और रहस्यपूर्ण संसार की तलाश जो किसी घर और किसी विद्यालय की चारदीवारी से परे होती है, आत्मा अपरिसीम सत्ता की प्रतीकात्मक आकांक्षा में परिणत हो गई। अपने नाटक 'डाकघर' (अंग्रेजी में 'द पोस्ट आफिस' शीर्षक से प्रकाशित) में, जो 1911 में लिखा गया था, उन्होंने इस तलाश को अमल नाम के एक बालक के पात्र में नाट्य-रूप प्रदान किया। अमल एक कोमल और संवेदनशील चरित्र है। वह अपने अंधेरे कमरे में, अपने बिस्तर पर लेटा रहता है क्योंकि उसके जरूरत से ज्यादा चिंतातुर अभिभावक और नासमझ पारिवारिक डाक्टर को डर है कि अगर उसे बाहर की धूप-हवा लग गई तो उसे कोई गहरी बीमारी लग जाएगी। अपनी रोग शैय्या से ही अमल सड़क पर निकली जीवन की शोभायात्रा को निहारता है और इसमें भाग लेना चाहता है। गांव का डाकिया उससे मजाक मजाक में ही कहता है कि वह उसे राजा का पत्र लाकर देगा। अमल इसी आशा में दम तोड़ देता है। और जैसे ही उसकी आंखें मुंदने को होती हैं, हरकारा इस बात की घोषणा करता है कि राजा पधार रहे हैं। मृत्यु उसे मुक्ति प्रदान करती है और निर्दोष आस्था को उसका अंतिम उपहार प्राप्त होता है।

लेकिन बालक रवि अमल के मुकाबले कहीं अधिक मजबूत था और अभिभावक की उपेक्षा और नौकरों के आतंक के बावजूद वह जीवित रहा। वस्तुतया ये सारी बातें उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकीं। उसने पहला शिशु-गान आनंद भरी सिहरन के साथ रचना सीखा था और जैसे उसमें उसके अस्तित्व को जगा दिया। यह एक साधारण-सी तुकबंदी थी, "वृष्टि पड़े पाता नड़े" (हो रही वर्षा, हिल रहा पत्ता) लेकिन उस बालक के लिए कविता के जादू का यह पहला उन्मेष था-- उस शिखर कवि का पहला गान, जैसा कि उन्होंने बाद में बताया। "जब कभी भी उस दिन का आनंद मेरे पास लौटकर आता है, बल्कि आज भी, तो मैं इस बात का अनुभव करता हूं कि कविता के लिए छंद की क्या महत्ता है। इसके चलते शब्द एक जगह आकर रुक जाते हैं लेकिन वे समाप्त नहीं होते, उनका उद्गार खत्म हो जाता है लेकिन इसकी गूंज या ध्वनि रह जाती है, और कान तथा मस्तिष्क दोनों ही इसके साथ आगे बढ़ते चलते हैं, एक-दूसरे से छंद को टकराते जाने का खेल खेलते हुए। इस तरह यह वर्षा बार बार होती रही और पत्ते बार बार और निरंतर हिलते रहे, और मेरी चेतना में यह एक अविस्मरणीय दिन बन गया।"

बालक रवि की स्कूली पढ़ाई सामान्य अवस्था से कुछ पहले ही हो गई। प्रारंभिक पठन और लेखन के लिए घर पर ही एक शिक्षक रखा गया लेकिन इस व्यवस्था ने बीच

में ही दम तोड़ दिया। इस बालक ने जब यह देखा कि उसके बड़े भाई-बहन बग्घी पर बैठकर स्कूल जा रहे हैं तो वह भी यह सुविधा पाने के लिए मचल उठा और चीखने-चिल्लाने लगा। उत्तेजित शिक्षक ने उसके गाल पर एक जोरदार तमाचा जड़ा और कहा, "अभी तुम स्कूल जाने के लिए हंगामा मचा रहे हो, बाद में स्कूल छोड़ने के लिए तुम्हें आसमान सिर पर उठाना होगा।" बालक अपनी जिद पर अड़ा रहा लेकिन बाद में उसने पाया कि इससे बढ़कर सच्ची भविष्यवाणी आज तक किसी ने नहीं की थी।

जो भी हो, इस प्रकार उसका पहला विद्यालय था 'ओरियंटल सेमिनरी'। वहां उसने क्या कुछ सीखा यह तो उसे बहुत याद नहीं लेकिन बच्चों को कवायद कराते समय उन्हें सजा देने के एक-से-बढ़कर-एक उम्दा तरीकों का उसके कोमल तन-मन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। घर वापस आकर वह अपने दबे हुए रोष को प्रकट करता और अपने घर की लकड़ी की बनी रेलिंग को बेंत से पीटा करता था जैसे कि वह आततायी शिक्षक और गूंगे विद्यार्थी का खेल खेलता हो। बाद में इस घटना पर विचार करते हुए वह लिखते हैं, "मैं समझ पाया कि विषय को छोड़कर व्यवहार पर जोर देना कितना आसान है। बिना किसी प्रयास के ही मैंने शिक्षकों द्वारा प्रदर्शित तमाम बेसब्री, गुस्से, पक्षपात और अन्यायपूर्ण रवैए को अपने में रचा-बसा लिया और उनकी पढ़ाई का एक तरह से बहिष्कार कर दिया। मेरे लिए इतनी सांत्वना ही बहुत थी कि मेरे पास इतनी शक्ति नहीं थी कि मैं किसी सचेतन प्राणी पर बर्बरतापूर्ण कार्रवाई कर सकूं।"

इसके तत्काल बाद रवि जब सात वर्ष का था—उसे नार्मल स्कूल में दाखिल कराया गया। यह स्कूल ब्रिटिश शिक्षा-पद्धति के अनुरूप चलाया जाता था। इस स्कूल की स्मृतियों में दो-एक स्मृतियां ही बच पाई थीं—जिनमें से एक थी, वहां के शिक्षकों में से एक शिक्षक की गंदी जुबान और पाठ आरंभ होने के पूर्व अंग्रेजी में एक अनिवार्य सामूहिक गान। "यह कार्यक्रम स्पष्ट तौर पर दैनंदिन कार्य-कलापों में प्रसन्नता लाने के उद्देश्य से किया गया था।" बंगाली बच्चे न तो इस गीत के शब्दों को ही समझ पाते थे और न इसकी धुन से परिचित थे। इस गीत की एकमात्र पंक्ति की गूंज को रवीन्द्रनाथ अपने बाद के दिनों में इस तरह याद करते हैं: *"कल्लोकी पुल्लोकी... सिंगिल मेलनिंग मेलनिंग" (Kallokee Pullokee Singill Mellaling...Mellaning)* 'कल्लोकी' शब्द का मूल क्या रहा होगा—इसे वह अंत तक नहीं समझ पाए।

रवि ने अपनी पहली कविता आठ साल की उम्र में लिखी थी। उससे छह साल बड़े किशोर चचेरे भाई ने इस बात पर जोर डाला कि वह कविताएं ही लिखा करे क्योंकि ये आसानी से लिखी जा सकती हैं। इसमें सबसे पहले यह करना होता है कि चौदह अक्षरों वाले सांचे में शब्दों को ढालना पड़ता है जो कि बाद में सघन होकर कविता में बदल जाते हैं। और इस प्रकार इस बालक ने प्रचलित बंग्ला 'पयार' में अपनी पहली कविता को लेखनी

बद्ध किया। "चौदह शब्दों वाले छंद में यह कविता कमल तो तत्काल खिल गया यहां तक कि उसमें भ्रमरों के चरण-चिह्न भी दिखने लगे।" लेकिन इससे भी बालक को किसी तरह की खुशी नहीं मिली। कविता क्या मन बहलाने वाली इस कवायद के सिवाय भी कुछ होती है? जो भी हो यह अनुभव बड़ा ही सम्मोहक था। अब वह अपने नन्हें हाथों में एक नीली कापी थामे रहता जिसमें उसने अपनी कविताएं लिखनी शुरू कर दी थीं। "एक युवा हिरण जिस तरह यहां से वहां और न जाने कहां कहां कुलांचे भरता अपने नए नुकीले सींग टकराता फिरता है, कुछ वैसा ही अत्याचार मैंने खुद अपनी खिलती कविता-कली के साथ किया। उसके संगी-साथियों ने इसे शिशु सुलभ चमत्कार का प्रदर्शन कहा और जब उसने अपनी कविता का पाठ किया तो उसमें इस बात के लिए विलाप किया गया था कि कोई तैराक जब किसी कमल को तोड़ने के लिए आगे बढ़ता जाता है और अपने हाथ बढ़ाता है तो वह तिरता कमल भी लहरों में निरंतर आगे बढ़ता चला जाता है। और इस तरह वह उसकी पहुंच से हमेशा दूर ही रहता है। इसे सुनकर उम्र में बड़े साथियों ने कहा, "सचमुच, इस लड़के में लिखने की प्रतिभा है।"

हालांकि इस बच्चे को अपने पिता का साथ और मां की ममता भरी देख-रेख कुछ कम ही मिली, लेकिन उसकी पढ़ाई में किसी तरह की कोताही नहीं हुई। पूरे दिन की चर्चा पाठों से भरी रहती। उसे मुंह अंधेरे ही जगा दिया जाता और उसे कुश्ती के अभ्यास के लिए काने पहलवान से भिड़ना पड़ता। यह पेशेवर पहलवान बहुत ही मशहूर था। जैसे ही कुश्ती का मुकाबला खत्म होता और देह पर से धूल-माटी साफ की जाती वैसे ही मेडिकल कालेज में पढ़नेवाला एक छात्र आ खड़ा होता और "अस्थि-संस्थान" के बारे में पढ़ाने लगता। कमरे की दीवार पर पहले से ही एक नर कंकाल झूलता रहता था और बच्चों को विभिन्न हड्डियों के बारे में बताकर लैटिन में उनके जबड़ातोड़ नामों को एक सिरे से रटाया जाता था (इस कंकाल की एक धुंधली-सी स्मृति बाद में एक भूतिया कहानी में रूपांतरित हुई थी)। ठीक सात बजे गणित के शिक्षक आ धमकते और हाथों में पट्टी लिए इस बालक को अंकगणित, ज्यामिति और रेखागणित के सवालों से जूझना पड़ता। कभी कभी प्राकृतिक विज्ञान का भी पाठ तैयार कराया जाता, जिसमें छोटे-मोटे प्रयोग भी किए जाते। इसके बाद बंग्ला और संस्कृत के पाठों को पढ़ना पड़ता। साढ़े नौ बजे भात, दाल और झोलवाली मछली का थाल आ जाता। यह खाना बड़ी ऊब पैदा करने वाला था और इसमें एक खास तरह के फीकेपन से बच्चों को बड़ी चिढ़ होती। दस बजते बजते उसे स्कूल रफा दफा कर दिया जाता।

अपराह्न साढ़े चार बजे, स्कूल से वापस आकर वह पाता कि व्यायाम शिक्षक उसका इंतजार कर रहे हैं और उसे पूरा घंटा भर तक 'पैरेलल-बार' पर अभ्यास करने का फरमान जारी करने वाले हैं। इस काम के बाद वह जैसे ही विदा होते, ड्राइंग मास्टर आ जाते।

फिर शाम के अल्पाहार के बाद ही अंग्रेजी के मास्टर आ जाते और तेल से जलने वाले लैंप की रोशनी में जैसे ही पढ़ाई शुरू होती बालक ऊंघने लगता–फिर एक झटके के साथ आंखें मलकर अपना पाठ याद करने लगता। लेकिन थोड़ी देर बाद फिर ऊंघने लगता– वह जितना पाठ पढ़ रहा होता उससे कहीं ज्यादा छोड़ रहा होता। इस कठिन परीक्षा की घड़ी को रवि ने अपनी जीवन स्मृति में इस प्रकार याद किया है : "किताबें हमें यह बताती हैं कि आग का आविष्कार मनुष्य के सबसे बड़े आविष्कारों में से है। मैं इस बात पर कोई बहस खड़ी करने नहीं जा रहा। लेकिन मैं इस बात को भी बड़ी गहराई से महसूस करता हूं कि छोटी-मोटी चिड़ियां कितनी खुशकिस्मत हैं कि उनके माता-पिता शाम को कोई दीया बाती नहीं जलाते हैं। उन्हें अपना पाठ-वाठ केवल सवेरे याद करना पड़ता है और वे सब कितने उल्लास से इन्हें याद करते हैं।"

इस बालक के खाने-पीने का भार जिस नौकर पर था उसका नाम था ब्रजेश्वर। वह भोजन में से अपना हिस्सा बड़ी चतुराई से निकाल लिया करता था। वह हरेक व्यंजन के जैसे पीछे ही पड़ जाता और भूखे बालक से बड़ी रूखी आवाज में कहा करता "क्या और चाहिए तुम्हें?" उसकी बातों का लहजा ही कुछ ऐसा होता कि वह क्या जवाब चाहता है। और बालक अपने उत्तर में हमेशा की तरह सिर हिला दिया करता – "नहीं"। और यह प्रस्ताव फिर दोहराया नहीं जाता। यह संक्षिप्त राशन एक तरह से रवि के शारीरिक गठन के लिए उपयुक्त ही था भले ही इससे उसकी भूख अच्छी तरह शांत न होती हो। "चाहे जो भी हो मैं दूसरों से मजबूत था और कम-से-कम उन लड़कों से तो कमजोर नहीं ही था जो अनाप-शनाप खाते रहते थे। मेरी सेहत इतनी बुरी नहीं थी कि स्कूल न जाने की सबसे उपेक्षित घड़ी में भी मैं कभी बीमारी का झूठा या सच्चा बहाना बना सकता था या गलत सही तौर तरीके अपना सकता था। मैं अपने को पूरी तरह भिगो लिया करता, अपने जूते और जुराबें... सब कुछ, लेकिन मैं सर्दी का शिकार नहीं हुआ।... अगर माताएं यह चाहती हों कि उनके बेटे ऐसी ही अच्छी सेहत वाले हों और अपने स्कूल मास्टर से पिंड छुड़ाने में कभी कामयाब न हों तो मैं उनसे यही सिफारिश करूंगा कि उन्हें ब्रजेश्वर जैसे नौकर की तलाश करनी चाहिए। वह न केवल उनके भोजन पर होनेवाले खर्च बल्कि डाक्टरों के बिल भी काफी कम कर देगा।"

इस बीच वह नीली कापी कविताओं से भरती चली गई। यह नेकनामी नार्मल स्कूल के शिक्षक के कानों तक पहुंची और उन्होंने बालक रवि को अपने पास बुलाकर यह आदेश दिया कि वह कोई नीतिपरक आदर्श लेखनीबद्ध करे। बालक इसकी संरचना करने के बाद जब दूसरे दिन कविताएं लेकर उनके पास पहुंचा तो उसे यह बताया गया कि वह इन्हें पूरी कक्षा के सामने पढ़कर सुनाए। "इस नीतिपरक कविता के बारे में सबसे प्रशंसनीय बात यह थी कि यह जल्द गुम हो गई।" इसके रचनाकार ने याद करते हुए लिखा है,

"पूरी कक्षा पर इसका नैतिक प्रभाव नैतिकता से काफी दूर था। श्रोतागणों के मन में इससे ईर्ष्या और अविश्वास की भावना ही जगी। उन्होंने कहा कि यह चोरी का माल है।"

1872-73 के शरद-काल में, जब रवि की उम्र ग्यारह वर्ष नौ महीने की थी तब महर्षि ने स्वयं अपने दोनों छोटे पुत्रों, सोमेन्द्र और रवीन्द्र तथा पौत्र सत्य का यज्ञोपवीत संस्कार किया था। इन तीनों बालकों के सिर के बालों को मूंडा गया था और उनके कानों से सोने की बालियां झूल रही थीं। उन्हें हवेली की तीसरी मंजिल पर तीन दिनों तक चलने वाले उत्सव में जीवन और विश्व के रहस्यों पर विचार करने के लिए एक तरह से बंद कर रखा गया था। ये द्विज बालक एक-दूसरे के घुटे हुए सिर देखकर मुंह बनाया करते और खी खी करते, एक-दूसरे के कान की बालियां खींचा करते और अपनी शरारतों से नौकरों को डराया-धमकाया करते। लेकिन रवीन्द्र के मानस पर गायत्री मंत्र के जाप का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था। इस वैदिक ऋचा के भव्यतम छंदन्यास और लय-वितान ने अपने अनुरोध में उनकी लय संबंधी तैयारियां और रहस्यात्मक उदात्त-वृत्ति पर गहरी छाप छोड़ी। गायत्री उनकी जीवन संगिनी बनी रही और इसमें उन्हें चिंतनशील अंतर्दृष्टि और शक्ति का अजस्र स्रोत भी मिलता रहा। बहुत बाद में उन्होंने यज्ञोपवीत (जनेऊ) का बहिष्कार कर दिया था।

लेकिन यह घुटा सिर कुछ दिनों के लिए बड़ा भारी सिर दर्द बना रहा और यह इसलिए और भी परेशानी पैदा करता रहा क्योंकि इस समारोह के तत्काल बाद उसे एक अंग्रेजी स्कूल में भर्ती कराया गया, जिसका नाम था 'बंगाल एकेडेमी।' उस घुटे हुए सिर के कारण निश्चित तौर पर अवज्ञाकारी एंग्लो-इंडियन साथियों के उपहास का निशाना बनना था। कान की बालियों को किसी तरह उतारकर फेंका जा सकता था, लेकिन सिर के बालों को तो रातोंरात किसी आदेश के बल पर उगाया नहीं जा सकता था। रवि इस बात को लेकर चिंतित था और यह समझ नहीं पा रहा था कि वह क्या करे तभी विधाता उसकी रक्षा के लिए आ गए। उसके पिता ने यह पूछने के लिए उसे कहलवा भेजा कि अगर वह चाहे तो वे उसे अपने साथ हिमालय की यात्रा पर ले जाएंगे। रवि इस बात पर खुशी से झूम उठा था और शायद नाचने भी लगा होता अगर महर्षि की उपस्थिति ने उसे ऐसा करने से रोका नहीं होता अगले कुछ दिन बड़ी उत्तेजना में बीते। पहली बार उसके लिए आर्डर देकर गरम कपड़े का सूट सिलवाया गया और इसके साथ ही सुनहरी जरी मढ़ी मखमली टोपी। और इस तरह एक दिन, पूरी सजधज के साथ पुत्र ने अपने पिता का साथ दिया और अपने जीवन की पहली साहसिक यात्रा के लिए रवाना हो गया।

उनका पहला पड़ाव था, शांतिनिकेतन। अब सारी दुनिया में (विश्व भारती नाम से) सुविख्यात शिक्षा का पीठ उस समय की इस नाम से अनजानी-सी जगह। इस बारे में स्वयं उस बालक को यह पता न था कि यह जगह, जहां वह घूमने को आया है, उसके जीवन

से पूरी अंतरंगता के साथ जुड़ जाएगी और सारी दुनिया में उसके सर्वश्रेष्ठ सर्जनात्मक प्रयोग-स्थली के रूप में सुप्रसिद्ध हो जाएगी। इसका इतिहास रवीन्द्रनाथ के समानांतर ही एक-दूसरे से संबद्ध रहा है। रवि के जन्म के बाद ही महर्षि देवेन्द्रनाथ अपने एक मित्र, जिनकी जमींदारी कलकत्ता से करीब सौ मील (एक सौ साठ किलोमीटर) पश्चिम में थी, के यहां गए। बोलपुर नामक निकटतम स्टेशन पर पहुंचकर; जो आज भी पहले की तरह लगभग वैसा ही है, महर्षि एक पालकी पर बैठकर आगे रवाना हुए। जैसे ही शाम का सूरज ढलने को हुआ– उन्होंने अपने को एक खुली और फैली जगह पर पाया, जहां हरे-भरे पेड़ पश्चिमी क्षितिज तक खड़े थे और यहां से लेकर वहां ढलते सूरज तक जंगली खजूर की बारीक-सी कतार के सिवाए कुछ भी न था, जो इस दृश्य में कोई रुकावट खड़ी करे। महर्षि जैसे मोहित हो उठे और संध्या-वंदन के लिए धातिम वृक्ष के एक जोड़े के नीचे बैठ गए। जब वे अपनी उपासना के बाद उठे तो उन्होंने यह तय कर लिया कि यह स्थान वे अपने लिए रख छोड़ेंगे और इस जमीन को खरीदने में उन्होंने तनिक भी देर न की। बाद में उन्होंने यहां एक भवन बनवाया और आस पास बाग लगवाया। इस जगह का नाम रखा गया शांतिनिकेतन--यानी शांति का आवास या घर।

इसी जगह, पिता और पुत्र ने अपनी यात्रा के पहले कुछ दिन बिताए। यह बालक रवि के लिए मुक्ति का पहला अनुभव था जिसमें वह खुली प्रकृति के बीच कहीं भी बेरोक-टोक आ जा सकता था, जो उसे बहुत पसंद आया। उसने जी भरकर इस प्राकृतिक रंगोत्सव का आनंद लिया। लेकिन पिता ने पुत्र को पूरी तरह से अपने ही संसाधनों पर नहीं छोड़ दिया। वे उसे संस्कृत, बंग्ला और अंग्रेजी साहित्य के चुने हुए अंशों को पढ़कर सुनाते और सांध्य बेला में अपने बगल में बैठाकर अपने प्रिय स्रोतों का पाठ करते। रात्रि में जब भारतीय आकाश तारों की दीप्ति से झिलमिला उठता, वे बालक रवि को खगोल-विद्या या नक्षत्र-विज्ञान की सीख दिया करते। उसमें आत्मविश्वास पैदा करने और दायित्व का ज्ञान प्रदान करने के लिए, उन्होंने उसे रुपए-पैसे थमा दिए और उससे रोजाना खर्च होनेवाली रकम का हिसाब किताब रखने को भी कहा। साथ ही, अपनी बेशकीमती सोने की घड़ी में प्रतिदिन चाबी भरने का भी भार सौंप दिया। वैसे इस घड़ी में कुछ ऐसे उत्साह से चाबी भरी गई कि इसे ठीक करने के लिए कलकत्ता के घड़ीसाज के पास भेजना पड़ा। लेकिन महर्षि ने इसके लिए न तो बालक को कोई दोष दिया और न उसे झिड़का।

यही वह जगह थी जहां नारियल सुपारी के झुरमुट तले रवि ने अपनी पहली पद्य-नाटिका लिखी थी। इसकी ऐतिहासिक विषय-वस्तु अनन्य प्रेमी-वीर पृथ्वीराज से संबंधित थी, जो दिल्ली का अंतिम महान हिंदू राजा था। यह नाटिका कभी प्रकाशित नहीं हुई क्योंकि इसकी पांडुलिपि खो गई। इस बारे में बाद में विनोदी स्वर में इसके लेखक ने बताया–"अपने में सामरिक ओज कूट कूट कर भरे जाने के बावजूद यह रचना अपनी अकाल मृत्यु का

शिकार हो गई।"

पिता-पुत्र शांतिनिकेतन से अपनी हिमालय यात्रा का आरंभ करते हुए और रास्ते के कई स्थलों से गुजरते हुए सिखों के पवित्र नगर अमृतसर पहुंचे जहां उन्होंने लंबा पड़ाव डाला। महर्षि सिख आस्था के प्रशंसक थे और वहां वे प्रतिदिन स्वर्ण मंदिर के दर्शन करने जाते रहे। उनके साथ उनका पुत्र भी होता। वे अक्सर संगत में रागियों द्वारा गाई जानेवाली बानियों में भी भाग लेते थे। अन्य धर्मों और विश्वासों के प्रति श्रद्धा ने बालक की सहानुभूति को व्यापकता प्रदान की जो बाद में चलकर सुविस्तृत आयामों में प्रतिफलित हो सकी।

पिता और पुत्र जब हिमालय की घाटी में पहुंचे तब अप्रैल का महीना शुरू हो चुका था। यह समय मैदानों में गर्मी और पर्वतीय प्रदेशों में बसंत की शुरुआत का था। उनका गंतव्य स्थल था डलहौजी, जो समुद्रतल से सात हजार से भी अधिक ऊंचाई पर बसा था और जहां थोड़े-बहुत बंगले बने हुए थे। इसका पर्वतीय क्षेत्र ऊंचे और भव्य देवदार के पेड़ों से आच्छादित था और ऐसे बसंती फूलों से सुदूरव्यापी था, जिसे बालक ने इसके पहले कभी नहीं देखा था और जिनके नाम वह अंत तक नहीं जान पाया था। यहां से दीखनेवाले हिममंडित उच्च शिखर और नीचे, जैसे कि सड़क मुड़ जाती थी और फिर अचानक ऊपर चली जाती थी, उसने बहुत बड़ी बड़ी खाइयां देखीं –जो घने और विशालकाय वृक्षों से पटी थीं।

आखिरकार वे बकरोटा के अपने काटेज तक पहुंचे जो एक पर्वत शिखर पर स्थित था। अब यह बालक कहीं भी आने जाने को स्वतंत्र था और अपने चारों ओर फैले हिमालय की चारुता और भव्यता से अपनी आंखों को तृप्त कर सकता था। लोहे की कील वाली छड़ी हाथ में लेकर वह इच्छानुसार एक शिखर से दूसरे शिखर तक विचरता रहा। पिता ने उसकी चौकसी के लिए कोई पहरेदार नहीं रखा। "अपने जीवन के अंतिम क्षणों तक," जैसा कि उस कृतज्ञ पुत्र ने जांच-परख कर कहा था, "वे हमारी स्वतंत्रता की राह में कभी आड़े नहीं आए। कई कई मौकों पर मैंने अवश्य ही ऐसा कुछ कहा या किया जो उनके स्वभाव या निर्णय के विपरीत था और वे तत्काल कुछ कहकर मुझे रोक भी सकते थे लेकिन उन्होंने तब तक इंतजार करना उचित समझा जब तक कि ऐसा न करने की प्रेरणा खुद अपने अंदर से पैदा न हो। क्या सही है और उचित है इसके प्रति हमारी निष्क्रिय सहमति या स्वीकृति उन्हें आश्वस्त नहीं कर सकती थी। वे चाहते थे कि हम पूरी अंतरंगता से सत्य से प्रेम करें। उन्हें मालूम था कि बिना प्रेम मौन सम्मति भी खोखली है। वे उस सत्य को जानते थे, पथ से भटक जाने पर भी जिसे पाया जा सकता था, लेकिन बाहर से इसकी बलपूर्वक और अंधी स्वीकृति इस पथ पर अबोध बाधा खड़ी करती है।"

लेकिन यह सब केवल मन बहलाव और तमाशा नहीं था जैसा कि उनके पुत्र ने उनकी स्वाधीनता की धारणा के प्रति अपनी श्रद्धांजलि में कहा है। महर्षि एक कठोर अनुशासन

प्रिय और कार्यक्षम व्यक्ति थे। सूर्योदय के बहुत पूर्व, मुंह अंधेरे उठकर वे पुत्र को जगाते और उसके साथ संस्कृत शब्द-रूपों का अभ्यास करते। "अपने कंबल की लाड़ भरी गरमाहट से उस काटती सर्दी में उठ जाना कितना पीड़ादायक था। संस्कृत पाठ के बाद पिता और पुत्र सुबह सुबह दूध का गिलास लेते। इसके बाद महर्षि उपनिषदों से स्त्रोतों का पाठ करते और स्तब्ध बालक इस गुंजायमान लय को बड़े ध्यान से सुना करता। इस बीच पूर्वी शिखर से सूर्य उदित होता और दोनों सुबह की सैर को निकल पड़ते। वापस डेरे पर आकर पिता उसे घंटे भर का अंग्रेजी पाठ देते औद इसके बाद बर्फ जैसे ठंडे पानी में स्नान।" इतना ही नहीं, दोपहर और शाम को भी पढ़ाई का सिलसिला चलता रहता।

इस तरह पूरे चार महीने पिता के साथ रहते बीत गए। घर और विद्यालय की ऊबाऊ दिनचर्या से दूर। ये दिन रवि के बचपन के सबसे आनंददायक दिन ही नहीं बल्कि सबसे समृद्ध और उसकी प्रारंभिक शिक्षा के प्रेरणा के दिन थे। इसका तात्कालिक प्रभाव यह पड़ा कि वह जब कलकत्ता वापस आया तो वह बालक नहीं रह गया था।

3

उदीयमान कवि

मैं कस्तूरी मृग-सा रहा भटकता
अपनी ही सुरभि से पागल

अपने घर वापस आना कुछ वैसा ही था जैसे कोई नन्हा बहादुर साहसपूर्ण विजय के बाद लौटता है। हिमालय के पर्वतीय प्रदेश तब ऐसे नहीं थे जैसा कि आज के मोटरकारों और हवाई जहाजों ने उन्हें बना दिया या बदल दिया है। वे सुदूरव्यापी सपने जैसे थे– आख्यानों में वर्णित देवी-देवताओं के विचरण-स्थल और नायकों तथा ऋषियों द्वारा गम्य थे--जैसा कि किताबों में पढ़ने से जान पड़ता है। उस पौराणिक प्रदेश में और वह भी विस्मयकारी महर्षि के साथ सचमुच एक बहुत बड़ा सम्मान था जिसने कि सारे परिवार में उस बालक की हैसियत को अचानक काफी ऊंचा उठा दिया। नौकरों के शासन काल का अंत हुआ। अब घर के अंतर-प्रकोष्ठों में उसका स्वागत किया जाता जहां अभिमानिनी मां बड़ी प्रसन्नता के साथ अपनी सबसे छोटी संतान को उन दूसरी महिलाओं के सामने पेश करती जो उसके साहसिक कारनामों को सुनने को बेचैन थीं।

घर का यह भीतरी हिस्सा तब से और भी सम्मोहक हो गया था जब से एक नई वधू ने इस दालान में प्रवेश किया था। 'उसकी कमनीय सांवली कलाइयों में सोने के इकहरे कंगन' वाली यह रमणी रवि के बड़े भाई ज्योतिरीन्द्रनाथ की पत्नी थी। नाम था कादम्बरी। यह रवि की उम्र से बस कुछ ही बड़ी थी और जो रवि की संगिनी बनना चाहती थी। "मैं उसके इर्द-गिर्द घूमता रहता था--एक खास दूरी के साथ--और मैंने कभी उसके समीप जाने का साहस नहीं किया।" वह जो भले ही बाहर से आई थी, उसने अपनी तरफ बड़े अनूठे ढंग से आकर्षित किया और उसमें भी उसका संगी बन जाने की ललक जाग उठी। लेकिन जैसे ही वह कभी उसके नजदीक खिंचता चला आता, उसकी सबसे छोटी बहन उस पर झल्ला उठती, "तुम छोकरों को यह क्या सूझी है--चलो फूटो यहां से ....." यह अपमान उसकी निराशा को और भी मुंह चिढ़ाने जैसा था।

लेकिन अब तो सारी स्थितियां बदल गई थीं। वह अनचाहा घुसपैठिया अचानक एक

प्रिय अतिथि में बदल गया था। अब इनमें से हर कोई—उसकी यात्रा की रोचक कहानियां सुनना चाह रहा था और इस नन्हें प्रेमी वीर को इस बात में कोई झिझक नहीं होती थी कि जहां भी जरूरत हो अपनी तरफ से कुछ जोड़कर इसे और भी रंगीन बनाए। "मैं ऐसा नहीं कह सकता था कि इसमें मेरी भी बुद्धि चकरा जाती थी।" अब वह मां की खुली बैठकों का मुख्य आकर्षण हो गया था जो कि शाम के समय छतवाली बालकनी पर होती थीं। यहां वह अपनी कहानियां सुनाया करता, कविताएं पढ़ा करता और पिता से प्राप्त नक्षत्र-विद्या के बारे में थोड़ी बहुत जानकारियों के द्वारा श्रोताओं को हैरत में डाल देता। लेकिन उसके मुकुट में लगा सबसे बड़ा पंख था—मूल संस्कृत में लिखित बाल्मीकि रामायण का पाठ। महिलाओं को इस महाकाव्य के बंग्ला रूपांतर के बारे में ही पता था। मूल रामायण की सूचना उन सबके लिए एक रहस्य भरी सूचना थी जो केवल जानकारों को ही मालूम थी। गर्वीली मां उससे खुशामद किया करती, "बेटे रवि जरा हमें तो पढ़कर सुना दे।" लेकिन किसी खुशामद की जरूरत नहीं थी। संतान भी इन श्रोताओं में जिसमें परिवार की सबसे छोटी पुत्रवधू भी उपस्थित रहा करती, विस्मित कर उसकी वाहवाही लूटना चाहता था; जिसकी उसे सबसे अधिक ललक थी।

लेकिन अगर उसने यह सोच रखा हो कि उसकी इस नयी हैसियत से उसे स्कूल जाने से छुटकारा मिल जाएगा तो उसका ऐसा सोचना गलत था। उनसे बड़े भाई, जिन पर उनकी पढ़ाई की जिम्मेदारी थी, ने इस बात पर जोर दिया कि वह बंगाल एकेडेमी में दुबारा अध्ययन शुरू करे। साथ ही संस्कृत और बंग्ला पढ़ाने के लिए दो निजी शिक्षक नियुक्त किए गए। इन शिक्षकों ने जल्द ही अपनी औकात को अच्छी तरह समझ लिया कि घोड़े को पानी की धार तक ले जाना तो आसान था लेकिन उसे पानी पिलाना बहुत मुश्किल था। इस लिए व्याकरण की कठिन राह पर जबरदस्ती घसीटना छोड़कर उन्होंने उसे कालजयी ग्रंथों को पढ़ाना शुरू किया। संस्कृत शिक्षक ने उसे शकुंतला और अंग्रेजी शिक्षक ने (अंग्रेजी में) मैकबेथ पढ़ाना शुरू किया। बंग्ला शिक्षक ने शीघ्र ही इस कामचोर विद्यार्थी से निपटने का एक जोरदार तरीका ढूंढ़ निकाला। मैकबेथ के किसी दृश्य के कुछ अंश पढ़ने के बाद उसे एक कमरे में बंदकर ताला-चाबी लगा दिया करते और इस कैदी को तभी आजाद किया जाता जब तक वह पूर्व-पठित दृश्यों को बंग्ला में और वह भी पद्य में रूपांतरित न कर डालता। इस प्रकार पूरा-का-पूरा नाटक बंग्ला पद्य में रूपांतरित हो गया और जो कि अंग्रेजी के महान नाटककार के प्रति उदीयमान कवि की पहली भेंट थी। दुर्भाग्य से यह पांडुलिपि भी प्राप्त नहीं हो सकी; केवल इसके डायनों वाला दृश्य, जो लगभग सात साल बाद, 1880 में 'भारती' में प्रकाशित हुआ, उपलब्ध है। यह उस युवा बालक के बंग्ला भाषा और अनुप्रास पर तथा मुख्य रूप से लोक-मुहावरे पर उसकी विस्मयकारी पकड़ का अद्भुत निदर्शन है।

लेकिन बंगाल ऐकेडेमी और इसका ऐंग्लो-इंडियन परिवेश तथा यहां के छात्रों की गाली-गलौज भरी जुबान और गूंगे छात्रों पर पाठों की अंधाधुंध बौछार जैसी बातें उसके लिए लगातार असह्य हो चली थीं। शायद इन कक्षाओं की ऐसी ही उदास घड़ियों के दौरान उसकी पहली लंबी कविता लिखी गई थी, जिसका शीर्षक था 'अभिलाषा' (आकांक्षा) जो अगले ही वर्ष परिवार के साहित्य-पत्र 'तत्वबोधिनी पत्रिका' में बिना कवि के नाम के प्रकाशित हुई। इस कविता में दी गई पाद-टिप्पणी में केवल इतना ही लिखा गया था कि यह बारह साल के बालक की रचना है।

इसके बाद जल्द ही उसने अपना स्कूल एक बार फिर बदल लिया और सेंट जेवियर्स में दाखिला ले लिया। लेकिन नतीजा कोई खास नहीं रहा। क्योंकि यहां की पढ़ाई भी पिछले स्कूलों की तरह सुस्त और मंत्रवत थी बल्कि धार्मिक अनुष्ठानों के अनुपालन के चलते यहां का वातावरण कहीं ज्यादा उदासीन और औपचारिक था। अंततः 1875 में कुल चौदह साल की उम्र में, उसने पूरी तरह से स्कूल जाना छोड़ दिया। पारिवारिक दबाव चाहे जितना भी पड़ा हो लेकिन स्कूली चक्की का स्थायी पोषण बनाकर उसे भयभीत किया या बहलाया नहीं जा सका। इसे वह 'अस्पताल और जेल का घालमेल' कहा करता था। उसके अभिभावकों ने उसकी जीवन वृत्ति की सारी आशाएं छोड़ दीं। यहां तक कि उसे झिड़कना तक छोड़ दिया।

लेकिन इस स्कूल-भगोड़े ने अपने समय को बेकार में नहीं गंवाया। वह जन्मजात विद्या और कलाओं की देवी सरस्वती का साधक था। हालांकि वह किसी पुजारी द्वारा उसे वेदी पर अभिषिक्त करने के विरुद्ध था। उसने उसे अपने ही तरीके से प्रसन्न करने की ठान ली थी। घर का परिवेश ऐसे ज्ञान के संधान के झक्की तौर तरीकों के अनुकूल था। कवि और विद्वान, संगीतकार और दार्शनिक, कलाकार और समाजसुधारक, प्रतिभावान और सनकी —ये सबके सब उस परिवार में ही मौजूद थे और इनसे कहीं ज्यादा बाहर से आने वाले थे। यहां नाटक लिखे जाते थे और घर में ही अभिनीत किए जाते थे और यहां के परिवेश में संगीत गूंजा करता था। उस समय बंगाल पुनर्जागरण के प्रायोजन में लगा था और नित्य नई किताबें और साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में कविताएं, धारावाहिक उपन्यास और पाश्चात्य साहित्य के अनुवाद की मांग बेहद बढ़ गई थी, जो कि एक नई बात थी। युवा रवि के हाथों जो भी किताब लगती थी, वह उस पर भुक्खड़ की तरह टूट पड़ता था और अपने से बड़े लोगों की रचनाओं और संलापों पर मनोयोगपूर्वक विचार करता था।

बुद्धिजीवियों की नवचेतना और इसके अपरिहार्य अंग के रूप में राष्ट्रीयता के उमड़ते ज्वार को अभिव्यक्ति मिलने लगी थी, और उसने अपने को सांस्कृतिक-सह-राजनैतिक वार्षिकोत्सव के तौर पर आयोजित किया, जिसे हिंदू मेला के नाम से जाना जाता था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रवर्तक ने इसकी स्थापना के अठारह वर्ष पहले इसे सन 1867 में आरंभ

किया था। उस दौरान बंगाल के दूसरे प्रगतिशील आंदोलनों की तरह इसका प्रयोजन भी ठाकुर परिवार द्वारा ही हुआ था। फरवरी 1876 में किशोर रवि ने, जब उसकी उम्र चौदह साल की थी, इस उत्सव पर अपनी एक राष्ट्रीय कविता का पाठ किया। यह कविता 'अमृत बाजार पत्रिका' में प्रकाशित हुई, जो तब एक ऐंग्लो-बंगाली साप्ताहिक था। यह रवि की पहली सार्वजनिक उपस्थिति ही नहीं थी बल्कि यह पहला अवसर था जब कि उसका नाम कविता के साथ छपा था। इस सफलता से उत्साहित होकर उसने लोगों के सामने अपनी विजय को जिस दूसरी कविता के पाठ द्वारा दोहराया, उसका शीर्षक था 'प्रकृतिर खेद' (प्रकृति का अवसाद)।

इसी साल 8 मार्च को उसकी माता शारदा देवी का निधन हो गया। उस समय बालक की उम्र थी तेरह साल और दस महीने। हालांकि यह मृत्यु के साथ उसका पहला परिचय था और इस महत्वपूर्ण महिला के अवसान का गहरा दुख सारे परिवार ने अनुभव किया होगा लेकिन रवि के मानस पर इस अवसादपूर्ण आघात का कोई बहुत गहरा प्रभाव नहीं पड़ा। इसका कारण शायद यह था कि मां और पुत्र के बीच ममत्व का ऐसा कोई प्रगाढ़ बंधन नहीं था जिससे कि कोई रिक्तता का आभास हो। दूसरे, उसके बड़े भाई ज्योतिरीन्द्र और उनकी आकर्षक पत्नी कादम्बरी पहले ही जिसका उल्लेख–'नई भाभी' के रूप में किया गया है, ने अपना सारा स्नेह इस मातृहीन बालक पर उंडेल दिया और उस बालक को उनकी इस छोटी-मोटी गृहस्थी में पहली बार ऐसा लगा कि उसका भी कोई घर है।

रवि की खुशकिस्मती थी कि उसे अपनी किशोरावस्था के नाजुक दौर में एक ऐसा भाई मिला, जो उसका मित्र और मार्ग दर्शक था, जिसने उसकी अव्यवस्थित प्रतिभा को न केवल सींचा बल्कि उसे दिशा भी दी। साथ ही, भाभी के रूप में उसे एक ऐसी संगिनी और निर्देशिका मिली, जिसने न केवल उसकी मां का स्थान लिया बल्कि मां से भी बढ़कर उसके जंगली किशोर भटकाव को संयत कर उसे प्रोत्साहन देती रही। वैसे वह इतनी छोटी थी कि गुड़ियों का विवाह रचाए और ऐसे ही मौकों पर वह अपने किशोर देवर को दावत में हिस्सा लेने को आमंत्रित करती थी। वह खाना बहुत अच्छा बनाती थी और तरह तरह के पकवान बनाकर उसे खिलाया करती थी, जो कि ब्रजेश्वर की भोजन सूची में कभी भी नहीं थे।

दूसरे घरेलू कामों में भी वह उसकी दिलचस्पी बनाए रखती थी और उसकी मदद लेती रहती थी, कभी सुपारी काटने में तो कभी आम की कटी हुई फांकों को धूप में सुखाने में, ताकि उसका स्वादिष्ट अचार बनाया जा सके। वह उसे भरपूर स्नेह देती थी लेकिन उसकी चूक के लिए मौके-बेमौके जानबूझकर अनजाने में बुरी तरह झिड़क भी देती थी, ताकि यह होनहार बालक अपनी योग्यता के प्रति भरपूर सचेत रहे। अगर वह कभी उसे अपनी नई रचना पढ़कर सुनाता तो वह हौले-से मुस्कुरा देती और उस पर अपनी राय देती

कि दूसरे कवियों ने इससे कितनी बेहतर रचनाएं लिखी हैं। वह सिर्फ इस बात के लिए उसकी प्रशंसा करती कि वह बड़ी सफाई के साथ सुपारी काटता है और "इस बात को स्वीकार करने को कभी तैयार नहीं थी कि मुझमें दूसरे गुण भी हैं। इतना ही नहीं, वह मुझे यह कहकर भी नाराज कर देती कि भगवान ने मुझे कैसे बेतरतीब चेहरे-मोहरेवाला बनाया है।" जब कभी भी वह अपनी प्रस्तुति के बारे में अपनी तारीफ करने को होता वह एक संस्कृत मुहावरे का हवाला देते हुए उनसे कहती, "एक अयोग्य आकांक्षी काव्य प्रसिद्धि मिलने के बाद उपहास में ही विदा होता है।" इस तरह उसने जहां उसके मिथ्याभिमान के बढ़ने पर अंकुश लगाया, वहीं अध्यवसायपूर्वक उसके अंदर के सर्वश्रेष्ठ को प्रेरित किया और उस समय तो उसकी उत्कट आकांक्षा किसी तरह उसकी सराहना ही प्राप्त करना था।

वह स्वयं साहित्य और संगीत की सच्ची आराधिका थी और साथ ही बड़ी संवेदनशील भी। उसी ने उसमें कवि बिहारीलाल चक्रवर्ती के गीतों के प्रति रुझान पैदा किया। बिहारीलाल रवि के समकालीन थे, जिनकी सराहना करने की समझ धीरे धीरे उसमें भी पैदा हुई। रवि के साथ उसने भी उसके बड़े भाई द्विजेन्द्रनाथ की सद्यः प्रकाशित काव्य-रचना 'स्वप्न प्रयाण' की प्रशंसा में बढ़-चढ़कर भाग लिया था। यह रचना एक श्रेष्ठ रूपक-कृति थी और छंद प्रयोग की दृष्टि से भी अन्यतम थी। रवीन्द्रनाथ के शब्दों में, "इसकी रमणीयता मेरे अंतर के एक एक ताने बाने से जैसे गुंथी हुई थी। यही वह समय था जब बंकिमचन्द्र चटर्जी के उपन्यास साहित्यिक-पत्र 'बंगदर्शन' में धारावाहिक रूप में छप रहे थे और इन्होंने बंगालियों के हृदय में जैसे झंझावात पैदा कर दिया था। जब बंगदर्शन सामने आया तो उसने पास पड़ोस के हर बंगाली की दोपहर की नींद उड़ा दी। मेरा यह सौभाग्य था कि मुझे इसे किसी के हाथों से झपट लेने की जरूरत नहीं पड़ी क्योंकि मुझमें एक स्वीकार्य पाठक बनने की प्रतिभा मौजूद थी। मेरी भाभी खुद नहीं पढ़ती थी बल्कि मेरे जोर जोर से पढ़ने को सुनना कहीं ज्यादा पसंद करती थी। तब बिजली का पंखा नहीं था लेकिन चूंकि मैं पढ़ रहा होता था इसलिए उसके हाथों झले जाने वाले पंखे की हवा भी मैं खाया करता था।" इस प्रकार एक मातृहीन बालक और एक संतानहीन महिला के बीच एक प्रगाढ़ स्नेह बंधन और सौहार्द्र पैदा हुआ जिसने इस उच्छृंखल बालक को आश्वस्त और उदात्त किया और साथ ही उसकी किशोरावस्था की अंधी तलाश और सनकी प्रतिभा को सींचते हुए उसे फलप्रसू बनाया।

कादम्बरी ने उसे भावात्मक संरक्षण और स्नेहिल धूप-छांह प्रदान की, जिसकी कि उस उम्र में रवि को सबसे अधिक जरूरत थी। साथ ही, उसके पति ज्योतिरीन्द्रनाथ ने उसकी अस्पष्ट और अनगढ़ प्रतिभा को आरंभिक और आवश्यक अनुशासन और दिशा निर्देश दिया। ज्योतिरीन्द्रनाथ ने, जो कि स्वयं अपनी रचनात्मक ऊर्जा के शिखर पर थे– किशोर रवि को अपने संरक्षण में लेकर अपनी सर्जना विशिष्ट कार्यशाला का प्रशिक्षु (सहयोगी) बना लिया। वह पिआनो पर धुन छेड़ देते और रवि को गाने के लिए कह देते। वे

नई नई गीत-रचना करते और अपने छोटे भाई को उत्साहित करते कि वह इसे अच्छी तरह से निखार कर लयबद्ध करे। वह स्वलिखित नाटकों के पहले प्रारूप उसे पढ़ने देते और उनमें उसके सुझावों को ही नहीं बल्कि उसके गीतों को भी शामिल कर उसमें भरपूर आत्मविश्वास पैदा करने का प्रयास करते। वे इन नाटकों का मंचन करते और इनमें रवि को अभिनय करने को कहते। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता चाहे बौद्धिक विचार-विमर्श हो या साहित्यिक सर्जना—वे अपनी और अपने छोटे भाई रवि की उम्र के बीच के अंतर को कभी आड़े नहीं आने देते। इस स्वस्थ और प्रेरणास्पद संग ने रवि को इस योग्य बनाया कि वह उस संशय और संकोच को अपने मन से निकाल फेंके, जो कि उसके मन में बचपन से ही घेरा डाले बैठे हुए थे।

छोटे भाई ने इस बात को कृतज्ञतापूर्वक याद करते हुए लिखा है, "अगर मेरी जंजीरों को तब काटकर फेंका नहीं गया होता तो मैं जीवन भर पंगु ही बना रहता। जो ऊंचे पदों पर हैं वे स्वयं स्वतंत्रता की अवमानना से बाज नहीं आते और इस युक्तिपूर्ण संभावना से पूरी तरह सहमत होते हुए भी बिना इसके स्वतंत्रता कभी मुक्त नहीं हो पाएगी। हालांकि इसके गलत उपयोग से ही कहीं यह जाना जा सका है कि इसका सही उपयोग कैसे होगा। जहां तक मैं अपने बारे में ठीक ठीक कह सकता हूं, मेरे लिए मेरी आजादी से थोड़ी-बहुत शरारतें सामने आईं और उन्हीं से इन शरारतों को ठीक करने की राह भी निकली। मैं खुद को कभी भी इस योग्य नहीं बना पाया कि वे मुझे पूरी तरह शारीरिक या मानसिक रूप से अपने शिकंजे में ले सकें और निगल जाएं या मुझे इस तरह प्रचारित कर सकें। और मैंने जब अपने आप को पूरी तरह मुक्त कर लिया तो दुख के अलावा मुझे और कुछ नहीं मिला।"

यह प्रशिक्षु वृत्ति केवल साहित्यिक अभ्यासों तक ही सीमित नहीं थी। ज्योतिरीन्द्रनाथ अपने छोटे भाई को अपनी पैतृक जमींदारी की यात्रा पर बंगाल के उत्तर पूर्व-स्थित सियालदाह ले गए। उसे उन्होंने घुड़सवारी सिखाई और अपने साथ शेर के शिकार पर भी कई बार ले गए। "जंगल बहुत घना था और इसकी धूप छांह में शेर ने अपनी झलक दिखाने से इनकार कर दिया। एक मजबूत बांस पर पायदान बनाकर किसी तरह उबड़-खाबड़ किस्म की एक सीढ़ी बनाई गई और ज्योतिदा अपनी भरी हुई बंदूक के साथ उस पर चढ़े। जहां तक मेरी बात है : मैंने तो चप्पल तक नहीं पहनी थी। मेरे पास तो वह गरीब औजार तक नहीं था– जिससे कि शेर को पीटा जा सके या उसे नीचा दिखाया जा सके। भैया के साथ ही शिकार पर आए विश्वनाथ ने हमें पूरी तरह चौकस रहने का इशारा किया। काफी देर तक चश्मे के पीछे से झांकती आंखों को फोड़ने के बाद, आखिरकार, घनी झाड़ियों में उसके पांवों के निशान की झलक मिली। उसने गोली चला दी। खुशकिस्मती थी कि गोली पशुराज की रीढ़ के अंदर लगी और वह दोबारा उठ न पाया। वह बड़े भयानक ढंग

से गरजता रहा और अपनी पहुंच के अंदर के सारे झाड़-झंखाड़ों को नोचता-खसोटता रहा और पूंछ पटकता रहा। मैं समझ गया कि वह समाप्त हो गया, क्योंकि यह शेरों का स्वभाव नहीं है कि अपने मारे जाने की लंबी और धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करें। मुझे यह भी जान पड़ा कि कहीं किसी ने पिछली रात को इसके भोजन में थोड़ी-सी अफीम तो नहीं डाल दी? आखिर कोई बात तो होगी कि वह इतनी गहरी नींद में सोया पड़ा था।"

इस प्रकार स्नेह और प्रोत्साहन की ऊष्मा में रवि की काव्यात्मक समृद्धता लेखनी से फूट पड़ी। अब वह चौदह वर्ष का था और उसकी लंबी आख्यानपरक कविता जो सोलह सौ पंक्तियों और आठ सर्गों में विभक्त थी--एक साहित्य-पत्र 'ज्ञानांकुर' में प्रकाशित हुई। इस कविता का शीर्षक था 'बनफूल' और इसमें कमला नाम की एक लड़की थी-- जिसे उसके पिता ने हिमालय के एकांत आश्रम में पाल पोस कर बड़ा किया था। शकुंतला की भांति उसके संगी-साथी अरण्य के लता और जंगल के वासी थे और मिरांडा की तरह वहां ऐसा कोई मानव-प्राणी नजर नहीं आता था, जिससे वह अपने पिता को बचा पाती। पिता की मृत्यु हो जाती है और वह अनाथ हो जाती है, वहां कोई ढाढ़स बंधानेवाला तक नहीं है। तभी एक युवा यात्री वहां से गुजरता है और उसके माधुर्य से प्रभावित होकर और उसकी दुर्दशा पर तरस खाकर उसे अपने साथ घर लिवा लाता है। वह उससे विवाह भी करता है । लेकिन कमला लोगों के बीच रहने की अभ्यस्त नहीं। साथ ही, वह यह भी पाती है कि उसके लिए समाज की रूढ़ियों से ताल-मेल बैठा पाना बड़ा कठिन हो जाता है, और वह पर्वतों के बीच बसे अपने प्रिय अरण्य की चिंता में घुलती रहती है। लेकिन साथ ही वह अपने पति के मित्र नीरद के प्रति आकर्षित होती है, जो एक युवा कवि है और अपनी भोली और निर्दोष मासूमियत में उसके प्रति अपने प्रेम को स्वीकारती है। हालांकि नीरद भी दबे-छिपे उससे प्यार करता है लेकिन वह उसकी स्पष्ट स्वीकारोक्ति से आहत हो जाता है और गुस्से में उसे ठोकर लगाकर दूर चला जाता है। बाद में कमला का पति ही पत्नी को भ्रष्ट करने के संदेह में अपने मित्र की हत्या कर देता है। उसकी हत्या से कमला का दिल टूट जाता है और वह अपने पति को ही नहीं, उसके घर को भी छोड़ देती है और नीरद के शव की देखरेख करती है। बाद में, उसका दाह संस्कार कर वह प्रकृति में सांत्वना पाने के लिए अपने पर्वतीय आश्रम में लौट जाती है-- जो कि उसके प्रथम प्रेम की तरह है। लेकिन मानवीय प्रेम से परिचित होने के कारण वह निसर्ग के एकांत में भी शांति नहीं पाती और आखिरकार हिम शिखर से नीचे नदी में कूदकर अपनी जान दे देती है। नदी की लहरें जैसे मां की बांहें बनकर इस शिशु को वापिस अपने मित्रों के पास ले आती हैं। यहां की टहनियों से चुने गए बनफूल मुरझा गए हैं।

रवि की अभिरुचियों का संसार विस्तृत होता चला गया। उसने एक गुप्त सभा की सदस्यता ले ली थी, जिसका नाम था--संजीवनी सभा। इसके संस्थापक थे राजनारायण

बसु और रवि के बड़े भाई ज्योतिरीन्द्रनाथ। इसका लक्ष्य था भारत की राजनैतिक स्वतंत्रता और इसका प्रारूप मेजिनी के कार्बोनरी पर आधारित था। इसकी बैठकें कलकत्ता की नामालूम-सी गली में, एक टूटी-फूटी इमारत में हुआ करती थीं और इसकी सारी गतिविधियां रहस्य के पर्दे में ही संपन्न हुआ करती थीं। "इसका रहस्य ही इसकी एकमात्र विस्मयकारी प्रेरणा थी, क्योंकि विचार-विमर्श में और कार्यकलापों में ऐसा कुछ भी नया नहीं था जिससे कि सरकार को या लोगों को भयभीत होने की कभी-कोई जरूरत पड़े।" ज्योतिरीन्द्रनाथ अपनी धुन के पक्के स्वच्छंदवृत्ति वाले व्यक्ति थे और उनकी उर्वर कल्पना ने उन्हें ऐसे साहसपूर्ण कार्यों की तरफ आकर्षित किया था जो बड़े अविश्वसनीय और कभी कभी सपनों जैसे ही आकर्षक जान पड़ते थे। अपनी नियति के साथ उनकी भेंट पूर्व-निश्चित तो थी ही लेकिन उसने उनके छोटे भाई की बहुविध अभिरुचियों को उद्दीप्त करने में बड़ी सहायता की, और उनमें से सबसे महत्वपूर्ण था अपने देश की स्वतंत्रता के प्रति उसकी उत्कट प्रतिबद्धता।

वर्ष 1877 के पहले दिन, भारत के नए वायसराय लार्ड लिटन ने मुगल बादशाहों की शानो-शौकत की होड़ करते हुए दिल्ली में एक दरबार आयोजित किया - ताकि भारत साम्राज्ञी के रूप में महारानी विक्टोरिया को हाल ही में प्राप्त महिमा ऐश्वर्य से भारतीयों को चमत्कृत किया जा सके। ठीक उसी समय देश में भयंकर अकाल पड़ा और गांव-कस्बे में अनगिनत कंकाल बिखरे देखे जा सकते थे। इस वर्ष आयोजित हिन्दू मेले के अवसर पर जो व्यंग्य कविता रवि द्वारा लिखी गई थी उसकी विषय-वस्तु इसी क्रोधाभास से संबद्ध थी।

लगभग इसी समय ज्योतिरीन्द्रनाथ ने 'भारती' नाम का एक साहित्यिक पत्र आरंभ किया। इसके संपादक उनके सबसे बड़े भाई थे द्विजेन्द्रनाथ। अन्य बाकी कामों के साथ उन्होंने इसको भी अपना सहयोग दिया। इस पत्रिका ने बंग्ला साहित्य में नए प्रयोग को नई दीप्ति प्रदान की। युवा रवि के हाथ में अब एक पारिवारिक मंच था हालांकि उसे अब भी थोड़े-बहुत प्रोत्साहन की जरूरत थी। यह स्रोतस्विनी अब निर्बंध हो चली थी और इस भावोच्छल धार को जिसमें बुदबुदे और फेन भी सम्मिलित थे– वापस लौटाना बहुत मुश्किल था। रवि की पहली कहानी 'भिखारिणी' एक अधूरा उपन्यास 'करुणा', मुक्तछंद में लिखित एक ऐतिहासिक नाटक, 'रुद्रचन्द्र', मुक्त छंद में ही रचित एक लंबी आख्यान कविता 'कवि काहिनी', प्राचीन शैली में लिखे कुछ गीतों का संग्रह और ढेर सारी कविताएं, आलेख, पाश्चात्य साहित्य के स्वाध्याय से जुड़ी कुछ रचनाएं और अनुवाद उनकी लेखनी से प्रभावित हुए, जिन्हें वे तेजी से लिपिबद्ध करते चले गए। परिपक्व वय में संकलित रचनावली में से उन्होंने इन भावोद्गारों में से अधिकांश को बड़ी निर्ममता से अलग निकाल फेंका। उनका कहना था– "तब मेरे मस्तिष्क में कुछ नहीं था। अगर कुछ था तो गरम वाष्प था, और इसे पंगु

कल्पना, लक्ष्यहीन और निरर्थकता पूर्ण भंवर को भाप भरे बुदबुदों और झागों ने घेर रखा था। जब कोई रूपाकार ग्रहण नहीं कर रहा था दिग्भ्रमित गति थी, बस एक बगूला-सा था– जो ऊपर उठकर झागों में बिखर रहा था।''

उन्होंने यह अप्रिय आत्म-वीक्षा तब की थी, जब वे शब्द-न्यास और रूप पर अपना स्वामित्व प्राप्त कर चुके थे, और इसलिए अपने इस आरंभिक प्रयासों के प्रति जो उन्हें अनगढ़ उद्‌गार मात्र प्रतीत होते थे– झेंप जाते थे। लेकिन इनमें से ऐसी भी कई रचनाएं हैं जो अपनी आंतरिक गुणवत्ता से रिक्त नहीं–साथ ही बड़ी ही रोचक हैं जिनमें उनकी उस अस्पष्ट मानसिकता के स्पष्ट आरेख हैं, उनकी प्रतिभा के ही नहीं बल्कि बंगाल के उस साहित्यिक दौर के निदर्शन हैं–जब प्राचीन रूप और मूल्य ढह चुके थे या दम तोड़ रहे थे और इस नए सितारे के साथ नवीन को रूपाकार ग्रहण करना था। इस बाल-कवि को तमाम अस्त-व्यस्तता के बीच से अपनी राह ढूंढ़नी थी और अपना रूप गढ़ने के पहले ऐसी ही कई छायाओं का पीछा करना था। वस्तुतया 'कवि काहिनी' ऐसे ही एक कवि की आध्यात्मिक घबराहट और तलाश की गाथा है।

यह कविता एक कवि के बचपन की अत्युच्च आदर्शवादी छवि के साथ आरंभ होती है, जो प्रकृति की गोद में पलता-बढ़ता है, जो उसके लिए एक मां भी है और संगिनी भी जैसे जैसे वह बढ़ता है वह यह महसूस करता है कि प्रकृति कोई क्रीड़ांगन भर नहीं बल्कि इससे कहीं ज्यादा है। इसका अपना एक उद्देश्य है, अपने नियम हैं और जो अपने रहस्य केवल अपने योग्य पात्र को ही स्पष्ट करेगी, जो उसका निरंतर अध्ययन करेगा। और इस तरह प्रसन्नतापूर्वक दिन बीतने लगते हैं, जो कि प्रेम और प्रकृति और इसके रूपाभास में समान रूप से बंटे रहते हैं जब तक कि यह अबोध शैली अपने जीवन में निरंतर बढ़ती रिक्तता को महसूस नहीं करती और मानव-प्रेम और साथी की आवश्यकता का अनुभव करती है : ''मानुषेर मन चाय मानुषेरी मन,'' जिसका बड़ा ही प्यारा अर्थ है– ''मनुष्य का हृदय मनुष्य के प्रेम को ही प्राप्त करना चाहता है।'' वह बेचैन होकर जंगलों में भटकता फिरता है और वहीं उसे एक युवती मिलती है, जिसे वह प्यार कर बैठता है। उसका नाम है नलिनी– एक ऐसा नाम जो रवीन्द्रनाथ के लिए सदैव प्रिय बना रहा। कवि पहले तो बहुत खुश होता है लेकिन जल्द ही प्रेम के आमोद-प्रमोद और कोरी खुशी से विरक्त हो जाता है। एक तरह की बेचैनी उसे तंग करती रहती है, वह नलिनी को छोड़कर इस भीड़ भरी दुनिया में भटकता रहता है, किसलिए, यह उसे खुद नहीं मालूम। जब वह लौटता है, हालांकि अब भी वह निराश होता है तो यह पाता है कि नलिनी उसकी अनुपस्थिति में बुरी तरह छीज गई है और मृत्यु शय्या पर लेटी है। तब उसे पता चलता है कि उसने नलिनी को कभी प्यार करना नहीं छोड़ा और यही वह प्रेम था, जिसकी तलाश में वह इधर-उधर भटकता रहा था। जो भी हो, काफी देर हो चुकी होती है। नलिनी दम तोड़

चुकी होती है और कवि वैश्विक प्रेम को दर्शनमंडित करने के लिए रह जाता है।

यह दीर्घ आख्यानमूलक उद्‌गार, रवि के ऊपर अंग्रेजी के स्वच्छंदतावादी कवियों के अध्ययन के अनिवार्य प्रभाव को अंकित करते हैं। इस दौर में लिखित उनकी दूसरी रचना थी 'भानु सिंह ठाकुरेर पदावली' (भानुसिंह ठाकुर के पद) जो फुटकर पदों का संग्रह था और जिसके मूल में एक दूसरी प्रेरणा कार्य कर रही थी। रवीन्द्रनाथ के काव्य विकास पर जिन तीन साहित्यिक प्रभावों को लक्ष्य किया जा सकता है, वे हैं क्रमशः संस्कृत साहित्य, वैष्णव पदावली और पाश्चात्य साहित्य। जिस तरह भारत में तीन नदियों का संगम किसी क्षेत्र को पवित्र तीर्थ बना देता है, उसी तरह विपरीत दिशाओं से आनेवाली ये तीन धाराएं आकर एक-दूसरे से घुल-मिल कर एकाकार हो गई हैं और इस तरह रवीन्द्रनाथ की कविता का व्यक्तित्व बना है। 'भानुसिंह ठाकुरेर पदावली' को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इस किशोर कवि पर वैष्णव धार्मिक पदों का प्रभाव पड़ा है। तब रवि की उम्र बारह की या इसके पास रही होगी। बंग्ला में इन वैष्णव पदों का संकलन और प्रकाशन हुआ था और वे उनके हाथ लगे थे। वह इन पदों की गीतिपरक लयात्मकता, इनकी छंदपरक सुदृढ़-न्यास और प्रत्यक्ष बिंबयोजना से मुग्ध था। यह कहना कठिन है कि एक मनुष्य देवता' की उपासना पर आधारित प्रतीकवाद के प्रति इसके रुझान के विरोध के बावजूद, वह इसके सांप्रदायिक प्रदर्शन को कहां तक समझ पाया था—किसी मनुष्य देवता की उपासना पर आधारित प्रतीकवाद के विरोध के बीच पले-बढ़े होने के बावजूद, उसके मन में इसकी गहरी मानवीयता के प्रति सहज ही अनुभूत प्रशंसा का भाव था। उस कवि ने कवि की भावना को समझ लिया जबकि धर्मतत्त्वज्ञ आपस में भिड़ जाते हैं।

यह आकांक्षा सोलह साल की उम्र तक पनपती रही, जब तक कि कवि के मन में अपनी व्यर्थ तलाश और इन भावनाओं से जुड़े उपदानों को देखने और उन्हें अभिव्यक्त करने की लालसा, उसी सांचे में ढालने की इच्छा तीव्रतर नहीं हो उठी। एक दिन, वर्षा ऋतु में जब कि आकाश में काले काले घने बादल उमड़-घुमड़ रहे थे, वह अपने कमरे में पड़ा पड़ा हाथ में स्लेट लिए मध्ययुगीन कवियों की अलंकृत भाषा में उन गीतों में से पहले गीत की पंक्तियां लिख रहा था—

> "गहन कुसुम कुंज माझे, मृदुल मधुर वंशी बाजे,
> बिसरि त्रास लोक लाजे सजनि, आओ आओ लो।
>
> आओ आओ सजनिवृन्द, हेरब सखि श्री गोविंद,
> श्याम को पदारविन्द भानुसिंह बंदिछे।"

और उन्हीं कवियों की तरह उन्होंने भी गीत की अंतिम पंक्ति में रचनाकार के नाम की भणिता के तौर पर 'भानुसिंह' नाम लिखा जो कि रवीन्द्रनाथ अर्थात सूर्य का ही एक पर्याय

था और इस तरह ये गीत जब 'भारती' में प्रकाशित होने को भेजे गए तो रवि ने इनके साथ एक परिचयात्मक टिप्पणी जोड़ दी कि जब वह ब्रह्म समाज के अभिलेखागार की छानबीन कर रहे थे तो उन्हें पंद्रहवीं शताब्दी के एक कवि की यह पांडुलिपि हाथ लगी।

इस जुगत से कई पाठक हैरान रह गए और रवीन्द्रनाथ ने अपने स्मृति लेख में हमें यह बताया है कि उस समय जर्मनी में रह रहे डा. निशिकान्त चटर्जी नाम के एक बंगाली विद्वान को वह 'भारती' पत्रिका हाथ लगी थी—जिसमें कि वे पद प्रकाशित थे। इन्हें देखकर वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने जर्मन भाषा में लिखित अपनी पुस्तक 'भारत' की गीतिपरक कविताओं में पंद्रहवीं सदी के इस कवि भानुसिंह को बहुत ही विशिष्ट स्थान प्रदान किया था। इन आंरभिक कविताओं के साथ जुड़े इस निर्दोष साहित्यिक प्रपंच के अलावा एक महत्वपूर्ण बात यह है कि इस दौर की यही वे अकेली रचनाएं थीं– जिन्हें लेखक ने अपनी प्रौढ़ावस्था के वर्षो में अपनी रचनावली में संकलित होने की स्वीकृति प्रदान की थी।

बालक रवि बड़ी तेजी से बढ़ रहा था और वह इन वर्षों में कभी निष्क्रिय नहीं बैठा था—स्वयं महर्षि और घर के दूसरे बुजुर्ग उसके भविष्य को लेकर बड़े चिंतित थे। उन दिनों साहित्यिक आजीविका जैसी कोई चीज नहीं थी और यह सारे परिवार के लिए चिंता का स्वाभाविक कारण था कि इस अकाल परिपक्व बालक की प्रचंड प्रतिभा को कोई उपयोगी और सम्मानपूर्ण कार्य मिल सके। उसके बड़े भाई सत्येन्द्रनाथ ने महर्षि को यह सलाह दी कि वे रवीन्द्रनाथ को अपने साथ इंग्लैंड ले जाएं (वे स्वयं कुछ दिनों के बाद वहां छुट्टी पर जानेवाले थे, उनकी पत्नी और बच्चे उनसे पहले ही वहां जा चुके थे) और उसे किसी योग्य बनने का अवसर प्रदान करें। वह चाहते थे रवि उन जैसा कोई प्रशासनिक अधिकारी बने, और चाहे जैसे भी हो, 'द इन्नस आफ कोर्ट' का एक बैरिस्टर ही बन जाए जिन्हें उन दिनों भारत में बड़ी ऊंची नजर से देखा जाता था। पिता इस बात के लिए राजी हो गए और रवीन्द्रनाथ अपने भैया के साथ अहमदाबाद चले आए– जहां वे जिला जज थे। इसके पीछे मंशा यह थी कि वह इंग्लैंड में शिक्षित, अपने भाई के साथ रहेंगे, जो उन्हें अंग्रेजी भाषा और व्यवहार की आवश्यक प्रारंभिक शिक्षा देंगे और उसकी त्रुटिहीन प्रस्तुति के बारे में बताएंगे। इस तरह रवि का बंगाल के बाहर यह दूसरा प्रवास था। इस बार पश्चिम भारत में।

अहमदाबाद में, शाही बाग स्थित जज साहब की कोठी में, अपने भाई के साथ ठहरे। यह सत्रहवीं सदी का बना एक राजभवन था, जिसे मूल रूप से शहजादा खुर्रम (बाद में मुगल बादशाह शाहजहां के नाम से विख्यात और ताजमहल के निर्माता) द्वारा बनवाया गया था। इसकी खुली बारादरी से साबरमती नदी दिख पड़ती थी। सत्येन्द्रनाथ का अध्ययन कक्ष अच्छी अच्छी किताबों से भरा पड़ा था– इनमें अंग्रेजी और संस्कृत की किताबें थीं और यह अकेला बालक, एक भुक्खड़ की तरह उन किताबों पर टूट पड़ा। यहीं उसने अंग्रेजी

साहित्य और इसके माध्यम से यूरोपीय साहित्य का अध्ययन किया। इस दौर में 'भारती' में उसकी जो रचनाएं छपीं– वे उसके व्यापक अध्ययन की जबरदस्त गवाही देती हैं। इन कुछ रचनाओं के शीर्षक इस प्रकार थे– 'द सेक्सन्स एंड एंग्लो-सेक्सन लिटरेचर', 'द नॉर्मन्स एंड एंग्लो नॉर्मन लिटरेचर', 'पेट्रार्क एंड लौरा', 'दान्ते एंड हिज पॉयट्री', ' गोए थे', 'चेटर्टन' इत्यादि इत्यादि। उन्होंने इन यूरोपीय कवियों की रचनाओं का ढेर सारा अनुवाद किया और इन्हें अपने आलेखों में उदाहरण के तौर पर प्रस्तुत किया। अपने साहित्यिक अध्ययनों के अलावा उन्होंने कई विषयों पर हल्के-फुल्के, विनोदपूर्ण और उद्दीपक निबंध भी लिखे। उनकी प्रारंभिक गद्य रचनाएं, दुर्भाग्य से कवि के रूप में उनकी ख्याति के चलते भले ही गौण पड़ गई हैं, लेकिन इस बात को अच्छी तरह दर्शाती हैं कि इस विधा पर उनकी गहरी पकड़ तो थी ही, साथ ही अपने चारों तरफ की दुनिया के प्रति भी उस दौर की लिखी गई कोहरे से लिपटी काव्य रचनाओं की अपेक्षा कहीं ज्यादा चौकस थीं। यहां ऐसी कुछ पंक्तियां, जो उनके निबंधों से ली गई हैं, अनूदित हैं :

"ऐसे लोग सचमुच बहुत कम होते हैं जो बहुत अमीर होते हुए भी गरीब जैसे दिख सकें। जहां तक मेरी बात है, मैं इतना गरीब हूं कि मुलम्मा चढ़े बटनों पर इतरा सकता हूं। और मुझे इतना अमीर तो बनना ही है कि मैं किसी भी दिन इसके पीतल को जाहिर कर सकूं।"

"वे कहते हैं, प्रेम अंधा होता है, ऐसा कहने का मतलब यह तो नहीं कि ज्यादा से ज्यादा देखना अंधा होता है? क्योंकि प्रेम आंखों की धार को जहां तेज कर देता है वहां समझ को भी काफी बढ़ा देता है।"

"मित्रता और प्रेम में अंतर यह है कि पहले से जहां दो व्यक्तियों और दुनिया का बोध होता है वहां दूसरे से दो व्यक्तियों के ही संसार का बोध होता है। मित्रता में एक जमा एक तीन हो जाते हैं जबकि प्रेम में एक जमा एक, एक ही होता है।"

"वेदना आत्म सम्मोहन का ही दूसरा नाम है। यही कारण है कि सौंदर्यपूर्ण दृश्य हमें अपने से बाहर निकाल कर आनंद प्रदान करता है।"

"कुछ लोग कहते हैं कि स्त्री एक शून्य की तरह है, इसीलिए जब वह एक (1) की संख्या (जो कि पुरुष है) की दाईं ओर रखी जाती है तो उसे दस (10) के बराबर शक्ति प्रदान करती है, लेकिन.... उस गरीब की किस्मत को क्या कहा जाए जो उसे गलत दिशा में रख देता है और वह उसे टुकड़ों में (.01) तोड़कर रख देती है। यहां यह कहने की जरूरत नहीं है कि मैं उन लोगों से सहमत नहीं जो स्त्रियों को ख्वामख्वाह बदनाम करते हैं।"

"हमारे बूढ़े-बुजुर्गों का कहना था कि लज्जा (शालीनता) स्त्रियों का सर्वश्रेष्ठ आभूषण है। लेकिन स्त्रियों ने अपने आपको आभूषणों से इतना लाद लिया है कि खुद उनके लिए बहुत कम गुंजाइश रह जाती है।"

रवीन्द्रनाथ अहमदाबाद में केवल चार महीनों के लिए ही रहे लेकिन उनके मानसिक विकास में यह समय बड़ा ही उल्लेखनीय है। यही वह समय था जब कि उन्होंने अपने गीतों के लिए अपनी ही संगीत संरचना तैयार की। इस तरह की संरचना शैली एक साथ साहित्यिक और सांगीतिक रूप में ढल गई जिसमें कभी शब्द पहले आते थे और धुन उसके पीछे पीछे और कभी कभी धुन और शब्द दोनों के एक साथ आ जाने पर एक विशिष्ट प्रकार की रचनात्मक प्रसन्नता से वह भर उठता था और जो कि उनके जीवनपर्यंत बनी रही। कुल मिलाकर उन्होंने दो हजार गान लिखे-- शब्द और संगीत से परिपूर्ण-- जो बंगाल में किसी भी छोटे-बड़े अवसरों पर गाए जाते हैं और अपने लोकप्रिय अनुरोध के नाते इन गानों ने सबको पीछे छोड़ दिया है यहां तक कि उनकी कविताओं को भी।

अहमदाबाद ही वह जगह थी, जहां रवीन्द्र ने अपनी बेहद खूबसूरत कहानियों में से एक कहानी 'क्षुधित पाषाण' की कथावस्तु के बारे में सोचा था। इसे उन्होंने बाद में लिखा। एक ऐसे घर में रहते हुए जहां के एक एक पत्थर अरेबियन नाइट्स वाली रंगरेलियों और गुप्त प्रेम की खुशबू के मूक साक्षी थे, उनकी कल्पना यहां से वहां विचरण करने को निर्बंध थी और जो उन दिनों के ऐंद्रजालिक तस्वीरों का संकेत देती थी। "अहमदाबाद में मैंने पहली बार ऐसा अनुभव किया कि इतिहास ठहर गया है, और उसने अपने चेहरे को ऐश्वर्यपूर्ण अतीत की तरफ घुमा लिया है... आज का शाही बाग खामोश पड़ा है, एक भूली हुई कहानी की तरह। इसके सारे रंग फीके पड़ गए हैं और विविध स्वर-संगीत दम तोड़ चुके हैं। उन दिनों की सारी चमक-दमक नष्ट हो गई है और रातों की तमाम रंगीनियां अपनी रौनक खो चुकी हैं।"

अहमदाबाद में कुछ दिनों तक रुकने के बाद, उनके बड़े भाई ने यह महसूस किया कि रवि के लिए अच्छा होगा कि वह अपने को और भी बेहतर ढंग से तैयार कर सके। अगर वह इंग्लैंड जाकर किसी परिवार के साथ रह सके तो उसे बोलचाल की अंग्रेजी का अधिकाधिक अभ्यास हो जाएगा और भद्र महिलाओं के संपर्क में रहकर वह पश्चिमी तौर-तरीकों को बड़ी आसानी से सीख जाएगा। इसलिए उन्होंने रवि को अपने एक मराठी मित्र डा. अनन्तराम पांडुरंग तुरखुड के पास बंबई भेज दिया, जो एक प्रसिद्ध डाक्टर थे और अग्रचेता तथा प्रगतिशील विचारों वाले समाज-सुधारक थे। रवि को 'सुशिक्षित' करने का भार इस परिवार की बेहद खूबसूरत और युवा बेटी पर पड़ा, जो इंग्लैंड में रह चुकी थी और उन दिनों के रहन-सहन के स्तर से बहुत अधिक संभ्रात थी। अन्ना (पूरा नाम अन्नपूर्णा) रवि से थोड़ी ही बड़ी थी। शिक्षिका अपनी जिम्मेदारी पर खुश थी और ऐसी प्यारी शिक्षिका को पाकर छात्र की खुशी का ठिकाना न था। हमें इस बात का पता नहीं कि इन दो महीनों के दौरान उसने क्या कुछ सीखा लेकिन गुरु और शिष्य के बीच एक ऐसी कोमल और निर्दोष अंतरंगता प्रगाढ़ हो गई जिसने उनकी स्मृति पर स्थायी प्रभाव डाला।

अस्सी साल की परिपक्व वय में रवीन्द्रनाथ ने इस प्रकरण को याद करते हुए लिखा था : "तब मेरी अपनी उपलब्धियां बहुत ही नगण्य थीं। और यदि उसने मेरी उपेक्षा की होती तो उसके लिए उसे दोषी नहीं ठहराया जा सकता था। लेकिन उसने ऐसा नहीं किया। मेरे पास किताबों का ऐसा कोई संचय न था कि मैं उसे दे पाता इसलिए मैंने उसे छूटते ही बता दिया था कि मैं कविता लिख सकता हूं। मेरे पास यही एक पूंजी थी जिससे मैं उसका ध्यान अपनी ओर खींच सकता था। जब मैंने उसे अपनी काव्य-प्रतिभा के बारे में बताया तो इसमें उसके लिए कोई असमंजस या दुविधा जैसी बात न थी और कोई सवाल किए बिना उसने इसे स्वीकार कर लिया। उसने कवि से अपने लिए कोई विशेष नाम देने को कहा, और मैंने उसके लिए एक नाम चुना जो उसकी समझ से बहुत सुंदर था। मैं चाहता था वह नाम मेरी कविताओं के संगीत के साथ रच-बस जाए, और मैंने यह नाम उसके लिए लिखे गए एक गान में पिरो दिया। पौ फटने से पहले गाए जाने वाले राग भैरवी में उसने मेरा यह गान सुना और कहा, 'कवि, अगर मैं मृत्यु शय्या पर भी पड़ी होती तो तुम्हारा यह गान सुनकर मुझमें नई जान आ जाती।' यह इस बात का उदाहरण है कि लड़कियां जानती हैं कि थोड़े-से आनंदपूर्ण अतिरेक के साथ किसी की सराहना कैसे की जाती है। और ऐसा वे विनोदपूर्ण आनंद के लिए करती हैं। मुझे यह भी याद है कि अपने व्यक्तित्व के रूप-रंग की प्रशंसा मैंने उससे ही पहली बार सुनी थी और यह प्रशंसा बहुधा बड़ी बारीकी से की जाती थी। उदाहरण के लिए, उसने मुझे खास तौर पर एक बात पर अमल करने पर जोर दिया था, वह यह कि 'तुम कभी दाढ़ी नहीं रखना। ऐसा कुछ भी नहीं जो तुम्हारे चेहरे की रेखाओं को छिपा ले।' सबको पता है कि मैंने उसकी वह सलाह नहीं मानी। लेकिन वह खुद भी यह देखने के लिए जिंदा नहीं रही कि मेरे चेहरे के बारे में उसका जो दावा था—मैंने उसकी अनसुनी कर दी है।"

रवीन्द्र ने उसे नलिनी का नाम दिया, अपनी कल्पना में बसनेवाली इस प्रेयसी को उन्होंने अपनी लंबी आख्यान कविता, 'कवि काहिनी' में इसी नाम से पुकारा है, जो बहुत पहले प्रकाशित हुई थी। वह इस कविता को उसे पढ़कर सुनाया करते और उसके लिए उन्होंने इसका अंग्रेजी अनुवाद भी किया था। उन्होंने केवल इसी कविता की प्रेरणा उसमें नहीं जगाई थी बल्कि लंबे समय तक उसकी और भी कई कविताओं में यह प्यारा-सा नाम—नालिनी बार बार दोहराया जाता रहा। उन दोनों की मित्रता के बारे में कोई ज्यादा जानकारी नहीं मिलती क्योंकि इसके कुछ दिनों के बाद ही उसने एक स्काटिश से शादी कर ली और शायद ज्यादा दिन जीवित नहीं रही। लेकिन रवीन्द्रनाथ कभी उसकी स्मृतियों को भुला नहीं पाए और अपने परवर्ती जीवनकाल में, जब कभी भी उसका प्रसंग आता – चाहे वह बातचीत में हो या रचना में – बड़े सहज और सुष्ठु ढंग से उल्लिखित है।

4

हृदय-अरण्य

जिसे कहते हैं हृदय—वह है एक सघन अरण्य
जिसके चारों ओर है अंतहीन भटकाव
और मैं भूल गया हूं अपनी राह।

सितंबर 1878 में रवीन्द्रनाथ अपने बड़े भाई सत्येन्द्रनाथ के साथ इंग्लैड के लिए रवाना हुए। जब जहाज चलने को हुआ, उनका हृदय उस बंबई की याद में विचलित हो उठा जहां उन्होंने अपनी सुंदर और युवा शिक्षिका के साथ सुखद दिन बिताए थे। साथ ही कलकत्ता स्थित अपने घर की याद सताने लगी थी– जहां उनकी भाभी थी और जिसके साथ बीते सुख और दुख से जुड़े क्षण उनकी अतीत-स्मृति को कुरेद रहे थे। वह अपनी उन तमाम चीजों को पीछे छोड़कर जा रहे थे, जिन्होंने उनके जीवन को समृद्ध बनाया था। उनके सामने भले ही कोई नया मैदान या खुला चरागाह न था, लेकिन संभावना भर थी और उन्हें दोबारा उसी किताबी दुनिया में कोल्हू के बैल की तरह पिसते रहने को झोंका जाना था।

सौभाग्य से उन दिनों उनके द्वारा घर भेजे गए पत्र हमें सुरक्षित प्राप्त होते हैं--जिनसे उस उम्र की अधकचरी शोखियों के बावजूद उनके युवा मानस के आरंभिक अनुभवों की विविधता के दर्शन होते हैं। बाद में रवीन्द्रनाथ ने इस बात पर अफसोस जताया था कि उन्होंने ऐसे पत्र लिखे थे। लेकिन यह पत्र पिछली शताब्दी के सातवें दशक के अंग्रेजों के जीवन और उनके रहन-सहन का दो टूक आकलन प्रस्तुत करने के अलावा साहित्यिक गुणों से भी संपन्न हैं और बोलचाल की भाषा में लिखी गई बंग्ला गद्य के भी आरंभिक नमूने के नाते ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण हैं। अगर इनमें कोई युवकोचित अक्खड़ता है, जैसा कि स्वयं लेखक ने अपनी प्रौढ़ता में महसूस किया था तो एक युवक के तेवर का ही प्रकाश है जिसने कि उनकी धृष्टता या बड़बोलेपन को भी इतना आनंदपरक और प्रशांत बना दिया है। ये पत्र सबसे पहले 'भारती' पत्रिका में छपे और बाद में 'यूरोप प्रवासीन पत्र' में प्रकाशित हुए।

यह रवीन्द्रनाथ की पहली समुद्र-यात्रा थी और वह कोई अच्छे नाविक (यात्री) नहीं

थे। उस समय तो और भी नहीं। उन्होंने इस बात के लिए खेद प्रकट किया है कि वह "विश्व के महान कवियों—वाल्मीकि से लेकर बायरन तक के उस हर्षातिरेक में सम्मिलित नहीं हो सकते जो कि उन्हें समुद्र को देखकर हुआ था।" जब जहाज लंदन पहुंचा तो उन्होंने राहत की सांस ली और जहाज के दूसरे मुसाफिरों से मिले जुले। इनमें से कुछ के बारे में उन्होंने बड़ा रोचक खाका खींचा है—"जहाज पर महिलाओं का भयानक अकाल था और जो भद्र पुरुष थे; उनमें से कोई जवान या सुंदर नहीं था।" दोनों भाई ब्रिण्डिसी से पेरिस पहुंचे और जिसे उन्होंने 'बेहद भड़कीला' पाया। हालांकि उन्होंने यहां पहली बार 'तुर्की-स्नान' का आनंद लिया। मिस्र में धूल और रेत के अंबार के बीच से गुजरने के बाद अच्छी तरह रगड़ रगड़ कर नहाना जरूरी भी था।" तुर्की-स्नान वैसा ही है जैसा कि "अपनी देह को किसी लांड्री में धोबी के हाथ धुलवाना या धुनवाना।" अंततः वे लंदन पहुंचे "ऐसा मनहूस शहर मैंने पहले नहीं देखा... धुएं और धुंध से लिपटा सीलन भरा। सबके सब बेहद हड़बड़ी में भागते एक-दूसरे का कंधा छीलते।"

रवि के भाई का परिवार ब्राइटन में था और वहां पहुंचकर वह बहुत खुश थे। उन्हें लगा वह घर में ही हैं। सत्येन्द्रनाथ की पत्नी बड़ी उदार थीं और उनके दो बच्चे सुरेन और इन्दिरा, जिनकी उम्र क्रमशः छह और पांच साल की थी– अपने युवा और खूबसूरत चाचा से घुल मिल गए। लेकिन रवि को इंग्लैंड नहीं लाया गया। चूंकि कलकत्ते के एक मकान के बदले इंग्लैंड में कोई मकान मिल नहीं पाया इसलिए उन्हें एक पब्लिक स्कूल में भर्ती करा दिया। वहां के हेडमास्टर ने मेरी कद-काठी का मुआयना करने के बाद कहा, "ओह, तुम्हारा सिर तो बड़ा ही शानदार है।"

ब्राइटन प्रवास के दौरान उन्हें घर पर खेलने के लिए साथी ही नहीं मिले लेकिन सामाजिक जीवन में उनकी शामें बेहद दिलचस्प होने लगी थीं। इसकी एक वजह यह भी थी कि उनके भाई और भाभी से मिलने वालों की कोई कमी नहीं थी और उन्हें रात की दावत पर और नाच के लिए आए-दिन आमंत्रण मिलते रहते थे। इस युवा बालक में गहरी अंतर्दृष्टि थी इसलिए उसने वहां जो कुछ भी देखा या महसूस किया उसका उल्लेख उसने घर भेजी जाने वाली चिट्ठियों में भी किया : "यहां हर सड़क के नुक्कड़ पर 'पब' (मधुशाला) है लेकिन किताबों की दुकानें इक्का-दुक्का ही हैं।"

"लड़कियां पिआनो बजाती हैं और गाती हैं। वे आग के पास बैठी रहती हैं और उपन्यास पढ़ती रहती हैं। साथ ही आगंतुकों का मनोरंजन करती हैं और अपनी खुशी के लिए उनसे चुहल भी करती हैं।"

"यहां के लोग तो यही समझते हैं कि जब तक मैं यहां नहीं पहुंचा तब तक सभ्यता के बारे में मुझे कुछ भी मालूम नहीं था। अभी पिछले दिनों डा.... के भाई ने मुझे इस बारे में बड़ी गहरी जानकारी दी कि कैमरा किस चिड़िया का नाम है और एक सायंकालीन पार्टी

में सुश्री.... ने पूछा कि मैंने इसके पहले कभी पिआनो देखा भी है....।"

"मैं सुबह छह बजे उठ जाता हूं और ठंडे पानी से नहा लेता हूं। इस बारे में जो सुनता है वही हैरान हो जाता है।"

"यहां के घर बड़े सजे-संवरे और साफ-सुथरे होते हैं। फर्श झकाझक और फर्नीचर चकाचक। वैसे सफाई के बारे में यहां की सोच ही कुछ और है, हम लोगों से कुछ अलग-थलग। हम लोग जबकि अपने कमरे में कोई थूकदान या उगलदान रखने में आनाकानी नहीं करते, यहां के लोग, जो सर्दी और खांसी से ज्यादा परेशान रहते हैं, अपने रूमालों में थूकना कहीं बेहतर समझते हैं और वापस अपनी जेबों में डाल लेते हैं। कुछ लोग कटे हुए आस्तीनों और कमीजों के सामने वाले हिस्से पहनते हैं और केवल इन्हें ही लांड्री से धुलवाते रहते हैं। महिलाएं भले ही अपने प्रस्तुतिकरण के मामले में बड़ी चौकस रहती हों, लेकिन वे अपने चेहरे, हाथ और बांहों को ही नियमित रूप से धोती पोंछती हैं। कई कई घरों में तो बाथरूम जैसी कोई जगह होती ही नहीं है।"

"हमारे अपने देश की और यहां की स्त्रियों में अंतर बहुत अधिक होते हुए भी उनमें एक बात में समानता है। समाज उन्हें कुछ इस तरह प्रशिक्षित करता है और साधन मुहैया करता है कि वे सबसे ऊंची बोली लगाने वाले को जीत सकें।"

रवीन्द्र ज्यादा दिन ब्राइटन नहीं रह पाए। उनके बड़े भाई ने यह अच्छी तरह समझ लिया था कि अगर रवि को बाहर रहकर यहां के अध्ययन से कोई लाभ पाना है तो उसे पूरी तरह अकेला रहना होगा। इसलिए उन्हें लंदन ले जाया गया और एक आवासीय-मकान में रखा गया, जो कि रीजेंट्स पार्क के सामने था। तब शिशिर का मौसम था और पार्क के पेड़ एकदम नंगे थे। यहां सर्दी से कहीं ज्यादा एक उदासी भरी सर्दी थी– जो कि उनको हड्डियों तक भेद जाती थी। लगता था प्रकृति ने हमेशा के लिए अपनी त्योरियां चढ़ा रखी हैं। आसमान गंदला-सा और दिन का उजाला अपनी चमक खोकर किसी मुर्दा आदमी की आंख जैसा लगता है।

लंदन में उन्हें अकेलापन महसूस होता था। वहां वह किसी को नहीं जानते थे। उन्हें लैटिन सिखाने के लिए जो शिक्षक रखा गया था, वह था तो एक भला आदमी, लेकिन थोड़ा बहुत झक्की था। वह इस सिद्धांत से बुरी तरह ग्रस्त था कि सारी दुनिया में हर युग में कोई एक ही प्रबल विचार प्रत्येक मानव समाज में रूपांतरित होता रहता है; भले ही इन विभिन्न समाजों में संवाद का कोई बहिरंग माध्यम नहीं रहा हो। वह अपनी इस खोज में इस कदर खोया रहता था कि अपने विद्यार्थियों के लिए उसके पास समय ही नहीं था। लैटिन भाषा सीखने का ढोंग तब तक चलता रहा जब तक कि रवीन्द्र ने अपना डेरा नहीं बदल लिया। उसने बकाया राशि लेने से भी यह कहकर इंकार कर दिया कि मैंने तुम लोगों का वक्त बरबाद करने के सिवा कुछ भी तो नहीं किया। बड़ी मुश्किल से उसे

राजी किया जा सका कि वह अपनी फीस स्वीकार करे।

इस गंदे और अकेले आवास में रवीन्द्र को एक पेइंग गेस्ट के तौर पर एक व्यावसायिक प्रशिक्षक के मकान में रखा गया। मि. बार्कर नाम का वह आदमी और भी अनूठा था, हालांकि लैटिन शिक्षक के मुकाबले यह कुछ कम दयनीय था। इस परिवार के दूसरे सदस्य थे– उसकी सौम्य छोटी-सी पत्नी और उनका पालतू कुत्ता। बार्कर को जब कभी भी अपनी पत्नी को बुरा-भला कहना होता तो वह उस गरीब कुत्ते को ही सताया करता। वह बड़ा ही उदास और चिड़चिड़ा आदमी था। पति और पत्नी आपस में शायद ही कभी बात करते थे। वे खाने की मेज पर भी खामोश और उदास बैठे रहते जिससे कि इस परेशान मेहमान को और भी उलझन होती। ऊपर से बार्कर दूसरी बार आलू परोस रहा होता तो वह हौले से फुसफुसाता–"बस थोड़ा-सा" ("प्लीज") शब्द तो सुनाई ही नहीं पड़ता था। श्रीमती बार्कर दो बार फुसफसाती "मैं चाहती हूं तुम थोड़े से और विनम्र बनो।" "लेकिन मैंने तो कहा था– "प्लीज"– बार्कर विरोध किया करता। "लेकिन मैंने यह सुना नहीं", पत्नी कहा करती। पतिदेव अकड़ जाते, "तो इसमें मेरी क्या गलती है?" और इस तरह यह बातचीत एक गहरी खामोशी में डूब जाती। जो भी हो, मि. बार्कर इस युवा अतिथि के प्रति बड़े उदार थे और दोस्ताना व्यवहार रखते थे। अपनी बैठक में अक्सर वे रवि के साथ बैठकर बातें किया करते थे, लेकिन अतिथि को सारा परिवेश बड़ा ही भारी लगा करता था।

तभी रवीन्द्र की सहायता के लिए जैसे स्वयं विधाता आ गए जबकि उसे सत्येन्द्रनाथ की पत्नी का एक पत्र मिला। इसमें देवॅन स्थित टॉरक्वे आने का आमंत्रण था, जहां परिवार ने पूरे मौसम के लिए एक बंग्ला किराए पर लिया था। वह उन्मुक्त ग्राम-परिवेश की तरफ छूटते ही उड़ चला.... उन दोनों बच्चों के साथ जो उसकी प्रसन्नता के स्रोत थे और उन दोनों ने भी उसे कभी निराश नहीं किया। डेनॉनशायर का परिदृश्य बड़ा ही मनोहारी है और उन्होंने इसका जी भरकर आनंद लिया। लेकिन तब भी उन्हें इस बात पर हैरानी होती थी कि अब तक उनके अंदर से कविता की कोई भी निर्झरिणी क्यों नहीं फूटी? अपनी काव्य कला की उपेक्षा करने के लिए वह अपराध-बोध से ग्रस्त था और एक दिन पूरी गंभीरता से ध्यान लगाकर बैठ गया, 'अपने कवि की नियति की तुष्टि' के लिए। समुद्र पर झुकी एक चट्टान के ऊपर एक निर्जन स्थल चुनकर उसने एक कविता लिखी– जिसका शीर्षक था 'भग्नतरी' (टूटी नाव)। "मुझे ऐसा जान पड़ता है कि यह और भी अच्छी रचना हो सकती थी अगर मैं तब इस बात की एहतियात बरतता कि यह समुद्र में डूब नहीं गई होती।"

यह सुखद अंतराल भी समाप्त हुआ। रवीन्द्र लंदन लौट गए और उन्होंने लंदन विश्वविद्यालय में दाखिला ले लिया। यहां उन्होंने अंग्रेजी साहित्य पर हेनरी मोर्ले के व्याख्यानों

को सुना। उनके साथ रेलिजियो मेडिकी और शेक्सपियर के कुछ नाटकों को पढ़ा। वह प्रो. मोर्ले की अध्यापन कला से बड़े चमत्कृत हुए। हालांकि विश्वविद्यालय की यह पढ़ाई तीन महीने से ज्यादा नहीं चली। लंदन में इस प्रवास के दौरान उन्होंने संसद भवन को देखा और आयरिश होम रूल पर ग्लैडस्टोन और जॉन ब्राइट को भाषण देते हुए सुना।

टोरक्वे से लौटने के बाद, रवीन्द्रनाथ के लंदन प्रवास के दिन, बड़ी प्रसन्नता से बीते। इस मामले में वह भाग्यशाली थे कि उन्हें एक अंग्रेज मित्र परिवार का मकान मिल गया। यह डा. स्कॉट का मकान था। वह जब पहली बार उनके घर पहुंचे तो वहां सफेद बालों वाले डाक्टर, उनकी पत्नी और बड़ी पुत्री थे। उनकी दो युवा पुत्रियां इस बात पर आपत्ति प्रकट करते हुए कि उनके घर यह एक "ब्लैकी" का हमला हुआ है, अपने एक रिश्तेदार के यहां चली गईं। वे तभी घर वापस लौटीं जब उन्हें इस बात का यकीन हो गया कि यह अजनबी कोई नुकसान नहीं पहुंचाने वाला । जैसे जैसे वक्त बीतता चला गया, वह सबका प्रिय होता चला गया, यहां तक कि घर का कुत्ता टैबी भी तब तक खाना नहीं खाता था जब तक कि वह उसके साथ खेल नहीं लेता था। श्रीमती स्कॉट उन्हें अपने बेटे की तरह मानती थीं और उनकी देखभाल कुछ ऐसे जहन और प्यार से करती थीं कि उनकी अपनी मां ने भी, इतनी देखभाल नहीं की थी। पति और परिवार के प्रति उनकी निष्ठा से रवीन्द्र बहुत ही प्रभावित हुआ। पुत्रियां भी धीरे धीरे उनकी प्रशंसिका बन गईं, विशेषकर तीसरी पुत्री-- जो उनकी हमउम्र थी और पिआनो बजाकर गाना गा सकती थी। उसने उन्हें कई अंग्रेजी और आयरिश गाने भी सिखाए।

अंग्रेजी समाज और खास तौर पर यहां की स्त्रियों की भूमिका और उनके रास्तों के बारे में इनकी प्रारंभिक टिप्पणियों-- जो व्यंग्यपूर्ण और उहात्मक दोनों ही थीं-- में काफी परिवर्तन आया और अब वह बड़े ही संयत ढंग से एक स्वतंत्र समाज में पले-बढ़े स्त्री-चरित्र के सौंदर्य और शक्ति की सराहना करने लगे थे। सराहना के ये शब्द घर भेजे गए उनके पत्रों में बड़ी आजादी से अभिव्यक्त हो रहे थे और इनसे बड़े-बुजुर्गों में घबराहट-सी फैल गई थी और वे इस बात पर हैरान थे कि इस चंचल लड़के को उसके भाई के इंग्लैंड से वापस लौटने के बाद, वहां छोड़ देना बुद्धिमानी का काम होगा या नहीं। इसलिए भारत से एक अनुलंघनीय आदेश भेजा गया कि रवीन्द्र को अपने अध्ययन को बीच में समाप्त कर अपने भाई के साथ लौट जाना होगा।

क्या युवा रवि इस घटनाक्रम से खुश थे या उनका दिल टूट गया था, उन्होंने अपनी स्मृतियों में खुद इस बारे में लिखा है कि वह घर वापस आने की स्थिति में बहुत खुश थे। "मेरे देश का प्रकाश और मेरे देश का आकाश-- मुझे बड़ी खामोशी से पुकार रहे थे।" कोई संदेह नहीं कि उनकी बातों में सच्चाई थी। क्योंकि उनकी सर्जनात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से, उसका विदेश प्रवास अपेक्षतया बंजर ही रहा था और उन्हें समय समय पर

उस प्रेरणा की जरूरत थी, जिसने कि उनकी ऊर्जा को शक्ति दी थी और उनका पोषण किया था। दूसरों शब्दों में, उनके लिए विदेश में बने उन नए और मधुर लगावों को तोड़ देने में अवश्य ही पीड़ादायी कसक पैदा हुई होगी। "श्रीमती स्कॉट ने मेरा हाथ अपने हाथों में ले लिया और रोने लगीं। कहने लगीं, 'अगर तुम्हें इतनी जल्दी जाना ही था तो तुम मेरे पास भला आए ही क्यों'?" उनकी बेटियों ने क्या कहा, 'इस बारे में रवि कुछ नहीं बताते।' लेकिन 'भारती' में प्रकाशित कविता से इस बात का आभास जरूर होता है कि तब उन्होंने क्या महसूस किया था। इस कविता का शीर्षक है 'दु दिन' (दो दिन) जिसका हिंदी अनुवाद यहां प्रस्तुत है—

"हो चुका है शरद आरंभ और दिगंबर खड़े हैं निष्पत्र वृक्ष
सारी धरती श्वेत आवरण में ढंकी है
पूर्व के एक अतिथि ने पश्चिम की धरा पर रखा है पांव
यह केवल दो दिनों का प्रवास है
पतझरे पेड़ों से बर्फ गिर रही है।
सर्दियां अब भी पड़ रही हैं
परिंदे खामोश हैं
बसंत के आतुर चुंबन ने
प्रकृति को मृत्युवत मूर्च्छना से अब तक जगाया नहीं है
लेकिन मेरे दो दिन समाप्त होने को हैं
और मुझे यहां से जाना ही होगा।

जब मैं अपना मुंह पूर्व की तरफ घुमाता हूं
तो मैं अपने आप से पूछता हूं :
क्या मैं दोबारा इन किनारों तक लौट कर आऊंगा?
क्या मैं फिर कभी परिचित चेहरों को देख पाऊंगा?

साल बीतते चले जाएंगे
और शायद किसी दिन मैं
यहां से काफी दूर किसी नदी के किनारे अकेला बैठा होऊंगा
और पश्चिम दिगंत पर सूरज डूब रहा होगा
तभी अचानक स्मृतियों का एक तेज झोंका आएगा
और मेरे हृदय को आंदोलित कर जाएगा
विद्युत की चमक में एक परिचित चेहरा

और एक पुराना गीत आकाश में गूंज उठेगा
असंख्य फूलों ने उसका निर्माण किया हो, वह चेहरा कुछ ऐसा होगा
उसकी खुली और अस्त-व्यस्त केशराशि
मेरी रातों की नींद पर न जाने कितनी रातें आघात करती होंगी,
और ये आंखें उत्कंठित भाव से मेरी ओर निहार रही होंगी
और अश्रुस्नात एवं अस्फुट स्वर में
हौले-से कह रही होंगी--
'तुम्हें जाना होगा, जाना ही होगा'।''

फरवरी 1880 में रवीन्द्र लगभग सत्रह महीने बाहर बिताकर, अपने बड़े भैया और उनके परिवार के साथ घर लौटे। वह एक तरह से खाली हाथ ही लौटे थे। उनके पास कोई शैक्षणिक उपाधि या प्रतिष्ठा-पत्र नहीं थे। अगर कोई चीज वह अपने साथ लाए थे तो वह थी एक सुदीर्घ गीति-नाट्य रचना की अधूरी पांडुलिपि, जिसे उन्होंने लंदन में लिखना शुरू किया था। उसका शीर्षक भी अलग-सा ही था--'भग्न हृदय।'

जब वह मुंबई उतरे तो क्या अन्ना वहीं थी या उन्होंने उससे मिलने की या उसे देखने की कोशिश की? किसी को पता नहीं। उनकी यह चुप्पी उनके जीवनी लेखकों को आगे भी चक्कर में डालती रहेगी।

हालांकि 'भग्न हृदय' रचना का न्यास नाटक का है लेकिन यह और तरह से गीतों की माला ही थी--गीतिमय उच्छ्वास की एक अटूट शृंखला, जिसमें उपसर्ग या दृश्यबंध थे। यह कृति चार हजार पंक्तियों में फैली थी। इसमें एक अपरिहार्य कवि है-- युवा और स्वप्न द्रष्टा। वह दूसरों के हृदय तोड़ता हुआ भी यह नहीं जान पाता कि दरअसल वह चाहता क्या है? उनके बालपन की संगी या सखी का नाम मुरला है जो उन्हें जी-जान से चाहती है। कवि अपने निरंकुश अहंकार से कुछ इस तरह आविष्ट है कि उसे उसके प्रेम की परवाह ही नहीं। हालांकि वह उसकी मित्रता का आदर करता है और अपने दुखों को उसके साथ मिल-बांटता भी है। ''मैंने कुछ भी नहीं खोया है लेकिन मैं चारों ओर देख रहा हूं-- किसके लिए? मैं कुछ नहीं चाहता लेकिन मैं भटक रहा हूं-- क्या पाने के लिए? जब किसी चीज की आशा ही नहीं तो यह निराशा किस बात के लिए? आखिर यह घाव कहां से मिला जबकि किसी ने मुझे आहत नहीं किया?'' वह एक खूबसूरत और जिद्दी लड़की को देखता है और यह सोच लेता है कि वह मुझे चाहती है। उसका नाम है नलिनी-- एक ऐसा नाम, जो रवि की कल्पना से कभी अपना पीछा नहीं छुड़ा पाया। लेकिन नलिनी एक ऐसी निर्मम रूपसी है जो दूसरों के हृदय से तो खेलती है लेकिन अपना हृदय किसी को नहीं देती। निराश कवि इधर-उधर भटकता रहता है। जब वह वापस लौटता है तो पाता है कि मुरला मृत्यु-शय्या पर है। उसे तब बोध होता है कि यही थी जो उसे सदैव

चाहती रही थी। लेकिन अब काफी देर हो चुकी है। इस नाटक में और भी अनेक पात्र हैं और सब के सब एक-दूसरे का दिल तोड़ने में माहिर हैं। और साथ ही, जैसा कि होता आया है सारे विवरणों को दार्शनिक जामा भी पहनाया गया है और मुरला अंत में यह समझ लेती है। "जिसके पास अपना कुछ नहीं होता उसी के पास सब कुछ होता है, जिसके पास रहने को न हो वही सारे संसार को अपना घर बना लेता है, जिसका कोई दोस्त नहीं वह किसी के लिए अजनबी नहीं।" लेकिन न तो त्रासदी और ना ही दर्शन– कुछ भी यथार्थ नहीं। क्योंकि लेखक बहुत ही कम उम्र का था और उसे इस बात में और भी अनुभवी होना था कि वस्तुतया वह क्या अभिव्यक्त करना चाहता है। साथ ही उपहार में मिली अपनी काव्य प्रतिभा का भी उसे सटीक विनियोग करने की आवश्यकता थी क्योंकि गीतिमय प्रकरणों से यह स्पष्ट था कि युवा रचनाकार की धीरे धीरे इस विधा पर पकड़ मजबूत हो रही थी।

भले ही यह कविता उनकी समग्र रचनावली में संकलित होने से रह गई थी, तो भी अपनी पहली उपस्थिति से उसकी प्रतिष्ठा स्थापित करने में सहायता मिली थी। क्योंकि ऐसी सहज गीतिमयता और रोमानी स्वच्छंदता बंग्ला काव्य-साहित्य में एक नई चीज थी। त्रिपुरा के तत्कालीन महाराज ने अपने प्रमुख दीवान को कलकत्ता भेजा और उनसे मिलकर उनकी काव्यात्मक उपलब्धि के लिए महाराज की तरफ से सम्मानित करने का संदेश दिया। दरअसल रचनाकार को इस बात की हैरानी नहीं थी कि उनकी वह सुविस्तृत रचना जो उनके अठारह साल वाली उम्र के भावोच्छ्वास से लबालब भरी थी और एक श्रेष्ठ रचना बनी थी उसे दूसरों ने भी पंसद किया था। "इसमें कुतूहल पैदा करने वाला प्रकरण यह नहीं था कि मैं तब केवल अठारह साल का था बल्कि यह था कि मेरे इर्दगिर्द खड़े सभी लोग अठारह साल के हो गए थे।"

लेकिन बिछोह का दंश चाहे जितना भी कष्टदायक रहा हो, यह 'भग्न हृदय' अपने घर वापस लौटकर पहले से कहीं ज्यादा निश्चित और प्रसन्न था। अब उसने अपने आपको जैसे गीतों की निर्झरिणी में पूरी तरह निमग्न कर लिया था और अपना पहला संगीत-नाटक 'वाल्मीकि प्रतिभा' लिखा। लेखक ने हमें पहले ही सतर्क कर दिया है कि यह नाटक पढ़े जाने के लिए नहीं है बल्कि यह रंगमंच पर देखे और सुने जाने के योग्य है। इसकी कथावस्तु भारत के आदिकवि वाल्मीकि के आख्यान पर आधारित है। रामायण के रचयिता वाल्मीकि के बारे में यह खयाल रहा है कि वह डाकुओं के सरदार थे। रवीन्द्रनाथ की रचना में क्रौंच पक्षी की दुरवस्था के चलते डाकुओं का यह सरदार बदल नहीं जाता बल्कि एक छोटी-सी लड़की की कातर पुकार से पिघल जाता है, जिसे उसके साथी देवी काली को प्रसन्न करने के लिए बलि के उद्देश्य से अपहृत कर लेते हैं। करुणाविह्वल वाल्मीकि उस लड़की को उनसे छुड़ाते हैं, दस्यु दल को तितर-बितर कर देते हैं और अपने सच्चे ध्येय की खोज में

इधर-उधर भटकने लगते हैं। देवी सरस्वती उनके सम्मुख प्रकट होती हैं और उन्हें बताती हैं कि मानवीय करुणा को उत्प्रेरित करने के लिए लड़की के रूप में वे स्वयं उपस्थित हुई थीं। वे उसे गीत रचना का उपहार देती हैं और कहती हैं, "जिस करुण संगीत ने तुम्हारे पत्थर जैसे हृदय को मोम बना दिया, उसके संस्पर्श से तुम्हारे स्वर में मानवता का संगीत बन जाएगा जो लाखों-करोड़ों हृदयों को मंजुल और मुंजुल बनाएगा। तुम्हारा स्वर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ध्वनित होगा और कई कवियों के स्वर में तुम्हारे गान अनुगुंजित होंगे।"

"वाल्मीकि प्रतिभा" की प्रमुख विशेषता न तो इसका नाटकीय न्यास है और न ही इसकी काव्यात्मक विलक्षणता, बल्कि इसका सांगीतिक उत्कर्ष है। इस नाटक के द्वारा रवीन्द्र ने भारतीय संगीत में प्रचलित परंपरागत रूढ़ियों के विरुद्ध अपने आंदोलन का सूत्रपात किया था। जैसा कि उन्होंने साहित्य में किया था लगभग वैसा ही। शास्त्रीय और लौकिक परंपराओं के प्रति आदर जताते हुए और दोनों की अलंघ्य मर्यादा के प्रति सम्मान व्यक्त करते हुए अपने उद्देश्य की पूर्ति में जो आवश्यक था--दोनों से ग्रहण किया। यहां तक कि उन्होंने पश्चिमी रागों से भी उधार लेने में कोई संकोच नहीं किया। हालांकि इस बारे में उन्होंने ज्यादा कुछ नहीं किया था लेकिन जहां से भी उन्हें कुछ मिला-- उसे उन्होंने अपना बनाकर प्रस्तुत किया। और चाहे जो भी हो, उन्होंने अमूर्त संगीत का नया स्वरूप गढ़ने के मामले में कोई उत्साह नहीं दिखाया। दरअसल उन्होंने जो कुछ किया--वह था संगीतपरक अभिव्यक्तियों के क्षेत्र में शास्त्रीय एवं लौकिक मुहावरे के बीच के वर्णविभाजन को उखाड़ फेंकना। उनका अपना संगीत, गीत के बोलों या शब्दों से इतनी सघनता से संबद्ध है कि काव्यात्मक भाव के साथ सांगीतिक राग को अलग करना लगभग असंभव है। इसमें दोनों ही मुखरित-व्यंजित होते हैं और एक-दूसरे को गति प्रदान करते हैं। लेकिन यह भी सही है कि कुछ लोग उनके गीत में गुंथे शब्दों के जटिल संगीत को ठीक से पकड़ नहीं पाते।

इंग्लैंड-प्रवास के दौरान रवीन्द्र ने गंभीर पश्चिमी संगीत को भी सुना था और वह धीरे धीरे उसकी खूबियों की सराहना करना भी सीख गए थे। यूरोपीय संगीत के बारे में वह उनकी रोमानी प्रकृति और "इसकी वैविध्यता, विपुलता, जीवन सागर से उठती उच्छल उर्मियों और उनकी अछोर तरंगों से उठते चिर परिवर्तनशील छाया और प्रकाश" की संस्तुति करते रहे। उन्होंने हर्बर्ट स्पेंसर के 'द ओरिजिन एंड फंक्शन ऑफ म्यूजिक' में पढ़ा था कि वस्तुतया भाव ही भाषा को गतिमय उतार-चढ़ाव प्रदान करता है। "स्पेंसर के इस विचार से कि स्वर के इस भावात्मक आरोह-अवरोह के विकास के माध्यम से ही मनुष्य ने संगीत का ज्ञान अर्जित किया, मैं बड़ा प्रभावित हुआ। मैं अक्सर सोचा करता था कि इस विचार को आधार बना, आवृति को प्रमुखता देकर नाट्याभिनय को क्यों नहीं किया जा सकता?" और रवीन्द्र ने "वाल्मीकि प्रतिभा" में ठीक ऐसा ही प्रयास किया और मंच पर मिली सफलता से वे बहुत अधिक उत्साहित भी हुए। उन्होंने खुद वाल्मीकि का अभिनय किया और उनकी

युवा भतीजी प्रतिभा, ने उस छोटी-सी लड़की की भूमिका निभाई थी, जिसे डाकुओं के सरदार ने छुड़ाया था। (इस तरह इस नाटक में शब्द के प्रयोग में श्लेष की झलक मिलती है)। इस नाटक की सफलता से उत्साहित होकर, रवीन्द्र ने इसी प्रारूप पर एक दूसरा गीति-नाट्य लिखा, जो रामायण के प्राचीन आख्यान पर आधारित था। और इसका शीर्षक रखा, 'कालमृगया'। इसे भी बड़ी सफलता के साथ अभिनीत किया गया। स्वयं रवीन्द्र ने इसमें एक अंधे आश्रमिक की भूमिका निबाही थी।

लेकिन इससे कहीं अधिक फसल सूरज की तेज धूप में पक रही थी और जिसे बाद में काटा जाना था। इस बीच ज्योतिरीन्द्रनाथ अपनी पत्नी के साथ कलकत्ता के बाहर कहीं लंबे प्रवास पर जा रहे थे। रवीन्द्र उनके साथ जा न पाए। वह अकेले और उदास रह गए थे। वे अपने भैया के साथ रहकर उनसे मिलने वाली प्रेरणा से वंचित रह गए थे और साथ ही भाभी के प्यार की ऊष्मा से जिस पर वह अब तक पूरी तरह निर्भर थे । विदेश-प्रवास से उनका खाली हाथ लौट आना और वह भी बिना किसी विश्वविद्यालय की उपाधि के, परिवार के उन सदस्यों को खिन्न करने के लिए काफी था जो इस प्रतिभासंपन्न युवा को बड़ी आशा भरी नजरों से देखते थे। इस प्रकार, इस उदास, उपेक्षित और अपनी रुग्ण कल्पनाओं में खोए युवक ने अपनी आत्माभिव्यक्ति को मुक्त और निर्बंध करना चाहा। ऐसा उसने किसी को उपकृत करने की चाह से नहीं किया। इस तरह गीतों की जो शृंखला निर्मित होती चली गई, वह बाद में 'सान्ध्य संगीत' के नाम से प्रकाशित हुई। यह रवीन्द्रनाथ की पहली ऐसी कृति थी जिस पर उनकी प्रतिभा की सुस्पष्ट छाप थी। अब उन्होंने अपना एक रूप-विधान तलाश लिया था और अतीत में क्या कुछ लिखा गया है इस बात से निश्चिंत होकर इसमें इच्छानुसार लिख सकते थे। उनका हृदय पुकार उठा था—"अंततः मैं जो लिखता हूं वह मेरा है।" उन्होंने अपने आपको बाहर उलीचना शुरू किया और "जैसे कि कोई निर्झरिणी सीधी नहीं बहती, वह किसी मोड़ पर टेढ़ी-तिरछी भी बह सकती है इसी तरह मेरी कविता की भी गति बदलती रही। इसके पहले मैं ऐसा करना अपराध समझता रहा था लेकिन अब मुझे ऐसा कोई अनुताप नहीं होता था। स्वतंत्रता पहले तो नियमों को तोड़ती है और फिर उन नियमों को गढ़ती है जो इसे सच्चे आत्मानुशासन में ले आते हैं।"

इन रचनाओं के प्रति लोगों का स्वागत संतोषप्रद था। यह बात स्पष्ट थी कि एक नया नक्षत्र उदित हो चुका था। लेखक ने अपनी स्मृतियों के बारे में स्वयं बताया कि कैसे एक वैवाहिक आयोजन में, विख्यात उपन्यासकार बंकिमचन्द्र चटर्जी पधारे तो मेजबान रमेश ने उनका स्वागत फूलमाला से किया था। लेकिन बंकिमचन्द्र ने अपने गले की माला उतार कर तत्काल पधारे युवा रवीन्द्र के गले में यह कहते हुए डाल दी कि "अरे रमेश, तुमने इसका 'सान्ध्य संगीत' पढ़ा है या नहीं?"

ये गीत अपने काव्य-स्वर में जहां बड़े ही आत्मपरक और अवसादपूर्ण थे वहां ऊर्जस्वी

कल्पनाओं की उड़ान से भरे थे। इनमें कुछ शीर्षक बड़े ही मुखर हैं, यथा, 'एक तारे की आत्महत्या', 'निराशा की आशा', 'खुशियों का विलाप', 'दुःख को आंमत्रण', 'असह्य प्रेम' आदि। यह युवा कवि दुख से प्रेम रचाए बैठा था और इसके कड़वे-मीठे अनुभवों के साथ रंगरेलियां मना रहा था। 'सान्ध्य संगीत' जैसा कि इन गीतों को नाम दिया गया था– एक विशेष, मनस्थितिजन्य उत्कंठा को उजागर करता है। साथ ही, उस अवचेतन का संकेत भी देता है कि यह उसके सर्जनात्मक विकास के प्रथम प्रस्थान का सूर्यास्त था जबकि "मैं उन दिनों अपनी भावनाओं की धौंकनी से लपलपाती ज्वाला को फूंकने में लगा हुआ था। 'सूर्योदय में अब भी देर थी'।"

इस संग्रह की पहली कविता, जैसा कि यथानाम उपयुक्त ही है, सन्ध्या को संबोधित है, जिसे एक ऐसी अकेली और रहस्यमयी स्त्री के रूप में चित्रित किया गया है जो क्रमशः सघन होते जा रहे अंधेरे की परछाइयों में स्पष्ट दीख नहीं रही। उसके बाल छितरे हुए हैं और उसका चेहरा नीचे जमीन की तरफ झुका है। "वह क्या है जो तुम आहिस्ता आहिस्ता गुनगुना रही हो। न जाने कितने दिनों से मैं इस गुनगुनाहट को सुन रहा हूं लेकिन मैं अब तक न तो इसका आशय समझ पाया और न इसकी धुन ही पकड़ पाया।" कवि उसके साथ एक अनूठा संबंध महसूस करता है और इस बारे में अपनी कविता में विस्तार से बताता चलता है। एक दूसरी कविता में वह उस टूटे तारे के प्रति अपनी संवेदना प्रकट करता है जिसने निराश होकर आत्महत्या कर ली है। एक अन्य कविता में वह अपनी भाभी को उलाहना देता है जिसने उसे अकेला छोड़ दिया है। "वह चली गई है– अब कुछ कहने को बचा ही क्या? वे गीत पीछे छूट गए हैं, अब गाने को कौन-सा गीत रह गया है– भला? यह आकुल अंतर अपनी विरसता में निरंतर बिलखता रहता है। वे गीत रूठ गए हैं, विदा हो गए हैं... और अपने पीछे एक हृदय छोड़ गए हैं। वे चले गए हैं और उनके साथ ही फूल और पंछी विदा हो गए हैं। साथ ही वह प्रकाश भी, जिससे दिन चमकीले हुआ करते थे। एक फटे चीथड़े की तरह मैं बाहर फेंक दिया गया हूं।"[1]

जैसा कि आम प्रचलन है इस कृति की समर्पण कविता कृति के आरंभ में नहीं बल्कि अंत में है। इस कविता में संध्या का आह्वान जिस मनोदशा में किया गया था, वह अस्पष्ट और रहस्यमय था लेकिन धीरे धीरे स्पष्ट और सुपरिचित बिंबों में ढलने लगता है। "बहुत पहले जब मैं एक बालक था, तुम मुझे अपने स्नेहांचल में उसी तरह लपेट लिया करती थीं जिस तरह संध्या अपनी नीरवता में धरती को अपनी गोद में छुपा लेती है। क्या संध्या ने तुम्हें अपने जादू से सम्मोहित कर रखा है? चूंकि तुमने मेरे अंतर मन में झांका है इसीलिए इतने सारे तारे एक साथ झिलमिलाने लगे हैं। तुमने मुझे मेरा ही छिपा खजाना खोलकर

---

1. यह अनुवाद नहीं है लेकिन उन प्रकरणों का संक्षिप्त भावार्थ मात्र है, जिससे कवि के विचार और मानस का संकेत मिल सके।

दिखा दिया है और बिना गान गाए ही तुमने मुझे वे सारे गीत सिखा दिए, जो मुझे मालूम थे।"

कविताओं की इस कड़ी में जो विषाद व्यक्त है– वह भले ही सहज और किशोर सुलभ है लेकिन वह किसी भी दृष्टि से हल्का या बनावटी नहीं है। हालांकि कवि बाद के वर्षों में इनमें से कुछ कविताओं पर झेंपते भी रहे थे और अपनी प्रकाशित कृतियों में से इन्हें निकाल देना उन्हें अच्छा लगा होता लेकिन उन्होंने इस बात का जोरदार खंडन किया था कि इनमें किसी तरह का बनावटीपन है। उन्होंने अपनी 'जीवन स्मृति' में इस बात पर टिप्पणी की है, "एक दृष्टि संपन्न और सौभाग्यशाली प्रोफेसर ही इस योग्य है कि वह ऐसे किसी युवक की खिल्ली उड़ा सके जिसने अपनी आंखों पर किसी आभूषण की तरह चश्मा टिका रखा हो।"

स्वयं अपने से ही उदास और उत्पीड़ित रवीन्द्र ने अपने पिता को, जो बहुधा हिमालय-यात्रा पर होते थे, पत्र लिखा और उनसे इस बात की आज्ञा मांगी कि वह इंग्लैंड वापस जाकर दोबारा अपनी पढ़ाई शुरू करना चाहता है। उसे इस बात की अनुमति मिल गई और वह अप्रैल 1881 में दूसरी बार इंग्लैड की यात्रा पर रवाना हुए। उनके संग उनका भतीजा भी था। यात्रा की पूर्व संध्या पर उन्होंने कलकत्ता के लोगों के सामने 'संगीत और संवेदना' विषय पर एक भाषण दिया था, जिसमें उन्होंने अपने गीतों के साथ अपने विचारों को अभिव्यक्त किया था। लोगों के सामने उनका यह पहला भाषण था जिसमें उन्होंने स्वर गायन के साथ यह साबित करना चाहा था कि जहां शब्द अभिव्यक्ति में अक्षम हो जाते हैं वहां संगीत कैसे सक्षम हो उठता है। अब वह अपनी ही सीपी से बाहर निकलकर लोगों की नजरों के सामने आ रहे थे। इसी दौरान उन्होंने एक बड़ा ही तीखा और विवादास्पद आलेख 'चीन में मौत व्यापार' लिखा था, जिसमें उन्होंने वहां अफीम का कारोबार चलाने के लिए ब्रिटेन की भर्त्सना की थी। उनकी संवेदना इस देश की सीमाओं के पार पहुंच रही थी। मानवता के नाम पर जहां कहीं भी अमानवीय अपराध हो रहे थे, उनके खिलाफ उन्होंने आवाज उठाना शुरू कर दिया था। जीवन के आरंभ से लेकर अंत तक उनके अंदर की विविधता--गहन आत्मनिष्ठता और वस्तु-जगत के प्रति पुरुषोचित प्रतिबद्धता-- उनके व्यक्तित्व की आधारभूत विशिष्टता रही है।

इंग्लैंड की दूसरी समुद्री-यात्रा व्यर्थ गई। रवीन्द्र के साथ जा रहे भतीजे की शादी अभी हाल में ही हुई थी और जैसे ही जहाज कलकत्ते से रवाना हुआ वह कातर हो उठा। उसे अपनी पत्नी की याद सताने लगी और समुद्री-मतली आने लगी। जहाज जब तक मद्रास पहुंचा तब तक उसने यह तय कर लिया कि वह घर लौट जाएगा लेकिन वह महर्षि देवेन्द्रनाथ की कठोर मुख-मुद्रा को झेल पाने का साहस जुटा नहीं पाया इसलिए उसने अपने युवा काका रवीन्द्र से अनुरोध किया कि अवसाद चित्त से लौट आने की घड़ी में, इस कलंक

से मुक्त करने में और आवश्यक नैतिक साहस जुटाने में उसकी मदद करें। ऐसा जान पड़ता है कि काका इसके लिए तैयार हो गए। लेकिन इस बारे में कुछ पता नहीं चलता कि ऐसा उन्होंने केवल परोपकार की दृष्टि से किया था कि वह भी अपना हृदय पीछे छोड़ आए थे। हालांकि वह इस बात से पूरी तरह सावधान थे कि इस निर्णय का क्या नतीजा निकल सकता है। तो भी वह सारे रास्ते तय कर यह बताने कि क्या कुछ हुआ, मसूरी ज़ा पहुंचे जहां उनके पिताजी प्रवास पर थे। "मैं उनसे मिलते हुए बुरी तरह भयभीत था और कांप रहा था। लेकिन उनके चेहरे पर कोई शिकन तक नहीं आई। बल्कि वे प्रसन्न ही दिख पड़े। उन्हें मेरा वापस आ जाना विधाता का देवी वरदान जान पड़ा।"

युवा रवीन्द्र मसूरी से गंगा किनारे स्थित चंदरनगर वाली कोठी चले आए जहां उनके भाई और भाभी ठहरे हुए थे। वहां उन्होंने अपने जीवन के बड़े ही खूबसूरत दिन बिताए—"वे अनिर्वचनीय दिन और रात, आनंद और उत्कंठा से भरे हुए थे।" इस कोठी का नाम था, "मोरन'स गार्डेन"। यह एक लंबी-चौड़ी और खुली हुई कोठी थी—जिसमें काफी बड़ा बरामदा था और पत्थर की बनी इसकी सीढ़ियां नदी के किनारे तक फैली हुई थीं। दोपहर का समय ये तीनों ही नदी में तैरती नाव पर बिताते। रवीन्द्र गीत गा रहा होता और इसके संगीत को सचमुच किसी उन्मादी की तरह सुधार रहा होता। ज्योतिरीन्द्रनाथ वायलिन पर उनका साथ दे रहे होते। यही वह जगह थी जहां रवीन्द्र बंगाल के नदी-जीवन के संपर्क में सबसे पहली बार आए और जो बाद में उनकी रचनाओं में बड़ी प्रमुखता से स्थान पाता चला गया। उनका पहला पूर्णांग उपन्यास 'बोउ ठकुरानीर हाट' (छोटी रानी का हाट) भी यहीं लिखा गया था।

इस युवा लेखक ने हालांकि कविता और साहित्यिक निबंधों के क्षेत्र में अपनी आत्म परकता का विकास कर लिया था और एक ऐसा उपन्यास लिख डाला था जो उसकी प्रतिभा के अनुकूल था। लेकिन रचनात्मक कजा-साहित्य के क्षेत्र में उसे अब भी अपनी दिशा ढूंढ़नी थी। उनका यह पहला उपन्यास एक ऐतिहासिक उपाख्यान है जो उनके पूर्वज बंकिमचन्द्र चटर्जी द्वारा निर्मित सांचे में ढला था और बहुत लोकप्रिय हुआ। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं होनी चाहिए कि जब यह प्रकशित हुआ तो उसके लेखक को उसी प्रसिद्ध दिग्गज रचनाकार का एक पत्र मिला जिसमें उसे इस उपलब्धि के लिए बधाई दी गई थी। इसकी कथावस्तु का सारांश और इसके शीर्षक की विशेषता को निम्न शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है, एक बहादुर लेकिन निर्मम राजा अपने बेटे को, उसकी प्रजा के प्रति दुस्साहसपूर्ण सहानुभूति के लिए निरंतर फटकारता रहता है। राजकुमार आखिरकार राज्य छोड़कर निकल जाता है। धार्मिक शहर बनारस जाने के रास्ते में वह अपनी बहन को उसके पति की रियासत तक छोड़ आता है। वहां पहुंचने पर उसे पता चलता है कि इस बीच उसके पति ने एक दूसरी पत्नी रख ली है। निराश और निरुपाय बहन इस देश निकाले के दौरान अपने भाई

का साथ देती है। नदी किनारे का वह स्थान जहां उन दोनों ने अपनी नौका किनारे से बांधी थी, वह स्थान अब भी 'छोटी रानी का हाट' कहा जाता है।

एक कथा-कृति की दृष्टि से इस उपन्यास के बारे में विशेष कुछ कहने को नहीं है। लेकिन ऐतिहासिक महत्व की दृष्टि से इतना अवश्य कहा जा सकता है कि लेखक ने इस बीच काफी प्रगति कर ली थी। यह घर के पिछवाड़े उस एक छोटी-सी नर्सरी में लगी उस क्यारी की तरह है जहां बिरवे के रूप में उगे पौधे उखाड़ कर दूसरी जगह रोप दिए गए हैं—ताकि उनमें फूल खिल सकें। ऐसी बहुत सारी स्थितियों और पात्रों को जिन्हें लेखक ने अपने नाटकों में पल्लवित और विकसित किया, वे अपने प्रारंभिक रूप में यहां देखे जा सकते हैं– एक राजा, जो अपनी ही प्रजा के हितों के विरुद्ध है, एक राजकुमार, जो अपने पिता के दुष्कर्मों के खिलाफ विद्रोह करता है, एक वृद्ध जो बड़ा सीधा-सादा और विनोदी है– देखने में एकदम भोला लेकिन अपनी समझ-बूझ में और मानवीय स्तर पर जीवन के बारे में कृतिकार के दर्शन को व्यंग्यमुखर करता हुआ, और एक युवा स्त्री, जो अपने प्रेम में और अपनी घृणा में पुरुष पात्रों की अपेक्षा अधिक जीवंत और यथार्थोन्मुख है।

गंगा किनारे स्थित कोठी पर काव्यमय अवकाश बिता लेने के बाद दोनों भाई कादम्बरी देवी के साथ कलकत्ता लौट आए। लेकिन ये अपने पैतृक आवास जोरासांको नहीं गए बल्कि इन्होंने अलग से अपना एक घर स्ट्रीट पर ले लिया जिसके पास (मुख्य सड़क पर) इंडियन म्यूजियम की इमारत स्थित है। चहल-पहल से भरे इस महानगर के बीचों बीच इस लंबे-चौड़े घर में युवा कवि ने पहली बार बड़ी गहराई से जो आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त किया और फलतः उससे जैसा वैविध्यपूर्ण और प्रामाणिक बोध मिला उसने उनके पूरे जीवन पर बड़ा गहरा प्रभाव डाला। इस बारे में उन्होंने अपनी 'जीवन-स्मृति' में और बाद में 'द रीलिजन आफ मैन' (मानव धर्म) में विस्तार से लिखा। एक सुबह, जब वह घर के छज्जे पर खड़े थे और सड़क के छोर पर, पेड़ों की कतार के पीछे से सूरज निकल रहा था –"अचानक मेरी आंखों के सामने एक अजीब-सा दृश्य झिलमिला उठा। मुझे जान पड़ा कि सारी पृथ्वी एक आश्चर्यजनक दीप्ति में नहा रही है और सौंदर्य तथा आनंद की लहरें चारों ओर उमड़ती चली जा रही हैं।" निराशा और अवसाद के ढेर जो आत्मा पर बोझ बने हुए थे, और इसे स्वकेंद्रित करके अपने ही हृदय के विकारों को प्रश्रय दे रहे थे, शरीर से किसी परिधान की तरह पूरी तरह खिसक कर नष्ट हो गए। और इस तरह बाहरी दुनिया की सारी तुच्छता एकदम समाप्त हो गई थी। "किसी सार्वजनिक स्थान पर तमाम चीजों और तमाम लोग-बाग पर जड़ा अदृश्य पटल जैसे एक बारगी हटा दिया गया था और अब उनका परम वैशिष्ट्य मेरे मानस में गहराता चला गया।"

यह एक सुविस्तृत अनुभव था जिसने उसे चेतना के विभिन्न स्तरों पर पहुंचाया। यहां उसने केवल अपनी आंखों से ही देखा या केवल अपने कानों से ही सब कुछ नहीं सुना

बल्कि अपने संपूर्ण सत्व से इसका अनुभव किया। कुल मिलाकर यह एक ऐसा आश्चर्य था—जिसका कोई अंत नहीं था। यह अनुभव लगातार चार दिनों तक रहा और इस दौरान वह आध्यात्मिक उत्कर्ष के उस उन्नत शिखर पर अवस्थित था-- जहां से उसे हर वस्तु अधिक विलक्षण, अधिक सत्य, अधिक सुंदर और अधिक आनंदमय प्रतीत होती थी। चौथे दिन के अंत में इस असाधारण मनोदशा के दूर होने के साथ ही, रवीन्द्र ने इस स्थिति का अतिवुमण कर लिया बाद में जिसे उन्होंने 'सीमांत-वय' की संज्ञा दी—जहां सत्य की सीधी किरणें शायद ही विचलित करती हैं और जहां परछाइयां एक दूसरे का पीछा करती हैं। हालांकि यह सीमांत पार कर लिया गया था तो भी अपने गंतव्य तक पहुंचने में काफी देर थी क्योंकि रास्ते में अनगिनत कठिनाइयां थीं।

5

तलाश

प्रकाश,..... ओह... कहां है प्रकाश ?

इस अपूर्व अनुभव वाले दिन रवीन्द्र ने अपनी प्रसिद्व कविता लिखी..- 'निझरिर स्वप्न भंग'—जिसके बारे में प्रतीकात्मक रूप से यह कहा जा सकता है कि उन्होंने एक वयस्क कवि के तौर पर अपना जीवन शुरू किया। जैसा कि उन्होंने कहा—यह थी 'एक प्रवाहशील निर्झरिणी की तरह उमगती और आगे बढ़ती कविता।' हिमालय की हिमाच्छादित गुफा की तरह उसका अंतर अपनी ही रहस्यमयता में बंद होकर रह गया था। अचानक सूर्य की किरणों ने बर्फ की जमी हुई चट्टानों को पिघला दिया। और उन्मुक्त स्रोतस्विनी फूट पड़ी, कल कल ... छल छल... करती उमगती, चट्टानों पर निर्बंध चौकड़ी भरती और हर एक बाधा को पारकर संगीत रचती। अपने आत्म-विसर्जन के उन्माद-उत्कर्ष के साथ यह कविता छलांग भरती और नाचती है। अर्ध चेतनावस्थावाली मनोदशा में, इस संसार की विलक्षणताओं और जीवन के आनंद के पुनराविष्कार से जुड़ी उन्होंने ढेरों कविताएं लिखीं जो बाद में 'प्रभात संगीत' में प्रकाशित हुईं।

ये कविताएं उनकी प्रारंभिक रचनाओं की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ जान पड़ती हैं, न केवल कवि की भावदशा और दृष्टिकोण के नाते बल्कि भाषा और छंद पर अधिकार की दृष्टि से भी। इनमें से एक कविता, जिसे उन्होंने अपने संकलन में पहली कविता का स्थान दिया, अपनी भर्त्सना या विकृत कल्पनाओं की अंधेरी दुनिया में एक विषकीट की तरह बंद किए रखा जो जिस फल पर डेरा जमाता है, उसे ही काट खाता है। एक दूसरी कविता में, वे अपने जीवन की समीक्षा करते हैं कि कैसे अपने हृदय के बीहड़ में ही वह अपनी राह खो बैठे और प्रकृति जो उनकी प्रसन्नता का स्रोत थी—रूठ गई थी और अब किस तरह उन्होंने अपनी खोई हुई थाती को सुविस्तृत आयामों के साथ फिर से प्राप्त कर लिया है। इस तरह वे एक-के-बाद दूसरी कविताओं में एक नए कलेवर में बड़े उत्साह से अपनी नई आस्था का उत्सव मनाते चलते हैं और किसी को भी यह देखकर हैरानी हो सकती है कि उनकी यह प्रसन्नता उस जानी-पहचानी आत्मकेंद्रित किशोर मानसिकता और 'सांध्य संगीत'

में जिस उदासी का गुणगान किया गया था– उनसे सर्वथा अलग और अप्रभावित है। इतना ही नहीं, ये कविताएं अपने पीछे आनेवाली उस राजकीय शोभा यात्रा की अधिकारी अग्रूदत हैं, जिसने भाषा और छंद के क्षेत्र में एक ऐसे नवीन आंदोलन का सूत्रपात किया जिससे बंग्ला काव्य अब तक अछूता था। इनमें से अधिकांश कविताएं इस नए प्राप्त आनंद का उच्छ्वास मात्र ही नहीं हैं—इनमें से कुछ में वह वैचारिक रीढ़ मौजूद है जो अब तनकर खड़ी थी। ये परवर्ती कविताएं जिनमें संवेदना, कल्पना, विचार और संगीत का अनूठा सम्मिश्रण था और ये महान कविताओं के लक्षण से युक्त थीं।

उस युवा लेखक के लिए यह समझना कि अगर सार्वजनिक स्थानों के दृश्य और कलकत्ता की गंदी सड़कों का शोर-शराबा भी उन्हें इस तरह की खुशी दे सकता है तो फिर हिमालय-भ्रमण से उन्हें और भी ज्यादा खुशी मिलेगी। इसलिए उन्होंने अपने भैया भाभी के साथ दार्जिलिंग की यात्रा की, जहां से भव्य कंचनजंघा शिखर दिखता था, जो माउंट एवरेस्ट के बाद दूसरा सबसे बड़ा हिमशिखर है। "लेकिन विजय सुद्दर स्ट्रीट के उसके छोटे-से घर से ही जुड़ी रही। और जब पर्वतों पर आरोहण करने के बाद मैंने चारों ओर देखा तो मुझे तुंरत ऐसा जान पड़ा कि मैंने अपनी नई अंतर्दृष्टि खो दी है... मैं जब जवाहरात की तारीफ कर रहा था तभी अचानक उसका ढक्कन बंद हो गया था, और मैं बंद होती मंजूषा की तरफ टकटकी लगाकर देखता रह गया।"

तो फिर वह सौंदर्य कहां था, जिसने अभी अभी उनका हृदय चुरा लिया था? क्या था इसका रहस्य? कवि की धारणा थी कि उन्होंने सौंदर्य के रूप में जो कुछ देखा या संगीत के रूप में सुना वह और कुछ नहीं उस लय की प्रतिध्वनि मात्र थी, जो सारे विश्व-हृदय को आंदोलित करती है। उन्होंने दार्जिलिंग में ही लिखित 'प्रतिध्वनि' शीर्षक कविता में इस विचार को कई रूपों में बड़ी काव्यात्मकता से अभिव्यक्त किया। यह कविता और उनके द्वारा बाद में लिखी जाने वाली ऐसी कई कविताएं—स्पृहणीय तौर पर जटिल हैं और इसके निर्विवाद महत्व को लेकर आलोचकों में अब भी ठनी रहती है। जब यह पहली बार प्रकाशित हुई तो कवि के दो मित्रों में यह शर्त बदी गई थी कि दोनों में कौन-सा अर्थ सही है। "मेरे लिए संतोष की बात इतनी ही थी कि जब वे सटीक उत्तर के लिए मेरे पास आए तो मैं भी उनकी तरह ही इस बुझौवल का हल ढूंढ़ पाने में सक्षम नहीं था और इस बारे में दोनों में से कोई भी अपनी रकम हारने को तैयार नहीं था।"

ऐसी किताबी झड़प के बारे में और सब कुछ दिमागी तौर पर समझने की कोशिश पर अपनी टिप्पणी करते हुए रचनाकार ने अपनी 'जीवन-स्मृति' में लिखा—"लेकिन क्या कोई कविता इसलिए लिखता है कि उसे किसी विचार या वस्तु की व्याख्या करनी है। हृदय द्वारा अनुभूत भाव ही कविता के रूप में बाह्याकार प्राप्त करते हैं इसलिए किसी कविता को सुनने के बाद अगर कोई यह कहे कि यह उसके पल्ले नहीं पड़ी तो मुझे बड़ी उलझन

होती है। अगर कोई किसी फूल को सूंघने के बाद कहे कि मेरी समझ में कुछ नहीं आया तो मेरा उत्तर होगा कि इसमें समझने जैसी कोई बात नहीं, यह तो मात्र सुरभि है... इसी तरह कठिनाई तब पैदा होती है जब केवल शब्दों के अर्थ को पकड़ा जाता है। यही कारण है कि कवि को उन शब्दों को, छंदों और मात्राओं में बांधकर नया रूप और आकार प्रदान करना होता है—ताकि उनका अर्थ एक सीमा तक नियंत्रित रहे और निहित भाव स्वयं को अभिव्यक्त कर सके।"

इस कृति में संकलित अन्य दो कविताओं में भी उनके रुचिसम्मत दर्शन के बीजाणु प्राप्त होते हैं कि होना ही जीना है क्योंकि जीवन निरंतर गतिशील है और जो स्वयं को बार बार नवीन करता जाता है मृत्यु भी उसके पुनर्नवीकरण में सहायता करती है। ये कविताएं, जिनके शीर्षक 'अंतहीन जीवन' और 'अंतहीन मृत्यु' हैं इस बात की पुष्टि करती हैं। जीवन मृत्यु के द्वारा की गई भरपाई है और मृत्यु कभी नहीं मरती। "प्रति वर्ष मैं जीता भी रहा हूं और मरता भी रहा हूं।" एक दूसरी लंबी कविता, जो अपने स्वर में वस्तुतया आधिभौतिक है और एक तरह से इसका सारा प्रकरण ही बड़ा उदात्त है जिसमें हिंदू मिथकों को आधुनिक पदार्थ विज्ञान की संभावना के साथ जोड़कर एक के बाद दूसरे विश्व की सृष्टि और संहार-निर्माण और लय के अंतर के खगोलीय रूपक में रखा गया है। सीमातीत, कालातीत और प्रकाशातीत इस महाशून्य के बीच स्रष्टा ब्रह्मा बैठा है, उसकी आंखें समाधिस्थ हैं और उनमें गहरी खामोशी है। अचानक उसकी आंखें खुल जाती हैं और वह सृष्टि का आद्य-स्रोत उचारने लगता है। देखते ही देखते यह शून्यता प्रज्जवलित नीहारिकाओं से और चक्कर काटती आग की लपटों से भर जाती है। तभी पालनकर्ता विष्णु अपना शंखनाद करते हैं और सारी अस्त-व्यस्तता समाप्त हो जाती है। पृथ्वी शांत हो जाती है और सृष्टि में सबके हृदय को आनंद से परिपूर्ण करने के लिए जीवन और आनंद उत्पन्न किए जाते हैं। लेकिन ये तमाम सृष्टियां इस व्यवस्था के अंतर्गत अनंत और अंतहीन परिक्रमा करती हुई थक जाती हैं और स्वयं अपने से ही क्लांत सृष्टि संहार के देवता शिव की प्रार्थना करती हैं ताकि संभावित सर्वनाश से रक्षा हो सके और शांति विराज सके। शिव अपना तीसरा विकराल नेत्र खोलते हैं और तत्क्षण सारे सूर्य, चांद और तारे टूट टूट कर बिखर जाते हैं और ब्रह्मांडीय चिता पर ये सारी चीजें भस्मीभूत हो जाती हैं। एक बार फिर महाशून्यता विराजने लगती है और ये ब्रह्मा की आंखें समाधि में निमग्न हो जाती हैं।

कलकत्ता में रवीन्द्रनाथ की प्रारंभिक गतिविधियों में उनके भैया ज्योतिरीन्द्रनाथ को बंगाल में सर्वप्रथम किसी साहित्यिक अकादमी की स्थापना में सहयोग देना था। इस अकादमी को आरंभ करने के पीछे बंग्ला भाषा का विस्तार करना और इसे साधन-संपन्न करना और साथ ही इसे आधुनिक विचार, विशेषकर आधुनिक विचारों के प्रचार-प्रसार का उपयुक्त

माध्यम बनाना था। इसलिए इन भाइयों ने इस दिशा में कार्य आरंभ किया और कई अग्रगण्य विद्वानों और लेखकों को—जिनमें से कथा साहित्यकार बंकिमचन्द्र चटर्जी भी एक थे—राजी कर सारस्वत समाज की स्थापना की। जब रवीन्द्रनाथ महान विद्वान, शिक्षाशास्त्री, समाज सुधारक पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के पास गए और अकादमी की सदस्यता के लिए उनसे अनुरोध किया तो उनका उत्तर कुछ इस तरह का था, "मेरी सलाह है कि तुम हमें इससे अलग ही रखो। तुम इन बड़े बड़े नामवर लोगों के साथ कभी अपना कार्य पूरा नहीं कर पाओगे, ये लोग कभी एक-दूसरे से सहमत नहीं होते।" वह सटीक चेतावनी, जो कि आज भी उतनी ही प्रासंगिक है, बिल्कुल सही साबित हुई और वह अकादमी एक अच्छी शुरुआत के बाद अनावश्यक वाद-विवाद में पड़ गई और अपना अस्तित्व गंवा बैठी।

सन 1883 की गर्मी में, दोनों भाई और कादम्बरी देवी, भारत के दक्षिणी पश्चिमी समुद्र किनारे स्थित इलायची और चंदन के सुरक्षित क्षेत्र कारवार क्षेत्र में रहने चले गए। इनके बड़े भाई सत्येन्द्रनाथ तब वहां जिला जज थे और रवीन्द्रनाथ ने यहां कुछ बड़े ही सुखद और निश्चिंत दिन उन लोगों के साथ बिताए, जिन्हें वे सचमुच बहुत प्यार करते थे। इनमें सत्येन्द्रनाथ के वे दोनों लड़के भी थे जो उनके ब्राइटन के दिनों के साथी थे। यहीं उन्होंने अपना पहला महत्वपूर्ण गद्य-नाटक 'प्रकृति प्रतिशोध' लिखा और बाद में इसे अंग्रेजी में 'संन्यासी' नाम से रूपांतरित किया। इसमें आत्मा और जीवन, सत्य और सौंदर्य तथा विवेक और प्रेम के बीच के शाश्वत द्वंद्व चित्रित हैं। एक संन्यासी ने अपने आप को एक गुफा में बंद कर लिया है, आत्म-सिद्धि के लिए और प्रकृति की सीमाओं से परे जाने के लिए यह नाटक वहां से आरंभ होता है जहां वह ऋषि अपनी गुफा के सामने खड़ा है और पिचहत्तर पंक्तियों के एक उदात्त एकालाप में अपनी मुक्ति की घोषणा कर रहा है जिसमें जीवन पर गंभीर अभियोग के साथ साथ इसके प्रलोभनों की ओर संकेत है। "मैंने उस वरदान की भी जांच की है, जब भगवान शिव ने शाश्वत शून्यता से सृष्टि पर लगे दूषित कलंक को मिटा दिया था और अपनी अपराजेयता में जा विराजे। आनंद की कड़कती बिजलियां भी उन्हें विषण्ण अंधेरे की ओर आकृष्ट कर सकती हैं, क्योंकि उसने आत्म ज्ञान की चिता में सारी संवेदनाओं को भस्म कर दिया है। अब वह सगर्व सारे विश्व में घूमेगा और मनुष्य जाति के अज्ञान पर दया दिखाएगा।"

जब वह अपने निकटवर्ती नगर में आता है तो वह एक अछूत और अनाथ कन्या से मिलता है, जिसे केवल मंदिर का पुरोहित ही नहीं बल्कि हर कोई दुत्कार और झिड़क देता है। वह अपनी असहायतापूर्ण निराशा में संन्यासी के पास आती है और वह करुणा और स्नेह जिससे कि वह वर्षों से वंचित थी, उससे पाती है। संन्यासी यह सोचकर भयभीत हो जाता है कि वह मनुष्यवत आचरण न करने लगे— उससे दूर चला जाता है। लेकिन वह अपने आप को अधिक दिनों तक उससे अलग रख नहीं पाता और जब वह वापस

लौटता है तो पाता है कि वह मर चुकी है। मृत्यु उसके बोध पर जैसे मोहर लगाती है, "लघु में ही उस महान की प्राप्ति की जाती है, रूप बंधन में ही उस अरूप की और प्रेम में ही आत्मा की शाश्वत मुक्ति है।"

इस नाटक में ढेर सारे पात्र हैं लेकिन इनमें से शायद ही किसी को पूरी तरह से चरित्र कहा जा सकता है। वे राहगीर और यायावर हैं, अनाम और अपरिचित हैं और ये सब के सब एक मुख्य सड़क पर बसे एक गांव के जीवन की रोजमर्रा की झांकी प्रस्तुत करते हैं। जैसा कि पहले भी कहा गया है, रवीन्द्रनाथ के नाटक ऐसे अनजान चरित्रों और अबूझ पात्रों से भरे पड़े हैं– जो समाज के विभिन्न तबकों का और ऐसे समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसमें उसके लिए कुछ कह पाने की बहुत कम गुंजाइश है क्योंकि ये दर्शकों को यही बताना चाहते हैं कि नाटक चाहे जैसा भी चलता रहे बाकी सारी दुनिया इसी तरह कायम रहेगी। ये पात्र शेक्सपियर के रूखे पात्रों की तरह देशी बोली बोलते हैं, तीखे और चुटीले व्यंग्य में शामिल होते हैं और यह सब के सब प्रमुख चरित्रों के हवाई विचारों और श्रेष्ठ कविताओं से छुटकारा दिलाते हैं।

गर्मी और बरसात के मौसम कारवार में बिताने के बाद सर्दी में यह मंडली कलकत्ता लौट आई थी और अब यह चौरंगी के निकट लोअर सर्कुलर रोड स्थित एक बंगले में रहने लगी थी। तब उस इलाके में इतनी घनी आबादी नहीं थी जैसी कि आजकल है। और इस बंगले में जहां ये भाई ठहरे थे, उसके ठीक सामने एक बस्ती थी– जहां मेहनत मजूरी करने वाले गरीब लोगों की झुग्गियां थीं। अपने बंगले के प्रथम तल से रवीन्द्रनाथ इन लोगों की घनी बस्ती में होने वाले रोजमर्रा के नाटकों को देखा करते थे, जहां औरत और मर्द अपने तमाम कामों में लगे रहते और बच्चे खेल रहे होते थे। "मेरे लिए यह सब एक जीवंत कहानी की तरह था।" अब कवि की प्रसन्नता में एक कलाकार की आंखें भी शामिल हो गई थीं, "इस समय कई अंतर्दृष्टियों वाली प्रतिभा मुझमें घर कर गई थी।" वह सचमुच बड़े उत्सुक हो उठे थे, " यह देखकर कि जो मस्तिष्क सोचता है उसे आंखें देख लेती हैं और आंखें वही देख रही होती हैं, जो मस्तिष्क सोच रहा होता है।" और यह उचित ही था कि उन्होंने इस दृष्टि से जो कविताएं लिखीं वे बाद में 'छवि ओ गान' में प्रकाशित हुईं और जो उनकी मनोदशा की उल्लेखनीय अनुकृतियां हैं। वह देख रहे थे और आगे बढ़ रहे थे और इन सभी अवसरों पर उनका शिल्पी लगातार नवीन तूलिकाघात करते हुए अपनी तकनीक सुधारता चला जा रहा था।

हालांकि सभी कविताएं तस्वीर नहीं होतीं और सब की सब किसी एक ही ढर्रे में बंधी नहीं होतीं। उदाहरण के लिए, उनकी 'राहुर प्रेम' (राहु का प्रेम) शीर्षक कविता अर्द्ध-प्रतीकात्मक है और अर्द्ध-रहस्यवादी है–अपने ही मानस के गहन तिमिर में अशांति का रूपक जो उस छवि या चित्र से सर्वथा अलग जिसे बाहर से देखा जा सकता है। इस

पूरी पुस्तक में यह सबसे शक्तिशाली कविता है, ओजस्वी और भावप्रवण। राहु, एक दैत्य है–जो चांद से प्रेम करता है और दीर्घकाल से उसका पीछा करता रहता है––रवीन्द्रनाथ की कविता में ऐंद्रिक, लिप्सापूर्ण और सब कुछ लील जाने वाले प्रेम का एक पक्ष, छायावत सदैव विद्यमान रहता है। युवा कवि ने इसमें जीवन के जिस पहलू को देखा है या नहीं भी देखा है, उसके प्रेम को अवश्य ही पहचाना है। इस प्रेम के बारे में कि यह निर्दोष और उदात्त होना चाहिए– वह इसकी यातना और दंश से कदाचित पलायन नहीं कर पाया है। और यह कविता इस कसौटी पर खरी उतरती है। सारांशतया इसकी कुछ पंक्तियां नीचे उद्धृत की जा रही हैं-- अपनी गति और लय में यह मूल की रक्षा करते हुए-- यह 'फ्रायडियन' प्रेम है जो 'प्लेटोनिक' से कह रहा है–

''मुझे पता है तुम्हें जरा भी मेरी नहीं चिंता
लेकिन इससे मुझको कोई अंतर नहीं पड़ता
वैसे भी तुम मेरी चिरबंदिनी बनी रहोगी
तुम्हारी आत्मा मेरी चेतना की अभेद्य लौह शृंखला में जकड़ी रहेगी
तुम जहां कहीं भी जाओगी
हर मौसम में मैं तुम्हारा पीछा करता रहूंगा
हेमंत हो या बसंत--दिवस हो या रजनी
मैं अपने पाषाण प्राण की शृंखला
तुम्हारे चरणों में डाल दूंगा।
मैं आरंभ से ही रहा हूं तुम्हारा संगी
तुम्हारी अपनी ही छाया तुम्हारी हंसी में तुम्हारे आंसुओं में
कभी अपने आगे कभी अपने पीछे--देख सकती हो तुम
तुम हो मेरी तिमिर काया।
रात्रि में जब भी कभी तुम अकेली और उदास बैठी होगी
तुम्हें यह देखकर हैरानी होगी कि मैं तुम्हारे पास खड़ा हूं
और तुम्हें एकटक निहार रहा हूं
तुम जहां कहीं भी मुड़कर देखोगी–मैं वहां खड़ा मिलूंगा
मेरी छाया आकाश और धरा को आच्छादित करता–
मेरा करुणकातर स्वर और मेरा निष्ठुर अट्टहास चतुर्दिक हो
रहा प्रतिच्छायित।
मेरी चिरतृषित मैं सदैव तुम्हारे पास हूं
तुम्हारे वक्ष में छिपी कटार की तरह, तुम्हारे हृदय में
हालाहल की तरह

और तुम्हारी देह को आक्रांत करने वाली किसी व्याधि की तरह"

इस बीच कवि का गद्य-लेखन लगातार जारी रहा– सामाजिक और राजनैतिक मुद्दों पर खंडनात्मक उग्र लेख और साहित्यिक तथा दार्शनिक समस्याओं का मनस्वितीपूर्ण विश्लेषण। ये खुशी के दिन थे निर्बंध और किसी भी दायित्व से मुक्त। वे उनके साथ थे, जो उन्हें सबसे ज्यादा चाहते थे यह अनुभव करते हुए कि प्रतिदिन उनकी शक्ति में वृद्धि हो रही है। देखने में भले ही ये शिथिल जान पड़े लेकिन ये भरपूर फसल काटने के दिन थे। आरंभिक प्रमाद और एक अनाम क्षुधा, जो उनके हृदय में कुंडली मारे बैठी थी, अब एक पुरुषोचित एवं तटस्थ अंतर्दृष्टि के लिए उनके रास्ते से हट गए थे और अब उन्होंने संपूर्ण उत्साह के साथ संसार और जीवन के आनंद का उपभोग करना शुरू कर दिया था जो कि उनकी प्रकृति थी।

लेकिन उनकी नियति उनके लिए पहले से ही एक फंदा बिछा चुकी थी और दायित्वविहीन और प्लावित प्रसन्नता से परिपूर्ण ये दिन बहुत कम समय के लिए थे। उनके बड़े भाई ज्योतिरीन्द्रनाथ दिन-ब-दिन अपने दुस्साहसपूर्ण कारोबारी उपक्रमों की उलझनों में फंसते चले जा रहे थे और उनके पास इतना वक्त नहीं था कि वे अपनी पैतृक ज़मीन और जायदाद की देखभाल कर सकें। महर्षि भले ही निरासक्त और दूरस्थ थे लेकिन वे अदृश्य विधाता की तरह सावधान और सतर्क थे और इस बात का निर्णय ले चुके थे कि यही वह उपयुक्त समय है जब कि रवि को परिवार के रथ में अच्छी तरह से जोता जा सकता है। अगर महर्षि एक साथ स्रष्टा और सृष्टि पर दृष्टि रख सकते थे तो कोई कारण नहीं था कि उनका पुत्र कविता और पारिवारिक संपत्ति दोनों की देखभाल न कर सके। लेकिन ऐसा करने के पहले जरूरी था कि इस जंगली घोड़े को अच्छी तरह काबू में लाया जाए और उस पर जीन-बख्तर चढ़ाई जाए। इसलिए एक खामोश हुक्मनामा जारी किया गया कि सारा परिवार इस युवक के लिए एक उपयुक्त वधू की तलाश करे।

प्रचलित रीति-रीवाजों के अनुरूप, परिवार की महिलाओं ने इस परिवार के सबसे छोटे-बेटे के लिए बहू चुनने की जिम्मेदारी अपने सिर माथे पर ले ली लेकिन वे इस मामले में इतनी स्वतंत्र नहीं थीं कि वे किसे चाहती हैं। महर्षि धार्मिक मामलों में भले ही उदार और प्रगतिशील हों, सामाजिक नियमों के अनुपालन में कट्टर थे। उनके अनुसार लड़की के मां-बाप का ब्राह्मण होना अनिवार्य था। इस पसंद के चलते बात उन कुछ गिने-चुने परिवारों तक सीमित रह गई, जो जैसौर जैसे छोटे-से कस्बाई शहर में उसी पिराली उपजाति से संबद्ध थे। और इस तरह एक ग्यारह साल की लड़की, जो उनकी वधू के रूप में चुनी गई वह कोई और नहीं, बेनीमाधव राय चौधरी की बेटी थी– जो ठाकुर परिवार की जागीर की देखभाल करने वाले एक कर्मचारी थे।

ठाकुरों के मुकाबले यह परिवार बहुत साधारण था। लड़की कोई सुंदर नहीं थी और

लगभग अनपढ़ थी। उसने बंग्ला की पहली वर्णमाला पुस्तक तक ही अपनी पढ़ाई की थी। यह इतिहास की विडंबनाओं में ही है कि अपने युग के सर्वाधिक रोमांटिक आदमी का विवाह इतने गैर रोमांटिक ढंग से तय हुआ। तत्कालीन सामाजिक रूढ़ियों के रास्ते में आड़े आ जाने जैसी बात कोई नई बात नहीं थी। और इस बात में भी हैरानी नहीं होनी चाहिए कि रवीन्द्रनाथ ने इस पसंद के आगे घुटने टेक दिए। साहित्यिक प्रयोग के क्षेत्र में अपने उग्र रोमांटिक स्वभाव और सक्रिय पहचान के बावजूद रवीन्द्रनाथ एक विनीत और आज्ञाकारी संतान थे-- और अपने पिता के जादुई व्यक्तित्व से इतने सम्मोहित थे कि पिता के वचन उनके लिए विधान जैसे ही थे और उन्हें विश्वास था कि महर्षि कभी गलत नहीं हो सकते थे।

प्रत्यक्षतौर पर इस रसापकर्ष के बावजूद महर्षि की निरंकुश और अयुक्तिपूर्ण जान पड़ने वाली यह पसंद आगे चलकर स्वयं रवीन्द्रनाथ के लिए बहुत लाभप्रद सिद्ध हुई। सीधी-सादी-सी यह बहू एक सर्वश्रेष्ठ पत्नी साबित हुई। ठीक वैसी ही जैसी कि उन्हें चाहिए थी। अंत तक रोमांटिक बने रहने वाले रवीन्द्रनाथ को अपनी पत्नी से आगे किसी प्रेरणा की नहीं बल्कि प्रतिकारक की आवश्यकता थी। अगर उन्होंने किसी सुंदरी से विवाह किया होता तो वह शायद उससे तंग आ जाते, लेकिन उनकी पत्नी ने बड़े ही जतन से सुख और सुविधा का जो सुरक्षित घेरा उनके चारों ओर तैयार किया था– उससे वे कभी परेशान नहीं हुए। अपने को सदा ओट में रखकर की जाने वाली निष्ठापूर्ण सेवा के प्रति जिसने उनकी प्रतिभा को फलप्रसू बनाने में सहायता की, इस नाते वे उसका आजीवन आभार मानते रहे।

इस वधू का नाम था भवतारिणी, जो एक बड़ा ही घिसा-पिटा नाम था और जैसा कि आज है तब भी था कि लोग इसे सुनकर मुस्कुरा देते होंगे। विवाह के बाद इस नाम को मृणालिनी में बदल दिया गया– एक प्यारा-सा नाम जो उसे उसके पति ने दिया था और जो उस अध्याय का पहला ही चरण था। नलिनी, एक ऐसा नाम था, जो उन्हें बहुत ही प्रिय था और मृणालिनी ने कमोबेश इस नाम को चरितार्थ कर दिया था। वस्तुतया रवीन्द्रनाथ इन दिनों इसी नाम की एक गद्य नाटिका पर लेखन कार्य कर रहे थे। इसकी कथावस्तु सुपरिचित थी और उनकी उस किशोर कल्पनाओं का ही पुनराख्यान, जिसमें एक प्यारी निश्छल हृदय-किशोरी नलिनी को केंद्र में रखकर इस नाटक के विभिन्न पात्रों की भूमिका में परिवार के सभी सदस्यों को सम्मिलित होना था—और यह तय किया गया कि हर सदस्य इसका खंड-लेखक होगा और अपनी भूमिका के अनुरूप अपने संवाद लिखकर लाएगा। यह प्रयोग बड़ा ही दिलचस्प और अनूठा था। और शायद बहुत ही मौलिक। तभी यह सफल नहीं हुआ। और अंत में, रवीन्द्रनाथ को यह नाटिका खुद पूरी करनी पड़ी।

लेकिन इसके पहले कि इस नाटिका का मंचन हो—परिवार में एक त्रासदी घट गई।

अप्रैल 1884 में रवीन्द्रनाथ की सर्वप्रिय भाभी कादम्बरी देवी ने अचानक आत्महत्या कर ली। तब वह केवल पचीस वर्ष की थी। कोई नहीं जानता कि उसने ऐसा क्यों किया? इस बारे में परिवार के किसी सदस्य को अगर कुछ मालूम भी था तो वह उसी के साथ चला गया। किसी प्रामाणिक सूचना के अभाव में किसी कथन या अनुमान से कोई लाभ नहीं।

इस त्रासदी ने रवीन्द्रनाथ के मानस पर एक गहरा आघात किया। यह उनके जीवन का पहला सबसे बड़ा शोक था, मृत्यु के भयानक यथार्थ का पहला अनुभव। हालांकि इसके पहले अपनी मां की मृत्यु के बारे में उन्हें पता था। लेकिन तब वे बहुत छोटे थे इसलिए उसके प्रभाव का पता नहीं चला। जबकि यह आघात उससे बहुत अधिक था क्योंकि भाभी उन पर स्नेह की वर्षा करती रही थी। अब उसकी कमी को कोई पूरा नहीं कर सकता था। जीवन के अति संवेदनशील वर्षों में वह उनकी संगिनी, उनकी विश्वस्त और उनकी आश्रय थी। इसके बाद भी उन्हें लगातार कई कई बार मृत्यु के आघात को झेलना पड़ा और उनके जीवन में ऐसी विषादपूर्ण घड़ियां बराबर आती रहीं लेकिन मानस और मनीषा पर इस क्षति से जितना गहरा प्रभाव पड़ा, उतना संभवतया किसी और से नहीं। फिर भी इस घटना ने उन्हें तोड़ा नहीं बल्कि उन्हें गढ़ा। यह उनका आत्ममंथन था, जिससे कि वे निरंतर मजबूत और प्रौढ़ होते चले गए। यह वह प्रेम ही था– जो अपने पीछे और नियति के विरुद्ध कोई अवसाद, कोई तिक्तता, चीख या चीत्कार नहीं छोड़ जाता– बल्कि जीवन की सच्चाइयों की गहरी समझ पैदा करता है और मृत्यु का अर्थ खोल जाता है।

बाद में रवीन्द्रनाथ इस बारे में कहते हैं, "मैं तब यह समझ नहीं पाया था कि जीवन के अंतरालों में हंसी और आंसू की सुपरिचित चिंदियां हो सकती हैं, जिसे मुझे झेलना था, और इसके परे मैं कुछ देख पाने में अक्षम था। जब कभी भी मृत्यु आती थी और जीवन के एक हिस्से को अचानक एक प्रकार से रिक्त कर चली जाती थी, मैं बुरी तरह खो जाया करता था। लेकिन बाकी सारी चीजें यथावत रहती थीं– पेड़-पौधे, धरा, सूरज-चांद और सितारे और वह जो कि उन जैसी ही एक सचाई थी, बल्कि उन सब से कहीं अधिक यथार्थ क्योंकि मैंने अपने अस्तित्व के हर पहलू पर उसकी छुअन महसूस की थी–अब वही वहां नहीं थी– वह किसी सपने की तरह ओझल हो चुकी थी। यह भयानक विरोधाभास मुझे छलता रहा। मैं अपने आपको कैसे दिलासा दे पाता कि मेरे पास क्या कुछ था जो छिन चुका था?... और इस दमघोंटू अंधेरे के बीच भी, मेरे हृदय के ऊपर से खुशियों का कोई झोंका आएगा, बार बार और मुझे हैरानी में डाल जाएगा। यह कष्टकर बोध कि जीवन कोई हमेशा ठहरने वाला साधन नहीं, आनंद के स्रोत में रूपांतरित हो गया। और यह कि हम सब हमेशा के लिए जीवन की कठोर सच्चाइयों वाली अभेद्य दीवारों में बंद कैदी हैं... ये विचार तरंगें सचमुच हृदय को प्रसन्न करनेवाली थीं : अनासक्ति का यह बोध

मेरे भीतर गहराता चला गया और प्रकृति का सौंदर्य आंसुओं से भरी मेरी आंखों में और भी गहरे अर्थ खोलता चला गया। उसकी मृत्यु ने मुझे जीवन और विश्व को उनकी समग्रता में देखने और उनके सही परिदृश्य में देखने के लिए एक अनिवार्य दूरी और निर्लिप्तता प्रदान की और जब भी मैं मृत्यु के विशाल पटल पर अंकित जीवन के चित्रों को देखता हूं तो यह मुझे अपरूप सौंदर्यमंडित जान पड़ता है।"

ठाकुर परिवार एक साहित्यिक मासिक पत्रिका 'भारती' पहले से ही प्रकाशित कर रहा था, जिसमें रवीन्द्रनाथ नियमित रूप से लिखते रहते थे। इसमें किशोरों के लिए एक और मासिक पत्रिका 'बालक' जुड़ गई, जिसे सत्येन्द्रनाथ की पत्नी ने शुरू किया था। इस पत्रिका की सामग्री जुटाने में स्वयं को असमर्थ पाकर उसने अपने तरुण देवर पर यह उत्तरदायित्व सौंप दिया, जिसे मासिक चंदे के रूप में, इसके पन्नों को भरने के लिए शिशुगीत, कविताएं, कहानियां, नाटक और उपन्यास सभी लिखकर देने होते थे। इसी पत्रिका के लिए उन्होंने 'मुकुट' शीर्षक से एक लघु ऐतिहासिक उपन्यास लिखा और जिसका कई वर्षों के बाद उन्होंने शांतिनिकेतन आश्रम के विद्यार्थियों के लिए नाट्य-रूपांतर प्रस्तुत किया। यह नाटक वहां आज भी मंचित होता रहता है। लेकिन इस पत्रिका की क्षुधा भला इससे कहां शांत होने वाली थी? एक दूसरी कथा-शृंखला की मांग आई और वे यह समझ नहीं पा रहे थे कि क्या कुछ लिखा जा सकता है? तभी एक घटना घट गई। एक बार वे देवघर से कलकत्ता लौट रहे थे तो रेल का डिब्बा खचाखच भरा था और सोने की जगह तक नहीं थी। " सोचा, इसी मौके को मैं 'बालक' में लिखी जानेवाली कहानी की कथावस्तु तैयार करने में लगा सकता हूं। कहानी के ताने-बाने को पकड़ने की कोशिश के बावजूद मैं छला जाता रहा। तभी मेरी सहायता के लिए नींद आ पहुंची। मैंने सपने में देखा कि एक मंदिर की सीढ़ियां बलि का शिकार हुए लोगों के खून से लथपथ हैं और वहां खड़ी एक छोटी-सी लड़की अपने पिता से बड़े ही करुणार्द्र स्वर में पूछ रही है, 'पिता जी, यह सब क्या है? इतना रक्त किसलिए बह रहा है?' और पिता जो अंदर-ही-अंदर संत्रस्त और विचलित है, पत्थर की तरह दिख रहा है और उसे ढाढ़स बंधा रहा है। तभी मेरी नींद खुल गई और मुझे लगा मेरी कहानी तो मुझे मिल गई है।"

इस तरह रवीन्द्रनाथ ने अपना उपन्यास 'राजर्षि' लिखना शुरू किया। अपनी नींद वाली घटना को त्रिपुरा के प्रसिद्ध राजा की कहानी के तौर पर गढ़ते हुए लिखा यद्यपि इस उपन्यास का एक अंश ऐतिहासिक अतिनाटकीयता से विकृत हो गया है लेकिन यह देवी रणचंडी काली को प्रसन्न करने के लिए पशु बलि देने की परंपरागत हिंदू-प्रथा की प्रतिक्रिया का एक सशक्त निदर्शन है। पांच वर्षों के बाद उन्होंने इसी कथावस्तु को मुक्त छंद में 'विसर्जन' नाम से लिखा और फिर 1917 में अंग्रेजी में अनूदित कर 'सक्रिफाइस' शीर्षक से प्रकाशित कराया। यह नाटक उक्त उपन्यास का श्रेष्ठ रूपांतरण तो है ही--एक

साहित्यिक कृति के रूप में और रवीन्द्रनाथ के मानवतावाद का भावप्रवण घोषणा-पत्र है। साथ ही, यह उनके अदम्य साहस का भी परिचायक है कि उन्हें अपने ही लोगों की परंपराओं में "जो कुछ भी बेतुका और अमानवीय जान पड़ा"—उसका उन्होंने बहिष्कार किया।

महर्षि तो हमेशा की तरह सजग और सावधान थे, उन्होंने रवीन्द्रनाथ को अपने ब्रह्म समाज का सचिव बना दिया ताकि इस उत्साही घोड़े को कहीं अधिक सुरक्षा के साथ पारिवारिक कोच-बग्घी में जोता जा सके। इसके संभावित परिणाम का भी उन्हें पहले से आभास हो गया था। रवीन्द्रनाथ, जिन्होंने इसके पहले धर्म में कभी कोई गहरी रुचि नहीं ली थी और इसके संस्थागत पहलुओं में इससे भी कहीं कम उनका रुझान था– अपने नए कर्तव्यों को बड़ी गंभीरता से लिया। उन्होंने सामूहिक गायन के लिए स्रोतों की रचना की। राजा राममोहन राय पर एक आलेख लिखा और अपने पिता के धार्मिक विश्वास के प्रचार में कई निबंध लिखे, यहां तक कि उन्होंने उन दुर्जेय बंकिमचन्द्र चटर्जी के खिलाफ अपनी तलवार निकाल ली जिन्होंने जीवन के अंतिम वर्षों में परंपरागत हिंदूवाद की महिमा के प्रचार का बीड़ा उठा लिया था। लेकिन एक ओर जहां इस उदार दिग्गज के मन में इस उतावले तरुण के प्रति बड़ा ही स्नेह था वहां दूसरी ओर इस तरुण के मन में भी बंग्ला के इस वयोवृद्ध साहित्यकार के प्रति बड़ी श्रद्धा थी और इससे पहले कि दोनों के बीच की गलतफहमी और भी पेचीदा हो जाती यह विरोध कुछ ही दिनों में समाप्त हो गया और यह शत्रुता आगे नहीं बढ़ी क्योंकि दोनों ही योद्धा मूलतया सज्जन थे।

हर एक पीढ़ी को अपनी अपनी प्रगति की आकांक्षा होती है और बुद्धिजीवी वर्ग उन दो तरह के लोगों में बंटा होता है जिनमें से एक तेजी से आगे बढ़ना चाहता है तो दूसरा पीछे की ओर मुड़कर जो कुछ भी बेहतर है, उसे थामे रखना चाहता है। लेकिन भारत में, पिछली शताब्दी के आठवें दशक में यह विभाजन और भी तीव्र हो चला था। पश्चिमी शिक्षा और आधुनिक विज्ञान की जानकारी के क्षेत्र परंपरागत ज्ञान और जीवन पद्धति से सर्वथा अलग थे। जिन्होंने इस नए रास्ते के तौर तरीकों को अपना लिया था वे इसके नशे में डूबे हुए थे और जो कुछ भी पुराना था—उसमें उन्हें खामियां नजर आती थीं और जो नए प्रस्थान से सहमे हुए थे वे पुराने की सौम्य सुरक्षा के नाते उससे चिपके हुए थे। हर क्षेत्र के अपने अपने तर्क थे और जहां कट्टरपंथी पितामह और पश्चिमी शिक्षा प्राप्त पौत्र दोनों ही पक्षों के बीच पत्रों की महत्वपूर्ण शृंखला के आदान-प्रदान होते रहे, वहां रवीन्द्रनाथ ने दोनों ही प्रकार के विचारों को ऐसी प्रांजलता और आश्वस्ति के साथ उपस्थापित किया कि उन्हें पढ़ते हुए कोई भी उनके द्वारा प्रस्तुत प्रत्येक तर्कप्रवण विचार से सहमत हो सकता था। "वे पर्वत चाहे कितने ही पावन और सुंदर हैं और जहां से गंगा का उद्गम होता है," रवीन्द्रनाथ ने लिखा, "वे अपने प्रवाहों को वापस मोड़ नहीं सकते। इसे अपने गंतव्य तक की यात्रा करनी ही है– धूल भरे समतल से लेकर समुद्र तक, जहां उसकी

नियति की पूर्णाहुति है।" पितामह इस तर्क पर हंसता है और तरुण को उसकी चतुराई पर बधाई देता हुआ कहता है, "मानवता पानी में बहाई जानेवाली या फेंकी जानेवाली कोई वस्तु नहीं है जो निर्धारित प्रवाह में बिना किसी प्रतिरोध के, बहती चली जाए। मानवता तो चक्कर काटते जल-प्रवाह के बीच उस चट्टान की तरह है जो अपने साथ महान थाती को थामे खड़ी है।" और यह विवाद चलता रहा, टेनिस कोर्ट की गेंद की तरह तर्क और रूपक एक-दूसरे से टकराए जाते रहे—दर्शकों की प्रसन्नता के लिए।

यद्यपि रवीन्द्रनाथ के सहजात और दृढ़ भावावेग ने उन्हें जीवनपर्यंत नवीन के संधान की ओर प्रवृत्त किया, उनकी संवेदना की जड़ें अपनी माटी की संस्कृति में इतनी गहराई से प्रतिष्ठित और दीक्षित थीं कि वे अपनी थाती की अनदेखी नहीं कर सकते थे। इसलिए इस द्वंद्व में किसी भी पक्ष का पूरी तरह साथ दे पाने के अनिच्छुक थे जिसे हर पीढ़ी अपने लिए बार बार नया करती है। उनकी सर्जनात्मक सहानुभूति और मानव स्वभाव के प्रति उनकी गहरी समझ ने उन्हें दोनों प्रकार के दृष्टिकोणों को प्रभावी ढंग से सराहने की क्षमता प्रदान की थी और वे इस मैदान में तभी उतरे जब उन्होंने पाया कि न्याय और मानवता दांव पर लगे हैं। वे किसी भी तरह की कट्टरता से घृणा करते थे और उन्हें लगा कि इस प्रतिक्रिया का एक चरम स्वरूप हिंदू राष्ट्रवाद और भावात्मक राष्ट्रीयतावाद के झंडे तले अपना सिर उठा रहा है। एक तरफ हर चीज को पश्चिमी कहकर उसकी अपेक्षा की जा रही है तो दूसरी तरफ हर चीज को 'आर्यन' बताकर उसे गौरवान्वित किया जा रहा है। इस विषय पर उन्होंने कुछ चुटीले व्यंग्य लिखे। उनसे उनकी प्रसिद्धि ही नहीं बढ़ी बल्कि इनसे यह भी जान पड़ा कि यह तरुण केवल धारदार व्यंग्य का धनी ही नहीं था बल्कि (जोनाथन) स्विफ्ट की कलम की तरह उनकी लेखनी भी कटु हो सकती थी। लेकिन रवीन्द्रनाथ ने अपने आपको स्वभावतया किसी भी तरह सार्वजनिक प्रदर्शन प्रियता से दूर रखा और इस रंगभूमि में वे तभी उतरे, जब उन्हें बुरी तरह उत्तेजित किया गया।

उनकी कविताओं की अगली पुस्तक 'कड़ि ओ कोमल' से पता चलता है कि सार्वजनिक विवादों में व्यस्त रहने की अपेक्षा अपनी सर्जनाचिंता में डूबे रहना कहीं अधिक सार्थक था। रवीन्द्रनाथ अनिवार्य रूप से एक प्रेमी थे— जीवन के प्रेमी। इस धरती और इस पर रहनेवाले प्राणियों के प्रेमी— जो इस पर विचरण करते हैं।

विश्व में व्याप्त निष्ठुरता, अन्याय और विद्रूपता से घृणा करने के बावजूद कुछ कवि इसे प्यार करते रहे हैं और इस कवि के मुकाबले, जो कि बेहद एकांतप्रिय और अकेला है। ऐसे भी लोग हैं जो इसे बड़ी सौम्यता, उदात्तता और अधिकाधिक निरंतरता से चाहते रहे हैं— यह नई कृति की पहली कविता की इस आस्था को संतुष्ट करती है—

"मैं मरना नहीं चाहता, इस सुंदर संसार में
जीना चाहता हूं— मनुष्यों के बीच

जीवंत हृदय के बीच
यदि पा सकूं स्थान
तो मैं अभी जीना चाहूंगा—
इन सूर्य किरणों में, इस पुष्पित कानन में।"

इस संकलन में ऐसी कविताओं की संख्या बहुत अधिक है जिनमें विभिन्न विषयों और मनोदशाओं का चित्रण है यथा—बालगीत, धार्मिक गान, देशभक्तिपूर्ण उद्‌बोधन और ऐंद्रिक उल्लास से स्पंदित प्रेम गीत और शृंगार गीत। साथ ही, इसमें शैली, विक्टर ह्यूगो, मिसेज ब्राउनिंग, क्रीस्टीना रोसेटी, स्विनवर्न औद दूसरे कवियों समेत एक अनाम जापानी कवि की रचनाओं के अनुवाद भी हैं। इनमें से अधिकांश कविताएं चतुर्दशपदी (सॉनेट) छंदाकार हैं—पेट्रार्कन या एलिजाबेथन जैसे पुरापंथी आदर्शों के अनुरूप नहीं—बल्कि उनकी विविधताओं को साथ संजोए हुए हैं। रवीन्द्रनाथ ने इन चतुर्दशपदियों वाले छंद रूप को अपने मनचाहे रूप में ढाल लिया है। विषय वस्तुगत वैविध्य के बावजूद इन कविताओं का केंद्रीय भाव है—जीवन का उल्लास, इसके प्रलोभनों को बचाने की तीव्र अभीप्सा, एक ऐसा उद्दीप्त आह्लाद जो कभी कभी उन्माद बन जाता है ठीक वैसे ही जैसे कि कस्तूरी मृग अपनी सुरभि से मदोन्मत्त हो उठता है।

कवि ने नारी शरीर के रहस्यों का भी संधान किया था और इसकी चारुता से सम्मोहित था। इस संकलन में उसकी बांहों और पांवों, उसके वक्ष और उसके चुंबन और प्रेम व्यापारों से संबंधित कविताएं भी हैं। ये कविताएं अकृत्रिम आश्चर्यों और कल्पनाओं से भरी हैं-- कुछ इस तरह जैसे कि किसी बालक को जादुई खिलौना मिल गया हो और इससे उसकी आंखें झपक नहीं रहीं-- वह टकटकी लगाए इसे कभी इस ओर से तो कभी उस ओर से निहारता रहता है। ऐसा इसलिए भी है कि इन कविताओं में अब वयस्क रक्त प्रवाहित हो रहा है। कवि कल्पना करता है कि किशोरी के हृदय में ओझल यह कोमल भावना युवा ताजा बासंती बयार के संस्पर्श से उसके वक्ष पर फूलों के जोड़ों की तरह खिल उठी है।

यही कारण है कि उसकी देह गंध इतनी मादक है। प्रणय निवेदन सुनकर ये प्रफुल्लित हो उठते हैं लेकिन फिर ठहर-ठिठक जाते हैं और झेंप कर दिन के प्रकाश के फैलने के पहले ही ये समुत्सुक अपने को परिधान में छुपा लेते हैं। अधरों पर रखा गया यह चुंबन ही उसका मिलन-स्थल बन जाता है, जहां दो हृदय एक-दूसरे का पान करते हैं। ये दोनों ही अपने घरों से बाहर भटक रहे हैं और अधरों का संगम ही उनके लिए पवित्र तीर्थ स्थल बना हुआ है। प्रेम ही देह और आत्मा को एक-दूसरे से गूंथ देता है। "मेरे अंग-प्रत्यंग तुम्हारा होने के लिए हाहाकार करते रहते हैं—प्रेम में दोनों हृदय एक-दूसरे की मांस-मज्जा में समाहित होना चाहते हैं।" लेकिन प्रणय का यह हर्षोन्माद क्लांति में ढल जाता है। मृदुल बांहों का आलिंगन किसी को सदैव बांधकर नहीं रख पाता और एक-दूसरे के अधर के प्यासे

अधर जल्द ही अलग हो जाते हैं। अंत में, इस अरण्य-आश्चर्य के प्रति मन में भावांजलि के तौर पर जो स्मृति शेष रह जाती है होठों पर मुस्कान बनकर या फिर आंखों में दो बूंद आंसू बनकर। तरुण कवि पूछता है कि अगर यह मात्र संवेदनाओं का ही नश्वर खेल है, हृदय की विडंबना है, तो फिर भावनाओं की इतनी बर्बादी क्यों...इतनी पीड़ा क्यों?

इस तरह की तमाम ऐंद्रिक रंगरेलियों के बीच भी कवि के लिए इस प्रतिच्छाया को भूल पाना बहुत कठिन था– जो उन्हें छोड़कर दूसरे किनारे चली गई थी। बहुधा, जब कभी भी वे अकेले बैठे रहते और आकाश की ओर ताकते रहते– वह गहरी शून्यता की भावना से भर उठते। ''प्रातः के आलोक में, शरद काल की उष्मा में स्वप्नवत पता नहीं मेरा हृदय क्या चाह उठता है। कोई है, जिसका अभाव मुझे खलता रहता है और जो मेरे जीवन को उजाड़ बंजर बनाने के लिए काफी है।'' कभी कभी वे उसकी उपस्थिति के प्रति बहुत सतर्क हैं। ''उसकी चितवन है वहां –लेकिन उसकी आंखें कहां हैं ? मैं उसके चुंबनों को महसूस करता हूं लेकिन उसके अधर कहां हैं?'' कवि समझता है कि इच्छा ही सभी दुखों का कारण है। वह एक ऐसा भारी जाल बिछाता है जिसमें लोग फंस जाते हैं। ''मैं जब किसी दूसरे को चाहता हूं– तो दूसरा कोई और नहीं मैं खुद अपने को उस फंदे में बिंधा पाता हूं। वह मेरी नहीं बन पाती मैं अवश्य ही उसका बनकर रह जाता हूं। दूसरे को बांधने की चाह में मैं खुद फंसकर रह जाता हूं। दुनिया भर के खजानों को लूटकर मैंने अपने लिए एक कारावास का निर्माण किया है और ढेर सारी इच्छाओं से भरी मेरी जीवन नौका बस डूबने ही वाली है।''

इन्हीं दिनों उन्होंने एक सुगम संगीत–नाट्य-रूपक या गीति नाटिका लिखी, जिसका नाम था– 'मायार खेला' (माया का खेल) वैसे इसे मुश्किल से ही नाटक कहा जा सकता है। क्योंकि इसमें गीतों की शृंखला के अलावा और कुछ नहीं और स्वयं लेखक के अनुसार ''यह गीतों की एक ऐसी माला है– जिसमें नाटकीय कथावस्तु के ताने-बाने फैले हुए हैं।'' इसमें संयोजित कुछ गीत बड़े ही मोहक हैं और आज भी उतने ही लोकप्रिय बने हुए हैं। इस नाटक की विषय-वस्तु, इसका ढांचा और इसका मूल भाव कार्य-व्यापार या विचार के मुकाबले भावनाओं द्वारा आच्छादित है और जैसे ही कोई इन्हें विश्लेषित करने की चेष्टा करता है– वे ''हवा में खो जाते हैं, वायवीय हो उठते हैं।'' चाहे जो भी हो, अगर इस नाटक के मुख्य विचार-बिंदु को अलग कर देखा जा सके तो इसे इन पंक्तियों में रखा जा सकता है : प्रकृति माया का एक मिथ्या-वितान रचती है जिसमें हम गरीब और नश्वर लोग फंस जाते हैं। हम प्रेम में प्रसन्नता पाने के लिए इसका पीछा करते हैं लेकिन प्रेम और प्रसन्नता दोनों ही खो बैठते हैं।

तो यह जीवन वातायन फिर क्या है? ''क्या वह सपनों से ही बना कोई उपादान है?

क्या जीवन को, केवल अपने वातायन से देखते रहकर या फिर से यथावसर इस पर धावा बोलकर समझा जा सकता है?" और बाड़ के पीछे सुरक्षित रखे गए अपने अस्तित्व से छलांग लगाकर इस जीवन को पूरी तरह जीते हुए ही यह तरुण कवि इसके आशय के साथ इसकी सुंदरता और त्रासदी को समझ पाया।

6

युग-नायक

यही है वह आनंद जो मुझमें पूरी तरह विद्यमान है।

वर्ष 1889 के आरंभ में, रवीन्द्रनाथ, जो अब दो संतानों, पुत्री माधुरीलता (या बेला) और पुत्र रति को साथ लेकर सपरिवार शोलापुर आ गए थे– जहां उनके भाई जिला जज थे। वहां उन्होंने मुक्त छंद में 'राजा और रानी' लिखा, जिसे उन्होंने बाद में अंग्रेजी में 'द किंग एंड द क्वीन' शीर्षक से अनूदित किया। इस कृति को शेक्सपीयर प्रणीत विशिष्ट प्रतिमान के निकटतम अभिगम के रूप में देखा जा सकता है क्योंकि इसमें कार्य-व्यापारों की बहुलता है, अतिरेकपूर्ण हिंसा है, चरित्रों का घात-संघात है और साथ ही एक ऐसी अनिवार्य उपकथा भी है जो षड्यंत्र द्वारा जीवंत है।

राजा विक्रम, पंजाब राज्य की एक रियासत का शासक है। उसका विवाह कश्मीर की अनन्य सुंदरी राजकुमारी से होना है। राजा अपनी रानी के प्रेम में बेहद पागल है और वह हर घड़ी उसके इर्द-गिर्द मंडराता रहता है और इस तरह राजकाज की ओर से उसने पूरी तरह आंखें मूंद रखी हैं। रानी के प्रति उसके अंधमोह की आड़ में रानी के कश्मीरी नाते-रिश्तेदार रियासत के सभी महत्वपूर्ण पदों को हथिया लेते हैं और अनाप-शनाप प्राप्त आमदनी पर मुटाते चले जाते हैं। शिकायत राजा तक पहुंचती है लेकिन उसके कानों पर जूं तक नहीं रेंगती। क्योंकि उसके पास इतना वक्त नहीं है कि वह इन 'व्यर्थ की बातों' पर ध्यान दे सके–जबकि जीवन इतना छोटा है, उल्लास और मस्ती से भरा। राजप्रासाद के बाहर खड़ी भूखी भीड़ रोटी के लिए विद्रोह पर आमादा है। रानी पूछती है, "यह शोर-शराबा कैसा है?" "कुछ नहीं मेरी स्वामिनी, बस बात भूख की है, उन गरीबों की बेहूदी भूख की– जो आधा पेट भोजन करके ही बड़े चैन से रहते थे। अब इन्हें पूरी तरह से भूखा रहना पड़ रहा है, जो पहले से थोड़ा ही ज्यादा है। ओह यह असभ्य भीड़ कितनी बेशरमी से भोजन के लिए हो-हल्ला मचा रही है, इस महल की मधुर शांति को भंग कर रही है।"

विवेक संपन्न रानी इस बात पर अपने पति के साथ तर्क करती है लेकिन उसका पति उस पर ध्यान नहीं देता। बल्कि उसे अपने आलिंगन में बांध लेना चाहता है। पति

की आंखों में प्रेम के बदले निर्लज्ज वासना और दंभपूर्ण लालसा की बू है–जिसने उसे मात्र कामांध बना दिया है और कर्तव्य तथा मानवता से च्युत कर दिया है। रानी अपने भाई युवराज कुमार सेन के पास कश्मीर लौट जाती है और पति के राज्य को उन आस्तीन के सांपों से छुटकारा दिलाने के लिए सहायता मांगती है जो अपने ही लोगों का खून पी रहे थे। जब राजा विक्रम को अपनी पत्नी के निर्णय की सूचना मिलती है तो वह क्रोध से आगबबूला हो जाता है। रानी के प्रति उसका प्यार प्रतिशोध की भावना में बदल जाता है और उसका आहत पौरुष हिंसा और विजय की कामुकतापूर्ण लालसा में ढल जाता है। वह अपनी सेना के साथ युवराज कुमार सेन को सबक सिखाने के लिए कश्मीर पहुंच जाता है। उसके आक्रमण का कोई सामना कर नहीं पाता और उसकी सेनाएं हर स्थान पर विजय हासिल करती जाती हैं और वह कश्मीर पर अपना आधिपत्य जमा लेता है। युवराज कुमार सेन और कश्मीर की रानी अपने आप को एक जंगल में छुपाने को बाध्य हो जाते हैं। लेकिन युवराज कुमार सेन अपने स्वाभिमान के नाते उसके सामने घुटने नहीं टेकता। वह अब भी आक्रांता के शेष को शांत करने का प्रयास करता है। वह नहीं चाहता कि उसकी प्रजा को किसी प्रकार की तकलीफ झेलनी पड़े। इसलिए वह राजा को भेंट के तौर पर अपना कटा हुआ सिर भिजवाता है। स्वाभिमानी और अनुतप्त रानी भरे दरबार में यह उपहार लिए उपस्थित होती है और जैसे ही वह भेंट का थाल अर्पित करती है, जमीन पर गिर जाती है और उसका प्राणांत हो जाता है।

इस नाटक में प्रेम और कर्तव्य तथा एक दंभी मोहांध पुरुष और गर्वित तथा मानवीय स्त्री के बीच के द्वंद्व को दर्शाया गया है। स्त्री अपनी यातना में भी, पराजित नहीं होती। इसके तुरंत बाद मुक्तछंद में प्रणीत 'विसर्जन' (बलि) नाटिका में भी, एक राजा और रानी के बीच के द्वंद को सर्वथा अलग परिदृश्य में रखा गया है। इस रचना की रानी अपने ही पति के विरुद्ध प्रतिक्रियावादी ताकतों से मिल जाती है। 'विसर्जन' में यह द्वंद्व अपनी तीव्रता में कहीं अधिक नाटकीय और बहुआयामी है : पति और पत्नी के बीच, ऐहिक शक्ति और पुरोहितवाद के बीच, प्रेम और कर्तव्य के बीच, मानवतावादी निर्देश और धर्म द्वारा अनुमोदित विधानों के बीच। इस नाटिका का समापन भी त्रासदी में होता है और एक निर्दोष जीवन का नाटकीय अंत होता है लेकिन इस प्रक्रिया में प्रेम स्वर घोषित होता है और मंदिर से अपदस्थ अधिष्ठात्री अपने सर्वथा उपयुक्त स्थान अर्थात मनुष्य के हृदय में आ विराजती है।

इन सारे उपक्रमों में, कवि चाहे नए नाटक लिख रहे होते थे या राजनैतिक विवादों और सामाजिक सुधारों पर सामयिक टिप्पणियों या प्रत्युत्तरों में कूद पड़ते थे— बड़े ही बेचैन और अप्रसन्न दीख पड़ते हैं। जीवन के परवर्ती वर्षों में, जब कभी भी उनका जी करता, वह यात्रा पर निकल जाते थे। अगर वह कहीं दूर नहीं जा पाते तो आए दिन अपना आवास

अवश्य बदल लेते। उन्होंने अपना आवास जोड़ासांको से पार्क स्ट्रीट में बदल लिया। इसके बाद दार्जिलिंग चले गए। कलकत्ता वापस आकर वे पश्चिम की तरफ गाजीपुर चले आए, जो कि अपने गुलाबों के लिए प्रसिद्ध है। अपनी ऐतिहासिक अवस्थितियों के कारण समृद्ध पश्चिमी भारत ने उनके मानस को विशेषतौर पर आकर्षित किया था। गाजीपुर में, गंगा किनारे स्थित आवास और कई एकड़ तक फैले गुलाब उद्यान को देखकर उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि उनके कवि ने अंततः एक उपयुक्त स्थान पा ही लिया। वे यह सोचकर अपने परिवार को लेकर वहां लंबे प्रवास के लिए निकल पड़े। लेकिन बहुत जल्द उनका मोहभंग हो गया जब उन्होंने पाया कि "गुलाब के उद्यान भी जब किसी खरीद-फरोख्त के चक्कर में पड़ जाते हैं तब वे न तो किसी बुलबुल में और न ही किसी कवि में प्रेरणा भर सकते हैं।" कुछ महीनों के बाद, वे कलकत्ता लौट आए। कुछ दिन सिलाईदह में बिताने के बाद वे शांतिनिकेतन चले आए और आखिरकार अपने भाई सत्येन्द्रनाथ के साथ रहने के लिए शोलापुर चले आए। यहां आकर उन्होंने सुना कि सत्येन्द्रनाथ अपने युवा मित्र लोकेन पालित के साथ इंग्लैंड जाने की तैयारी कर रहे हैं। बस क्या था, उन्होंने भी उनके साथ जाने का मन बना लिया।

इस यायावरी और यात्राओं के दौरान भी एक छोटी-सी लेखन-पुस्तिका उनके साथ रहा करती थी और जो कविताओं से भर जाने को आतुर रहती थी। चाहे वह हिमचुंबित हिमालय निहार रहे होते या मैदानी इलाकों की गर्मी और धूल में पसीज रहे होते, इसमें नित्य नयी कविताएं जुड़ती चली जातीं। इनमें से बहुत सारी गाजीपुर में लिखी गई थीं— यह कहना कठिन है कि ये गुलाब की उपस्थिति में लिखी गई थीं या गुलाब की अनुपस्थिति में। रवीन्द्रनाथ के इन गीतों में परंपरागत बुलबुल भले ही न हो लेकिन वह प्राण पपीहा अवश्य ही उन्मुक्त कंठ से गा रहा होता है, जिसका स्वर अब तक अनसुना-सा था। तीन वर्ष या इससे कुछ अधिक समय की अवधि में तैयार हुई यह फसल 'मानसी' शीर्षक के अंतर्गत प्रकाशित हुई और देखते ही देखते उनकी प्रतिभा का सिक्का जम गया। एक युग कवि का प्रादुर्भाव हुआ था, चूंकि इस कृति का प्रकाशन रवीन्द्रनाथ की इंग्लैंड यात्रा के बाद हुआ था, इसलिए कवि की दूसरी यूरोप-यात्रा के संक्षिप्त ब्यौरे के बाद इस कृति पर चर्चा करना अधिक उपयुक्त होगा।

इस बार कवि ने भले ही 'भारती' के प्रकाशनार्थ घर पर पत्र नहीं भेजे थे लेकिन उन्होंने नियमित रूप से डायरी अवश्य लिखी थी। यह सामग्री 'यूरोप-यात्रीर डायरी' शीर्षक से यात्रा से उनकी वापसी के बाद छपी थी। उनके प्रायः सभी गद्य लेखन की तरह उनकी डायरी भी सम्मोहक और चमकप्रद पाठ्य-सामग्री विलक्षण पर्यवेक्षण से समृद्ध तो है ही, हास्यमुखर व्यंग्य से भरपूर भी है। डायरी में पहली प्रविष्टि की तिथि है 22 अगस्त 1880 — जिस दिन मैं स्टीमर पर बंबई से रवाना हुआ। डेक पर टहलते हुए और धीर धीरे अपनी

धरती को आंखों से ओझल होती देखकर इस कवि को, जिसने कि अब तक द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के बारे में शायद ही सुना होगा-- इस बात पर आश्चर्य होता है कि कविता का स्वभाव किसी भी युग में भौतिक रूप से प्राप्त सूचना-साधनों से कितना प्रभावित होता है? कालिदास के जमाने में भी अपनी प्रेमिका से कुछ सौ मीलों की दूरी पर पड़े विरही प्रेमी को किसी बादल को अपना संदेश वाहक बनाकर भेजने के उद्देश्य से कई सर्गों की रचना की थी। इस काव्य के युग में एक चतुर्दशपदी या सॉनेट यानी एक गीत ही पर्याप्त होगा, आणविक युग में एक दोहा या कि दो मिसरे के बोल ही काफी होंगे। लेकिन इस तरह के ख़यालात तब उड़नछू हो जाते-- जब जहाज डोलने लगता और तेज मानसून के चलते दोलायमान अरब सागर के जल में हिचकोले खाने लगता। और जैसा कि पहली बार यात्रा के दौरान रवीन्द्रनाथ अपनी केबिन में बंद हो गए थे और कभी बाहर निकलते ही नहीं थे-- ठीक वैसे ही इस बार भी लगातार चार दिनों तक बाहर झांका तक नहीं।

जीवन के आगामी वर्षों में उन्होंने यह सीख लिया था कि एक अच्छा नाविक कैसे बना जाता है और उन्होंने कितनी ही बार समुद्र की यात्राएं कीं--लेकिन अपनी धरती--बंगाल की नदियों के मुकाबले समुद्र के प्रति उनके मन में कभी कोई प्यार नहीं उमड़ा। समुद्री-जहाज उन्हें 'निर्जीव दुर्ग' जैसे प्रतीत होते थे, जहां यात्रियों को यह पता नहीं होता कि समय कैसे काटा जाए? इस डायरी में कुछ बड़े ही मजेदार विवरण हैं कि कैसे कुछ मुसाफिर समय काटने के उद्देश्य से आपस में मन बहलाया करते थे। उस जहाज पर एक खूबसूरत महिला भी थी जो अपने सौंदर्य का प्रदर्शन बड़ी उदारता से करती थी। भोजन कक्ष में तो सबकी निगाहें उसी पर टिकी रहती थीं। लोगों के जबड़े मशीनी ढंग से भोजन चबाते रहते थे और उनकी आंखें महिला के अंग-प्रत्यंग से तृप्त हो रही होती थीं। कवि की आंखें भी सतृष्ण रही होंगी वर्ना उन्होंने इन तमाम बातों को भला कहां से देखा-परखा होता? दूसरे दिन, रविवार की सुबह को जबकि दूसरे यात्रीगण पूजाघर में प्रार्थना मग्न थे--वह महिला जहाज के डेक पर एक युवा और उत्साही क्रिश्चियन प्रेमी की भक्ति प्राप्त कर रही थी।

लंदन पहुंचने पर, सबसे पहले वे पहली फुरसत में उस मकान पर गए जहां स्कॉट परिवार के साथ उन्होंने अपनी जवानी के दिन बिताए थे। उन्हें यह जानकर बड़ी निराशा हुई कि अब उस परिवार ने यह मकान छोड़ दिया था और किसी को यह सूचना दिए बिना कि सबके सब कहां चले गए। जो भी हो, युवावस्था का वह प्रेम अब केवल स्मृति की चीज थी और लंदन में ऐसा बहुत कुछ था जिससे उसकी भरपाई हो सकती थी। आज की अंग्रेज युवतियों को यह पढ़कर अवश्य ही खुशी होगी कि उन्होंने अपनी डायरी में इनकी दादियों बल्कि परदादियों के बारे में क्या कुछ लिखा था। ''यहां की सड़कों पर घूमते रहना ही बड़ा आनंददायक है। यह निश्चित है कि ऐसे सैलानी को कोई सुंदर चेहरा देखने को मिल जाएगा। मेरे देश के देशभक्त, आशा है आप मुझे इस बात के लिए माफ करने

की कृपा करेंगे अगर मैं यहां के इन खूबसूरत चेहरों की तारीफ में कुछ कहूं-- इनके लाल लाल होंठ तीखे नाक-नक्श और वे गहरी आंखें जिनमें से नीला आकाश झांक झांक जाता है।"

एक बार फिर वे उस यूरोपीय समाज की प्रशंसा करते हैं जिसमें स्त्रियों ने स्वतंत्रता के मामले में अपनी भागेदारी का समुचित अनुपात तय कर लिया है और राष्ट्र को मजबूत करने में सहायता कर रही हैं-- और भारतीय समाज के उस विरोधाभास की तरफ भी इशारा करते हैं, जिसमें स्त्रियों का एकमात्र काम पुरुषों की सेवा करना और लुभाना है और इस प्रकार उन्हें स्त्रैण बनाकर रखना है। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि वे लंदन में अपने प्रवास के दिनों में बुरी तरह डूब गए थे इसीलिए, उनकी कला देवी ने उन्हें अकेला छोड़ दिया था। ऐसा उनके जीवन में कई बार हुआ। उदार सद्वृत्तियों का एक व्यक्ति, और अगर कोई एक विश्व नागरिक था तो वे मात्र रवीन्द्रनाथ ही थे-- और वे अपनी जमीन की जड़ों में इतने गहरे रचे-बसे थे कि भारत के बाहर, उनकी कविताओं और गीतों की निर्झरिणी बहने से इंकार कर देती थी और अगर कभी बहने को हुई भी तो बस टपक कर रह जाती थी। अचानक डायरी के 5 अक्तूबर वाले पन्ने पर वे लिखते हैं, "मैं इस जगह से ऊब गया हूं। यहां तक कि खूबसूरत चेहरों से तंग आ गया हूं। और इसीलिए मैंने यह तय कर लिया है कि लौट जाऊंगा।" लंदन से अपने प्रस्थान के मौके पर, अपनी भतीजी इन्दिरा देवी के नाम लिखा गया एक पत्र इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। यह ज्ञात नहीं कि इस तरह के उद्गार व्यक्त करने के लिए किस बात ने उन्हें उकसाया होगा। वे लिखते हैं, "क्या मनुष्य किसी धातु का बना हुआ एक यंत्र मात्र है? और क्या उसे नियमों के कठोर अनुशासन के अनुरूप ही कार्य करना चाहिए? मनुष्य का मस्तिष्क इतना विशाल और बहुविध है, जिसमें एक ओर ढेर सारी लालसाएं हैं तो दूसरी ओर ढेर सारे दावे पूरे करने को होते हैं कि इसे अनिवार्यतया से कभी अपने को मोड़ना पड़ता है, कभी पीछे समेटना पड़ता है और कभी टकराना पड़ता है। ऐसी ही तैयारियां उसे मनुष्य बनाती हैं। यह साबित करने के लिए वह जिंदा है और इस बात का खंडन करता है कि वह भौतिक उपादानों का ढेर मात्र नहीं है। और जिसने कभी इन कमजोरियों को महसूस नहीं किया है और जिसके पांव किनारे पर कभी डगमगाए न हों-- जिसका दिमाग संकरा और सतही है--ऐसा आदमी सचमुच जिंदा नहीं। जिसे हम प्रवृत्ति कहते हैं और जिसे हम अपने दैनंदिन जीवन में बहुत तुच्छ समझ कर नकार दिया करते हैं-- यही वह चीज है जो हमें सद्गुणों या दुर्गुणों के अरण्य से बाहर निकालने में सहायक बनकर हमारी नियति की असीम संभावनाओं तक और हमारी चेतना एवं उल्लास तथा अनुताप तक ले जाती है। ऐसे व्यक्ति ने, जिसने जीवन में कभी कोई उतार-चढ़ाव नहीं देखा, जिसके हृदय चक्र में रहस्यमय फूलों की पंखुरियां नहीं चटकीं, संभव है ऐसा व्यक्ति प्रसन्न जान पड़े, वह एक साधु प्रतीत हो, उसका एकांगी मस्तिष्क

अपनी शक्ति में भले ही अनगिनत लोगों को प्रभावित करे लेकिन असीम के प्रति जीवन के सच्चे पराक्रम की दृष्टि से वह सर्वथा साधनहीन है।"

नवंबर 1890 में भारत में उनकी वापसी के तुरंत बाद 'मानसी' में उनकी कविताएं छपीं। इन कविताओं में विषय-वैविध्य का विस्तार, कल्पना की उन्मुक्त उड़ान, विचारों की प्रौढ़ता, इनका लयात्मक सौंदर्य और ओज– जैसे कि कोई घुड़सवार पूरे नियंत्रण के साथ शक्तिशाली घोड़े की पीठ पर आराम से बैठा हो और उसके हाथ में चाबुक तक न हो लेकिन घोड़ा हाथ के हल्के से इशारे पर या एड़ लगाते ही भागने को तैयार खड़ा हो– और यह सब देखकर ही उनके विरोधियों को यह जान पड़ा कि सचमुच ही यहां एक ऐसा कवि विद्यमान है। मोटे तौर पर इन कविताओं को पांच अनुभागों में बांटा गया है और ये सब-के-सब सदैव उनके मुख्य आधार-विषय बने रहे हैं हालांकि धीरे धीरे इनमें विस्तार आता गया है : प्रेम-कविताएं, प्रकृति-संबंधी कविताएं, सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं से जूझती कविताएं, धार्मिक और आध्यात्मिक और रहस्यधर्मी कविताएं और साथ ही वे कविताएं जो रचनाकार की आधिभौतिक या दार्शनिक धारणाओं को पुष्ट करने के लिए नैसर्गिक या निजंधरी तथ्यों या ऐतिहासिक आख्यानों से संबद्ध हैं लेकिन जो परिभाषित नहीं हैं और एक-दूसरे में समाहित भी हो जाती हैं। मानवीय और दैवी, नैसर्गिक प्रेम और मानव-प्रेम, आत्म-बोध और विचार परस्पर उनकी चेतना में ठीक उसी प्रकार घुल-मिल जाते हैं जैसे कि उनके निजी जीवन में, और इन्हें एक-दूसरे से विलग करना कठिन हो जाता है।

उन पौराणिक दिनों की याद करते हुए, जब यमुना पुलिन पर वृंदावन के सघन कुंजों में राधा प्रियतम कृष्ण मिलन की आकांक्षा से झंझाभरी रात में भी, अपने घर से निकल पड़ती थी, उसका प्रणय पाने के लिए। कवि को आभास होता है कि वह वृंदावन मनुष्य के हृदय में अब भी विद्यमान है। चाहे वह वर्षा की तूफानी रात हो या शरद की निस्तब्ध संध्या की पूर्णमासी– प्रेम पाने की लालसा अब भी भटकती रहती है। शाश्वत राधा अब भी लालायित है। और ऐसे ही किसी एक दिन जब आसमान घने बादलों से घिर उठता है, रेत भरी तेज हवा चल रही होती है– थोड़ी दूर पर गंगा बह रही होती है, जिसके वक्ष पर एक भी नौका नहीं है– कवि अकेला बैठा साश्चर्य पूछता है कि वह कहां है? वह उसके साथ इतने वर्षों तक रही लेकिन कभी भी अपने हृदय का रहस्य उसे नहीं बताया। वह उसे बड़बोला, चंचल, नादान और किशोर बालक ही समझती रही। अगर वह यहां होती तो वह उसके चरणों में अपना हृदय सौंप देता। लेकिन वह दूर चली गई है और चूंकि इस संसार को अपने तमाम खेलों के साथ ऐसे ही चलते रहना है असीम एकांत के निभृत अंधेरे में वह हमेशा के लिए अकेला रह जाता है।

लेकिन अंतर का यह हाहाकार भले ही अकारथ हो जाए, आकांक्षाओं की सुलगती

आग अन्यथा हो जाए, क्या मनुष्य का हृदय प्रणय और याचना से विलग रह सकता है? और कोई प्रेम करता है और उत्कंठा पालता है तो इस हृदय की चाह की कोई सीमा होती है? और इसके बाद बात चाहे हृदय की हो या संवेदनाओं की— इनकी क्षुधा या अभीप्सा को कोई शांति कर सकता है? इसी दुविधा को उन्होंने 'मानसी' की सर्वश्रेष्ठ कविताओं में से एक में रखा है, जिसका वे जीवनभर सामना करते रहे। मात्र प्रेम और याचना के प्रति ही उनका दृष्टिकोण बहुत मानवीय नहीं था। वे अपने व्यक्तिगत संधान को मनुष्य के शाश्वत और सार्वभौम संधान में उदात्तीकृत करने के आग्रही थे जिससे कि यह समग्र जीवन और प्रकाश और अस्मिता के चरम स्रोत का संधान पा सके।

वर्ष 1887 ई. में ही पुरी की यात्रा पर जाने वाले आठ सौ तीर्थयात्रियों को ले जाने वाला जहाज समुद्री तूफान में डूब गया। इस पर सवार सारे यात्री भी डूब गए। रवीन्द्रनाथ ने इस त्रासदी पर एक कविता लिखी जो इस संकलन में संकलित कविताओं की श्रेष्ठ कविताओं में है। यह एक अपूर्व कविता है जिसकी लय वायु के थपेड़े खाकर समुद्री लहरों की तरह कभी लहराती है और कभी झकोले खाकर बिफर उठती है। इसका बिंब-विधान और मुहावरे पंच तत्वों का जादुई आतंक भरा इंद्रजाल-सा रच देते हैं और स्वाराघातों में प्रलयंकर—निनाद की प्रतिध्वनि सुन पड़ती है। लेकिन रवीन्द्रनाथ, रवीन्द्रनाथ नहीं होते अगर वे इस कविता के अंत में यह नहीं बताते कि इस दुर्दांत ध्वंस में भी मनुष्य के हृदय में प्रेम और विश्वास का एक छोटा-सा दीप जलता रहता है। और जिसे कोई भी आंधी आज तक बुझाने में सक्षम नहीं हो पाई है। इस कविता के कुछ प्रकरणों का सारांश नीचे उद्धृत किया जाता है ताकि रचनाकार की मनोदशा का संकेत मिल सके—

"अकूल समुद्र के वक्ष पर नाच रही प्रलय झंझा
प्रकृति का आतंकोत्सव
दुर्दमनीय पवन फटकार रही है अपने सहस्र पंख
आकाश और समुद्र उत्तप्त और मदोन्मत्त आलिंगन में बद्ध है
उन्मत्त दैत्यगण बदहवास दौड़ रहे हैं :
नेत्रहीन, कर्णहीन, गृहहीन, स्नेहहीन
कल्लोल, कोलाहल और क्रंदन
रोष, त्रास ऊर्ध्वश्वास में उन्मत्त लास और अट्टहास
उन्मादपूर्ण गर्जन
नौका पर सवार आठ सौ यात्री— नर नारी
आतंकित वक्ष से हाथ बांध
यह नौका समुद्र की फेनिल लहरों पर डोल रही
राक्षसी झंझा अपने सहस्रबाहु उठाकर गरज-गरज उठती है—

"दो... दो.... लाओ दो....?"
तुम कहां हो भगवान, दया नहीं नहीं प्राण
है मात्र जड़ता का विलास
कष्ट झेलता है, भय पाता है मनुष्य
भय और संशय से परे और स्वयं से दूर
निर्भय होकर इस जड़ता की गोद में कैसे डोलता-फिरता है मनुष्य
सारे सुख सारी चाह उसे मृत्यु दानव की नहीं परवाह
ध्वंस की अनदेखी कर मां शिशु को अपने सीने से
चिपटाए रखती है,
पारावार के क्रोधोन्माद को चुनौती देती हुई
कौन है जो जननी की बांहों से छीन ले उसका दुर्बल छौना
कहां से बटोर लाई है इतनी शक्ति, अपने शिशु को बचाने की
इस निष्ठुर पाषाण स्रोत में—इतना प्रेम कहां से फूटा, मानव के प्राणों में
खड़ी है एक साथ, करुणा और निष्ठुरता—महाआशा और महाशंका
मनुष्य के हृदय को करता है उद्विग्न सत्य क्या है और क्या है मिथ्या
दिवस या रात्रि—खींचते हैं हृदय को पहला ऊपर तो नीचे दूसरा
जड़ दैत्य करता है प्रहार, वह नहीं सुनता कोई विनय
तभी प्रेम अपने आलिंगन में भींचकर करता है मनुष्य को निर्भय
यह क्या दो देवताओं की द्यूतक्रीड़ा है—ध्वंस और निर्माण की
चिर शाश्वत अंतहीन जय पराजय।"

इस संकलन की दूसरी श्रेष्ठ कविता 'मेघदूत' शीर्षक से लिखी गई है। इसे कवि ने इंग्लैंड रवाना होने से कुछ दिन पहले वर्ष 1890 में— शांतिनिकेतन में प्रवास के दौरान वर्षाकाल में कभी लिखा था। उन्होंने देखा कि सारा आकाश सघन बादलों से आच्छन्न है, और वे अपने पूर्ववर्ती कवि कालिदास की स्मृति में खो जाते हैं, जिन्होंने ठीक ऐसे ही किसी दिन अपने महान छंदों की रचना की थी, जिसने कि युग-युगांतर के उन समस्त प्रेमियों के प्रेम को अमर बना दिया, जिन्हें दूरी ने अपनी प्रेयसियों से अलग कर दिया था। प्राचीन की संवर्धना में लिखित यह कविता एक नवीन मेघूदत थी और यह जताती है कि रवीन्द्रनाथ में इतना आत्मविश्वास आ चुका था कि वे अपनी प्रतिभा को अपने देश के महानतम और कालजयी कवि मनीषा (कालिदास) के साथ अपने सहज रक्त संबंध का दावा कर सकें— जैसा कि दान्ते ने वर्जिल के प्रति अपनी भावांजलि व्यक्त करते हुए किया था।

शांतिनिकेतन में ही उन्होंने एक और भव्य कविता लिखी थी, जो कि अहिल्या को संबोधित थी। यह उस दैवी दुरभिसंधि का शिकार बनी अहिल्या के बारे में थी— जो अपने

पति से प्राप्त अभिशाप के कारण एक पत्थर में परिणत हो गई थी। कवि ने कल्पना की है कि एक लंबे समय तक मानवीय चेतना के स्थगन के चलते, वह निर्जीव और असंवेदनशील वस्तुओं की चेतना में ढल गई होगी, हालांकि उन वस्तुओं में संवेदनाएं तो होती ही हैं लेकिन वे मानवीय चेतना से अवश्य ही अलग होती हैं। कवि पूछता है, तब तुमने कैसा अनुभव किया था अहिल्या जब तुम्हें किंभूत अंधकार में बंद कर दिया गया– जहां मां वसुंधरा इस सुचित्रित और बहुरंगी पटल के नीचे निवास करती है? क्या तुम उस सुविशाल किंतु सुशांत और मूक प्रेम की समभागिनी या धैर्य और वेदनास्निग्ध मानवता की वही धात्री हो– जो अपनी संतान के लिए अनुभूत करती है। क्या तुम उस महान जननी की तरह अनिद्र रात्रि में उनकी परिचर्चा में तल्लीन हो जो किसी कोलाहल और हलचल के चलते अपने चंचल शिशु की चीख और क्रंदन से क्षुब्ध हो उठती है। इस तरह कविता आगे बढ़ती जाती है उन रहस्यपूर्ण अनुबंधों की ओर इंगित या अपुष्ट संकेत करती हुई – जो कि प्रकृति और मनुष्य की आंतर्भूमिक चेतना को तब तक अस्पष्ट ढंग से जोड़ते हैं, जब तक कि धरती की ममतामयी बांहें अहिल्या के समस्त मानव निर्मित कलंक के सारे अवशेष मिटा नहीं डालतीं और एक बार फिर महान जननी की कोख से उसका उद्‌भव होता है, एक नवजात कुमारिका के रूप में उज्ज्वल और दिव्य सौंदर्य परिपूर्ण–ठीक वैसे ही जैसे कि भूली-बिसरी स्मृतियों के नीले महासागर से अविमूर्त होती ऊषा की बेला।

लेकिन प्रकृति के रहस्यों के प्रति भले ही रवीन्द्रनाथ निजी तलाश को संवर्धित करते रहे हों या उसमें विचारमग्न रहे हों, वे अपने आसपास के समाज से कभी अलग नहीं रह सकते थे। अपने लोगों से प्यार करनेवाला और अपने देशवासियों की मूर्खताभरी बातों पर यह देशभक्त उनका सबसे निर्भय आलोचक भी हो जाता था। 'दुरंत आशा' शीर्षक कविता में वे भीरू और रीढ़हीन कहकर उनकी खिल्ली उड़ाते हैं जो अपने अतीत के ऐश्वर्य और आर्यन ऐतिह्य का बखान करते हुए कभी नहीं अघाते। ये मोटे-ताजे गोल चेहरे और मां के आंचल में छिप जानेवाले बंगाली– "जब वे अपने हुक्के का नैचा खींच और ताश के गंदे पत्ते फेंटते हुए खींसें निपोर देते हैं–तो यही जान पड़ता है कि 'सीने में पलते सांप की तरह वहशी आशाएं फुफकारने लगी हैं'।" और इसके बदले, कभी इस तरह, "अगर मैं कभी कोई अरबी बद्‌दू होता, तो मेरे पांव तले अंतहीन छोर तक रेगिस्तान फैला होता। घोड़े की दुलकी चाल से रेत उड़ रही होती, मैं आकाश की तरफ उड़ता चला जाता। मेरे सीने में दिन-रात कोई आग धधक रही होती। अपने हाथ में भाला और हृदय में साहस लिए मैं हमेशा हमेशा बेघर बार रहा होता रेगिस्तानी आंधी की तरह निर्बंध।"

उक्त संकलन में उनकी कुछ कविताओं में, उन्हें प्राप्त व्यंग्य और विनोद की पैनी धार से उद्‌भूत उनकी प्रतिभा के दर्शन होते हैं। इनमें से एक में वे उन देशभक्तों का अभिवादन करते हैं जो "राष्ट्रनिर्माण में जुटे" हुए हैं और वे जो अपनी सस्ती जयजयकार में प्रसन्न

हैं और जो उनकी वाहवाही में सम्मिलित नहीं हैं उन्हें गालियां देते हुए आवेदनों के मोटे मोटे कागजी बंडल भरते रहते हैं और हाथ में कलम दवात लिए हमेशा युद्ध की मुद्रा में तने-ठने रहते हैं। 'बंग वीर' (बंगाल के नायक) कविता किताबी कीड़ों जैसे उन नायकों की खासी चुटीली खबर लेती है जिन्होंने क्रॉमवेल और मेजिनी के बारे में सब कुछ पढ़ा है और पहले से ही यह तय कर रखा है कि वस्तुतया हम ही सर्वश्रेष्ठ हैं। क्या मैक्समूलर ने यह नहीं बताया कि हम ही वह आर्य हैं ?

ऐसी ही एक विनोदपूर्ण कविता में उन्होंने एक विवाहित युवा प्रेमी की बुरी तरह बखिया उधेड़ी है, जो अपनी बालिका-वधू के प्रेम-मनुहार में लगा हुआ है। उसकी गर्मजोशी जितनी काव्यात्मक होती जाती है, बेचारी बच्ची उतनी ही भयभीत होती जाती है और वह कभी अपनी दाई मां के लिए चिल्लाने लगती है तो कभी खट्टी बेरियों और कभी अपने खिलौनों से खेलने के लिए मचल उठती है। इसी तरह रवीन्द्रनाथ बड़ी गंभीरता से रोमानी प्रेम की त्रासदी पर भी लेखनी चलाते हैं। यह प्रेम अपरिहार्य तौर पर विवाह के कुछेक सालों के बाद ठंडा पड़ जाता है। इसमें संकलित दो कविताओं में से एक में एक स्त्री का कथन नियंत्रित पीड़ा और व्यंग्यपूर्ण फटकार से परिपूर्ण है जबकि पुरुष का पौरुषपूर्ण वक्तव्य और युक्तिपूर्ण तर्क स्त्री-पक्ष को आश्वस्त नहीं कर पाता बल्कि आहत और क्षुब्ध करता है। नारी के हृदय के बारे में रवीन्द्रनाथ की समझ पुरुष के शारीरिक संबंध और पुरुष दंभ की गुत्थी के मुकाबले कहीं अधिक सूक्ष्म और गहन है।

कभी कभी रवीन्द्रनाथ की इसी भारतीय माटी में से कोई तपस्वी आविर्भूत हो जाता है और उनका जीवन के प्रति जो उत्साह है वह मंद पड़ जाता है—"विचार के निष्प्रभ सांचे से विवर्ण।" यह कुछ ऐसा ही है जैसे कि प्रोस्पेरों की घड़ी हो। दूसरे शब्दों में जिसके अचानक टूट जाने पर इस संसार के जीवन का आश्चर्यजनक दृश्य-पटल निष्प्राण जान पड़ता है। आखिर यह पीड़ा क्यों है? यह अपूर्णता और प्रतिद्वंद्विता क्यों है। यह सारा कुछ परछाईं की तरह पिघल जाना चाहिए और पाना और न पाना दोनों ही किसी उच्छ्वास में समाप्त हो जाते हैं। कभी कभी वे यह महसूस करते हैं कि उस समस्त प्रेम के बारे में इस जीवन में और अपने पिछले जन्मों में जितना कुछ भी ईश्वर प्रेम में, आत्मा की अनवरत तलाश में इसके ज्ञेय को जाने बिना इसके चरम उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उस सच्चे प्रेम की चाह में भटक रहा है। यह धार्मिक चेतना और परमसत्ता के साथ एक संतोषप्रद संबंध की सघनता—जिसे 'गीतांजलि' रचना के दौरान अपनी पराकाष्ठा तक पहुंचना था, उनके भीतर हलचल-सी मचाने लगी थी। लेकिन जीवन का प्रेम बड़ा सुदृढ़ होता है और रहस्यवादी चेतना अब भी उतनी प्रबल नहीं हुई थी। और इसीलिए अपनी 'आशंका' शीर्षक से एक कविता में वह आश्चर्य व्यक्त करते हैं : यह उपयुक्त ही है कि छोटे-मोटे प्रेम किसी विराट प्रेम में विसर्जित हो जाएं, जैसे कि लाखों नक्षत्रों का प्रकाश समाहित होकर केवल एक

प्रकाश के रूप में अपनी आभा विकीर्ण करे।

लेखन के क्षेत्र में इस तरुण कवि को चाहे जो भी उपलब्धियां प्राप्त हो रही हों, उनके पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ इस बात पर अडिग थे कि उनके बेटे को एक व्यक्ति और एक जमींदार परिवार के पुत्र के रूप में दूसरी जिम्मेदारियां भी संभालनी चाहिए। रवीन्द्रनाथ अपने पिता के उस आदेश की अब और अधिक अनसुनी करने की स्थिति में नहीं थे कि उन्हें अपनी पारिवारिक जमीन जायदाद की देखरेख का सारा भार ले लेना चाहिए-- जो कि इस समय की उत्तर-पूर्वी बंगाल और ओड़िसा प्रांत तक फैली हुई थी। युवक रवीन्द्रनाथ को यह भार लेना ही पड़ा। इस दुर्वह भार को अपने कंधे पर लेने में पहले वह झिझकते रहे थे लेकिन बाद में उन्होंने पिता के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त की थी कि उन्होंने इस दायित्व के लिए उन्हें झोंक दिया था। यह शिक्षण उनके अंदर छिपे व्यक्तित्व के निर्माण के लिए अनिवार्य ही नहीं था-- बल्कि ग्रामीण बंगाल में उन्होंने इस कार्य के लिए जितने वर्ष व्यतीत किए, उस दौरान प्रकृति के साथ उनकी आत्मीयता ने इस देश के बहुविध परिदृश्य की झांकियां उपस्थित कीं और साथ ही उन्हें सुविस्तृत और सुदृढ़ आधार भी प्रदान किया; अन्यथा वे इन सबसे अपरिचित ही रह जाते। यह उनकी कविता के लिए बड़ा ही समृद्ध आहार था। लेकिन इससे भी उपयोगी चीज थी वह अंतरंगता , जो उन्होंने उस सामान्य जन के यथार्थ जीवन से मिलकर प्राप्त की--जो प्रकृति की उदासीनता के चलते निरंतर संघर्ष और दिनचर्या की एकरसता या ऊब तथा कठोर सामाजिक रूढ़ियों से ग्रस्त एवं विदेशी राजनैतिक शासन के घोर शिकार थे।

यह सारा कुछ रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा के लिए एक तरह से वरदान साबित हुआ और सही तौर पर एक ऐसा आधार साबित हुआ जिससे कि उनका कहानी लेखक के रूप में सफल होना संभव हो पाया और वे एक देश की सामाजिक और आर्थिक योग्यता के लक्षणों का ठीक ढंग से इलाज कर पाने में सक्षम हो पाए। इस अवधि के दौरान उन्होंने जो पत्र लिखे उनमें से ज्यादातर अपनी प्रिय भतीजी इन्दिरा के ही नाम थे, इनमें से कुछ चुने हुए अंश 'छिन्न पत्र' (अंग्रेजी में) 'ग्लिम्प्सेज ऑफ बंगाल' शीर्षक से अनूदित) में प्रकाशित हुए-- एक मनुष्य के रूप में उनकी गहरी सदाशयता और एक कवि के रूप में उनकी उदात्त संवेदनाओं के बड़े ही महत्वपूर्ण दस्तावेज हैं। चूंकि ये पत्र प्रकाशनार्थ लिखे नहीं गए थे-- इसलिए ये पूरी स्वछंदता से और आत्म-सजगता के बिना लिखे गए थे। ये पत्र सिर्फ बंगाल की झांकी ही प्रस्तुत नहीं करते बल्कि लेखक की विकास-यात्रा को भी दर्शाते हैं।

प्रकृति के जिन दो युग्मों को उन्होंने सबसे अधिक पसंद किया-- वे थे अंतरिक्ष (स्पेस) और गति (मोशन) तथा आकाश और नदी--जिन्हें पाकर ही उनका हृदय आश्वस्त हो जाता था। कम ही कवियों ने अंतरिक्ष को उतना चाहा होगा, जितना कि रवीन्द्रनाथ ने-- अंतरिक्ष ऊपर और अंतरिक्ष नीचे--एक ऐसी सुविस्तृति--जो समस्त संवेदनाओं की पहुंच से परे

है। रवीन्द्रनाथ बार बार 'अंतरिक्ष की क्षुधा' के बारे में बातें करते हैं और एक बार उन्होंने लिखा भी था-- "गोइथे ने अपनी मृत्यु शैय्या पर और अधिक प्रकाश की चाह व्यक्त की थी। अगर ऐसी ही घड़ी में मेरे मन में ऐसी कोई चाह होगी तो वह अधिकाधिक व्यापक अंतरिक्ष की ही होगी"। अपने ऐसे ही एक पत्र में, उन्होंने लिखा था कि कैसे एक शाम को, जब वह एक सौंदर्य सिद्धांत संबंधी अंग्रेजी पुस्तक पढ़ रहे थे और इसकी दुरूह परिभाषाओं और परिष्कृत वैशिष्ट्यों से जूझ रहे थे कि अचानक उन्हें लगा कि वे कुछ इस तरह मुरझा गए और उदास हो गए मानो वे एक ऐसी मिथ्या मृग-मरीचिका में भटक रहे हों—जो उनकी हंसी उड़ा रही हो। उन्होंने किताब मेज पर पटक दी और चूंकि रात बहुत पहले ही गहरा चुकी थी इसलिए बत्ती बुझाकर वे सोने की इच्छा से बिछावन पर जा पड़े । जैसे ही उन्होंने ऐसा किया, बाहर खिली चांदनी खिड़की के रास्ते अंदर कमरे में आकर झिलमिला उठी। बाहर देखा तो आकाश प्रकाश से जगमगा रहा था। उन्हें आश्चर्य हुआ मनुष्य द्वारा बनाई गई एक छोटी-सी बत्ती भी किस प्रकार बाहर के सौंदर्य को आंखों से सफलतापूर्वक ओझल करने में सक्षम है।

रवीन्द्रनाथ अपनी पत्नी और बच्चों से मिलने अक्सर कलकत्ता आया करते। परिवार ने, इस बीच पुरानी 'भारती' पत्रिका के बदले नयी साहित्यिक पत्रिका 'साधना' की शुरुआत की थी। चार वर्षों तक चलने वाली इस पत्रिका के पन्ने रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा की विपुल उर्वरता और विविधता के बड़े ही प्रभावी साक्षी रहे।-- उनकी कविताएं, नाटक, कहानियां, साहित्य समालोचना, निबंध और कई राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याओं पर उनकी टिप्पणियां... सब कुछ। इसके बाद उनके द्वारा लिखी जाने वाली लेखनी से निकलने वाली लगभग सभी रचनाओं पर प्रौढ़ता की छाप होती थी-- जिसमें अज्ञात विचारों का परिदृश्य और स्वयं अर्जित भाषा में लिखित साहित्य अभिव्यक्त होता रहा। अगर उन्होंने किसी प्रयोग को जारी रखा-- और वे जीवन भर प्रयोगधर्मी बने रहे तो इसलिए नहीं कि उन्हें अपना रूप या न्यास नहीं मिला बल्कि इस तलाश का कोई अंत नहीं था।

इसी दौरान 1891 में उनकी विलक्षण नाटिका 'चित्रांगदा' (अंग्रेजी अुनवाद में 'चित्रा') लिखी गई और कोई एक वर्ष बाद प्रकाशित हुई। उनके अन्य नाटकों में से यही एक कृति ऐसी थी जो बसंत में लिखी गई थी। जैसा कि उन्होंने लिखा भी है, "सर्दियों में गीतात्मक उत्साह स्वाभाविक ही है, धीरे धीरे मंद पड़ जाता है और इतना अवकाश मिल जाता है कि कोई नाटक लिखे।" और यह गीतिनाट्य तो सचमुच सर्वश्रेष्ठ है। इसकी प्रत्येक पंक्ति में जैसे बसंती बयार का झोंका बहता है और ऐंद्रिय उल्लास के उत्कर्ष में बहा ले जाता है। वस्तुतया इसकी विषय वस्तु बसंत के हर्षातिरेक से जुड़ी है और इसकी शक्ति संदेवनाओं के सम्मोहन में है। बसंत स्वयं एक पात्र के रूप में इस नाटिका में आया है, जो रवीन्द्रनाथ की सर्वोत्तम रचनाओं में से एक है। यह कृति एक अनिन्द्य कलाकृति है और अपने आप

में एक प्रतिमान है। वह मुक्त छंद में रचित है और न्यास के मामले में रवीन्द्रनाथ का अंतिम महान प्रयोग था। महाभारत में उल्लिखित इस सहज और सरल आख्यान को रवीन्द्रनाथ ने नाटकीय रूप प्रदान किया है जो गीतिपरक भावातिरेक और गहन मनोवैज्ञानिक अंतर्दृष्टि से संपन्न पूर्णतया प्रभावी और जीवंत हो उठा है।

राजकुमारी चित्रा, जिसका लालन-पालन एक लड़के के रूप में हुआ था और जिसे अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा देकर युद्ध कला में पारंगत बना दिया गया था—देखने में सर्वथा सीधी-सादी और एक अनाकर्षक युवती थी। वह हृदयों को जीतने की नारी सुलभ आकांक्षाओं से भी हीन थी। वह किसी को भी अपने तीर-धनुष से बींध सकती थी, लेकिन अपने नयनों के कटाक्ष से नहीं। पुरुष वेश में जब वह एक जंगल में किसी हिरण का पीछा कर रही थी उसने देखा कि एक पुरुष उसके मार्ग में लेटा हुआ है। चित्रा ने आवेश में उसे वहां से हट जाने का आदेश दिया लेकिन उस व्यक्ति ने उसकी बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया। क्रोध में आगबबूला होकर उसने उसे अपने तीक्ष्ण बाण से बींध दिया। पुरुष धधकती ज्वाला की तरह तत्क्षण उठा खड़ा हुआ लेकिन शिकारी के वेश में एक युवती को देखकर वह व्यंग्य से मुस्कुराया। "तब जीवन में पहली बार मुझे यह अनुभव हुआ कि मैं एक नारी हूं और यह प्रतीत हुआ कि मेरे सम्मुख कोई पुरुष खड़ा है।" उसने उस युवक से पूछा कि "तुम कौन हो?" "मैं हूं महान कुरु वंश का अर्जुन," उसने बताया। राजकुमारी सचमुच स्तंभित हुई। उसके सामने वह महान योद्धा खड़ा था, जिसे उस युग की हर एक युवती अपने स्वप्न में पाने की चाह संजोए हुए थी। अपने संभ्रम में भी वह चुप्पी साधे रही यहां तक कि एक महान योद्धा के रूप में उसका अभिनंदन तक नहीं कर पाई और अर्जुन भी उसकी अवज्ञा से आहत वहां से विदा हुआ।

दूसरे दिन प्रातःकाल चित्रा ने पुरुष-परिधान उतार फेंका और स्त्रियोचित शृंगार के साथ अर्जुन के साथ अरण्य में विहार करने के लिए उसे लुभाना चाहा। लेकिन अर्जुन ने उसके अनुरोध को यह कहकर ठुकरा दिया कि उसने ब्रह्मचर्य-पालन की शपथ ले रखी है और किसी नारी-देह का संस्पर्श तक नहीं कर सकता। अपनी अहंमन्यता के बोध से अपमानित और आहत होकर चित्रा ने अपना धनुष दो टुकड़ों में तोड़कर फेंक दिया और अपनी तपस्या द्वारा मदन का आह्वान किया। काम के देवता मदन अपने चिरसंगी और चिरतरुण मित्र बसंत के साथ उसके सामने प्रकट हुए। राजकुमारी ने उससे प्रार्थना की, "एक दिन के लिए ही सही, मुझे एक अनन्य और अप्रतिम सुंदरी में परिणत कर दो और साथ ही मेरे हृदय में प्रेम की अनाहूत चेतना उद्दीप्त कर दो। मात्र एक दिन के लिए ही सही, मुझे परिपूर्ण सौंदर्य प्रदान करो ताकि मैं आने वाले दिन के लिए उत्तर दे सकूं।" देवताओं ने उसे परिपूर्ण सौंदर्य का उपहार प्रदान किया— सिर्फ एक दिन के लिए ही नहीं, बल्कि पूरे एक वर्ष के लिए।

जोड़ासांको में टैगोर परिवार का पुश्तैनी घर

द्वारकानाथ टैगोर

देवेंद्रनाथ टैगोर

शारदा देवी

वृक्षारोपण समारोह

पेरिस प्रदर्शनी, 1930 में कांउटेस द नोई और विक्टोरिया ओकाम्पो

रवीन्द्रनाथ, 1940

जापान में, 1916

विश्वभारती का स्थापना समारोह

रवीन्द्रनाथ और एल.के.एल्महर्स्ट

आइन्स्टीन और रवीन्द्रनाथ

जमींदार रवीन्द्रनाथ अपनी प्रजा के बीच में

1912 में रोथेन्स्टाइन के मकान में
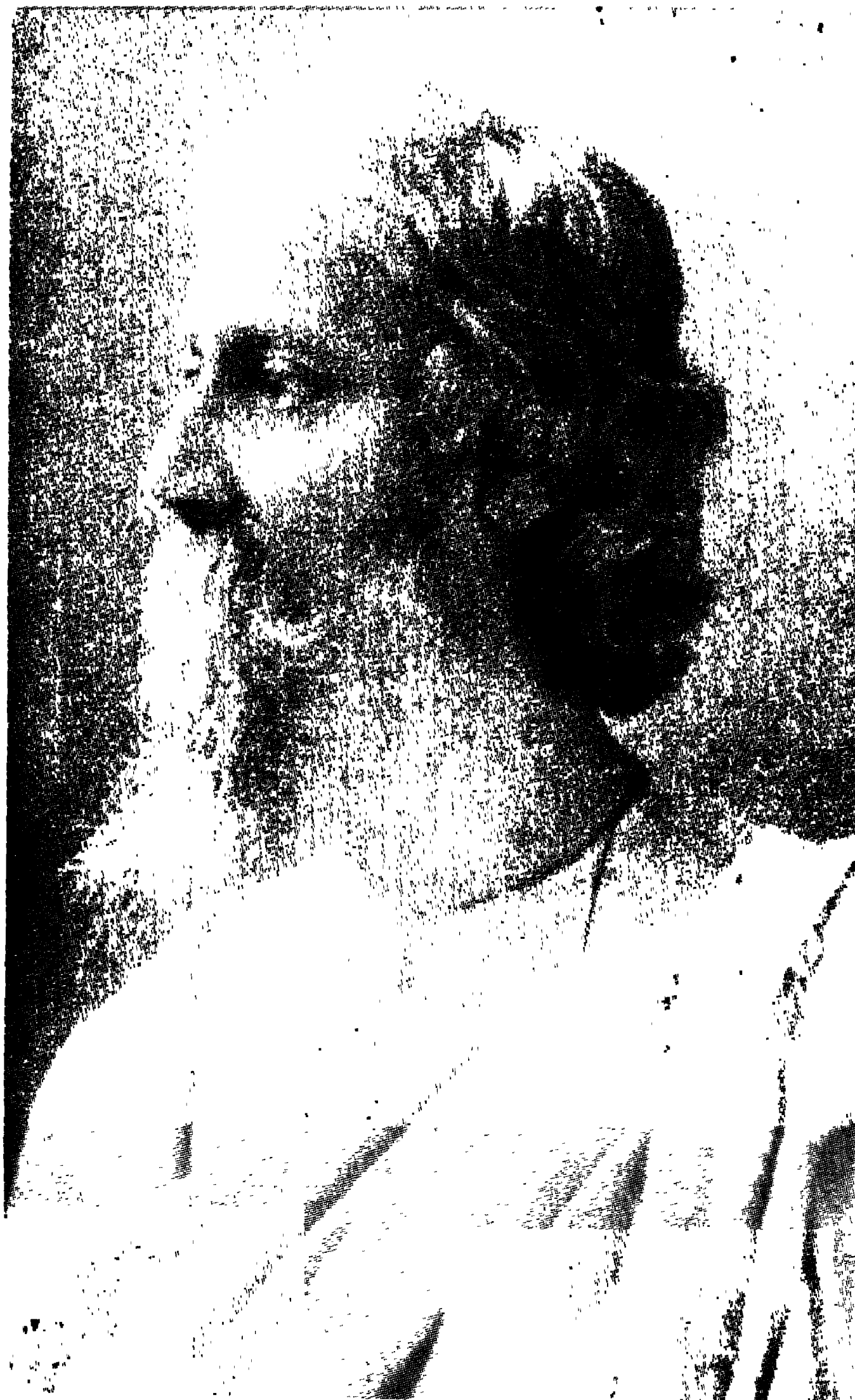
रवीन्द्रनाथ, 1913

कादम्बरी देवी

रवीन्द्रनाथ ब्राइटन में

रवीन्द्रनाथ और मृणालिनी देवी

बेला और रथी के साथ
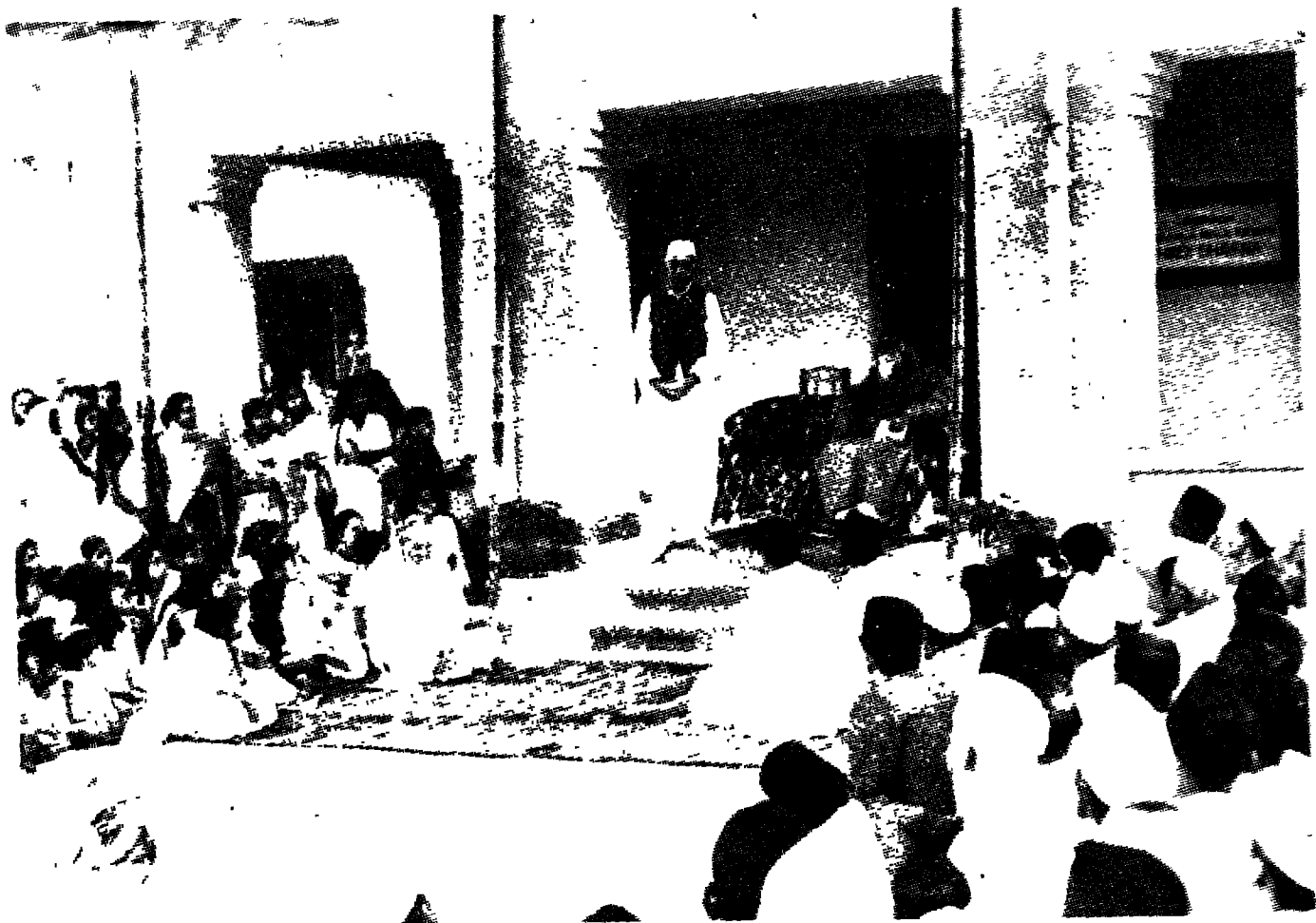
हिन्दी भवन का उद्घाटन
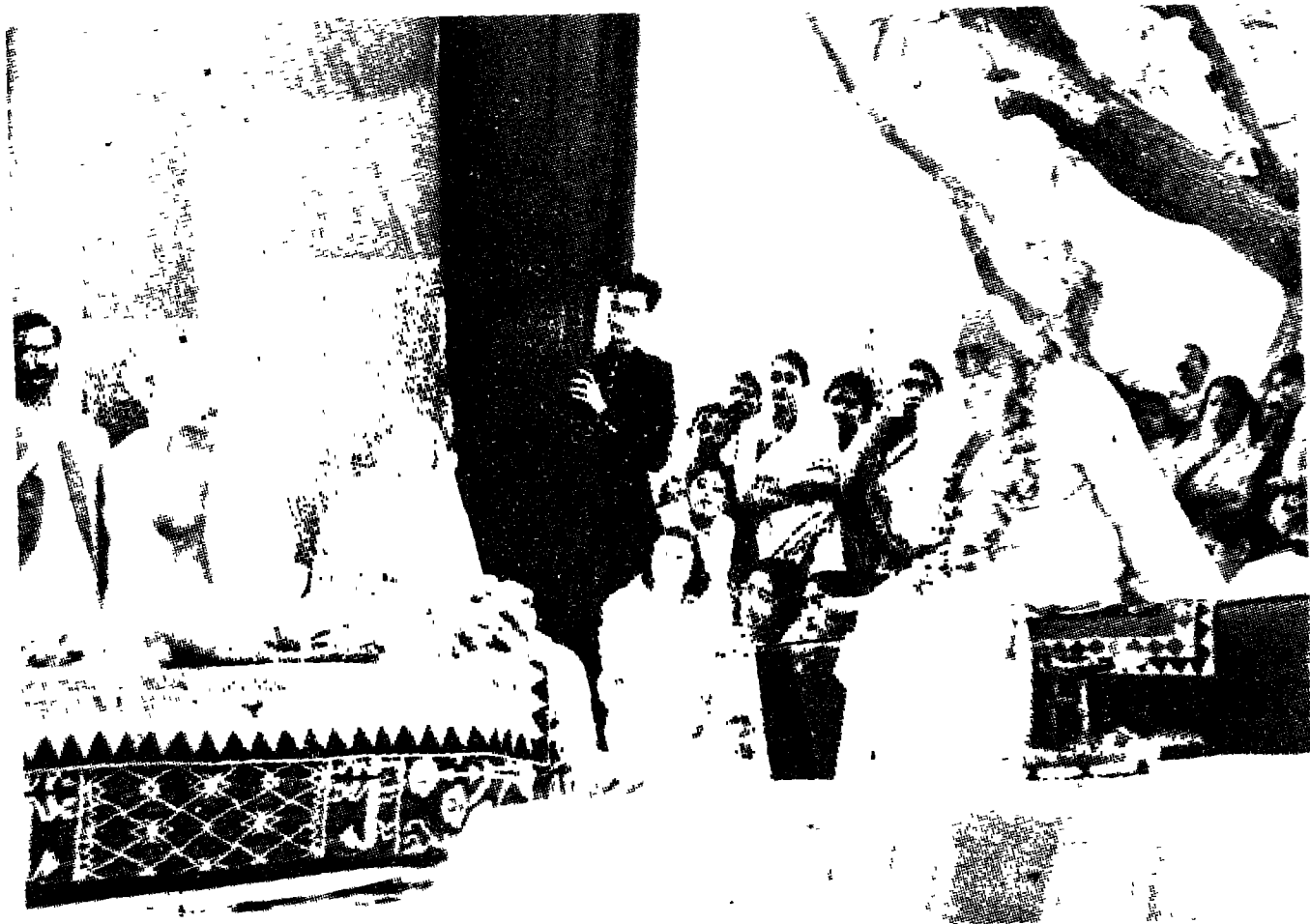
शांतिनिकेतन में गांधीजी और कस्तूरबा (1940)

शांतिनिकेतन में आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी द्वारा टैगोर को डाक्टरेट की उपाधि प्रदान की गई। इस अवसर पर टैगोर एस. राधाकृष्णन और मौरिस ग्वायर के साथ

अंतिम यात्रा

चित्रा को एक अपूर्व सुंदरी के रूप में परिणत कर दिया गया। और अरण्य के एक जलाशय में उसे नहाते-धोते और जल में अठखेलियां करते देखकर अर्जुन अपने होश गंवा बैठा और उसके पांव डगमगा गए। ब्रह्मचर्य-तप की बात भूलकर वह उसका मनुहार करने लगा। कुछ महीनों तक दोनों प्रेमी युगल प्रेम के वरदान में स्वच्छंद विचरण करते रहे। लेकिन चित्रा बहुत प्रसन्न थी कि उसने अपने प्रेमी को उधार में प्राप्त सौंदर्य के बल पर जीता है और इस बात से आतंकित थी कि उसने अपनी ही काया में अपने एक प्रतिद्वंद्वी को जन्म दिया है, "मैंने अनुभव किया है कि मेरी काया ही मेरी शत्रु बनी बैठी है। मेरे लिए यह एक घृणित दिनचर्या हो गई है कि मैं उसे प्रतिदिन सजाती-संवारती फिरूं, उसे अपने प्रेमी के निकट जाने को प्रेरित करूं और देखूं कि वह उसे प्यार से पुचकार रहा है। ओ देवता, तुम अपना वरदान वापस ले लो।" देवता ने उसे आश्वस्त किया कि समय के अंतराल में जब फूलों का मौसम फल में परिणत हो जाएगा और अर्जुन देह के आनंद से क्लांत हो जाएगा-- तो तुम्हारी देह के अंदर छिपकर बैठी सच्ची नारी की तलाश करेगा। इस बीच "ओ बालिके, तू जा और अपने उन्मत्त प्रेमोत्सव में भाग ले।"

और ठीक ऐसा ही घटित होता है। दैहिक आंनद की परिवृत्ति इस अपरिहार्य प्रतिक्रिया को जन्म देती है और अर्जुन का योद्धा मन जीवन में गति के लिए उस प्रेम के लिए भटकने लगता है, "जो आनंद से अधिक चिरस्थायी हो भले ही उसे वेदना या यातना का दंश झेलकर पाया जा सके।" उसका चित्त विचलित हो उठता है, उस सर्प की तरह जो शीतकाल में अपनी लंबी नींद के बाद जग उठता है। एक दिन अर्जुन की भेंट कुछ अरण्यवासियों से होती है जो उसे वीर सेनानी राजकुमारी चित्रा के बारे में बताते हैं, जो न केवल योद्धा ही है बल्कि बड़ी शालीन भी है-- जिसमें पुरुषों की-सी वीरता है और मातृवत हृदय भी। अर्जुन को आश्चर्य हो चला था कि यह दूसरी चित्रा कौन है? उसने अपनी दिव्यरूपा रूपसी प्रेयसी से इस बारे में पूछा तो उसने बताया कि राजकुमारी एक सीधी-सादी, फूहड़ और समस्त स्त्रियोचित सौंदर्य से विहीन थी, उसके गुण कारागार की दीवारों की तरह थे, जिसमें कैद उसकी नारी छीजती चली गई थी। लेकिन अर्जुन की जिज्ञासा तीव्रतर होती चली गई और उसने चित्रा से अनुरोध किया कि वह उसे राजकुमारी से मिलवा दे। चित्रा मन ही मन आनंदित हुई और उसने राजकुमारी से उसका परिचय करा देने का वादा किया। उसने देवताओं से प्रार्थना की कि वह उसका छद्म सौंदर्य लौटा लें। देवताओं ने चित्रा को प्रदत्त अपने अपने समस्त उपहार लौटा लिए और वह दोबारा अपने पुराने और सच्चे कलेवर में अर्जुन के सामने आ गई और बताने लगी, "मैं चित्रा हूं, मणिपुर की एक राजकुमारी-- न तो ऐसी कोई देवी, जिसे पूजा जा सके और न ही एक नारी जिसे मात्र भोग्या समझकर उपेक्षित रखा जाए क्योंकि यह लोगों को लुभाती है। अगर तुम मुझे अपनी सहधर्मिणी मानकर भयावह और कंटकपूर्ण राह पर ले जाने को साथ रखो, अगर तुम मुझे मेरे सहभागिनी

के रूप में अपने जीवन के महान दायित्वों को निभाने को कहो तो तुम सच्चे स्वरूप को समझ पाओगे।" यह नाटिका अर्जुन के इन शब्दों के साथ समाप्त होती है, " हां प्रिये, मेरा जीवन परिपूर्ण हुआ।"

जिस वर्ष यह गीतिपरक नाटिका प्रकाशित हुई उसी वर्ष रवीन्द्रनाथ ने गद्य विद्या में अपना पहला सामाजिक प्रहसन 'गोड़ाय गलद' (गलत से शुरुआत) लिखा और प्रकाशित कराया। यह कई विडंबनाओं का प्रहसन था, जो सामाजिक व्यंग्य से गुंथा हुआ था। इसका चुटिल, चमकप्रद और परिष्कृत विनोद आस्कर वाइल्ड की कृतियों के समकक्ष था– जो लंदन में लगभग इसी समय लिखीं और प्रकाशित हो रही थीं। रवीन्द्रनाथ की प्रस्तुत रचना तीन युवा बुद्धिजीवियों तथा उनकी धर्मपत्नियों के स्वच्छंद भावोच्छ्वासों और वैवाहिक जीवन के विषादों को चित्रित करती है। इसकी कथा-वस्तु सहज और ऋतु है, इसमें किन्हीं सामानांतर कथाओं और प्रासंगिक अंतर्कथाओं को अनुस्यूत नहीं किया गया। यह प्रहसन पाठकों की सहज समझ को बिना किसी तनाव के चरमोत्कर्ष तक पूरी प्रसन्नता के साथ लिए चलता है। इसके संवाद वाग्वैदग्ध्यपूर्ण हैं—इसमें आए देशी मुहावरे किसी दूसरे माध्यम में बड़ी कठिनाई से रूपांतरित हो सकते हैं। साथ ही, इसमें समकालीन विक्टोरियन उपन्यासों पर हल्का कटाक्ष भी है जबकि इनमें से एक रोमानी युवक अपने उबाऊ और रोजमर्रा की जिंदगी वाले "शाकाहारी अस्तित्व" से जिसमें मांस-मज्जागत कोई ऊष्मा नहीं है, कहता है, "अब तो मैं यही कोशिश करूंगा कि किसी अंग्रेजी उपन्यास के पात्र की तरह जीने से बाज आऊं—जिसमें मुझे किसी एडिथ, या एलेन या फिर लियोनारा जैसी किसी युवती से प्यार करना पड़े। लड़की का बाप इस मिलन पर पांव पटक कर खीज प्रकट करे जबकि लड़की आत्महत्या की धमकी दे और उपन्यास के अंतिम अध्याय को कभी समाप्त ना होने वाले और सदाबहार परिणय उत्सव के साथ समेटा जाए और इस तरह पांच शिलिंग प्रति कापी की दर से इस उपन्यास के धड़ाधड़ कई संस्करण बिकते चले जाएं।"

7

धरा की पुकार

वहां है वह, जहां हलवाहा कठोर जमीन जोत रहा है।
और पथ निर्माण के लिए कोई पत्थर तोड़ रहा है।

अपनी कला देवी को प्रसन्न करते और रिझाते रवीन्द्रनाथ के अंदर बैठा पुरुष 'चित्रांगदा' के अर्जुन की तरह, अपनी गतिविधियों को और व्यापक स्तर पर फैलाना चाहता था और लोगों के बीच एक परिपूर्ण जीवन जीना चाहता था। उनमें बैठा कलाकार भी, ताजी दूब वाले चरागाहों में विचरण करता और अभिव्यक्ति के अभिन्न क्षेत्रों की तलाश में रहता था। कवि की कल्पना यथार्थ के निरीक्षण द्वारा दृढ़ समर्थन की प्रत्याशा करती है, ठीक वैसे ही जैसे कि कोई नाजुक-सी लता किसी पेड़ का मजबूत आधार पाकर धीरे धीरे बढ़ती चली जाती है और अपनी जगह बना लेती है। गांव के जीवन ने उन्हें अपनी धरा की माटी के सीधे संपर्क में ला दिया था और जमीन-जायदाद से जुड़े रोजमर्रा के नीरस और फीके कामों के बीच यह देखने का अवसर दिया कि अपने ही लोगों में से अधिकांश का जीवन कितना कठिन है। उनके मन में उनके प्रति स्नेह जागृत हो चला था और इस स्नेह ने ही उनकी असहायता को समझने में उनकी सहायता की, ठीक वैसे ही जैसे कि एक मां के हृदय में अपने अबोध शिशु के लिए होती है।

"इन ग्रामीण लोगों को—अपनी रैयत को—देखकर मैं मर्माहत हो उठता हूं। ये उस विधाता की बड़ी और अभागी संतान हैं, जिसे उनके मुंह में दो मुट्ठी अन्न का कौर जुटाना ही पड़ेगा वरना वे तबाह हो जाएंगे। जब मां वसुंधरा की छाती ही सूख जाए तब वे सिवा रोते रहने के और कर भी क्या सकते हैं। और जैसे ही उनकी क्षुधा मिट जाती है वे बाकी सब कुछ भूल जाते हैं।" एक दूसरे पत्र में वे लिखते हैं : "अगर सभी मनुष्यों के मस्तिष्क को जोड़ने वाली कोई अंतचेतना विद्यमान है तो मेरे हृदय में उनके प्रति जो गहरे सरोकार की भावना है, वह उन तक अवश्य पहुंचेगी और उससे उनका कल्याण भी होगा।"

यह गहरा सरोकार मात्र मौखिक या काव्यात्मक ही नहीं था। ऐसी स्थिति में जो भी संभव था उन्होंने "इन बड़े और विधाता की अभागी संतानों" के लिए किया ताकि वे

आत्मनिर्भर वयस्क बने सकें और इस तरह उन्होंने ग्रामीण सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के लिए आरंभिक प्रयोगों की शुरुआत की। तब देश विदेशी दासता के अधीन था और उसका कानून उन निहित स्वार्थियों के मौन या मुखर समर्थन पर टिका था और इस बात की कोई प्रत्याशा नहीं की जा सकती थी कि प्रशासन या अन्य कोई ताकत 'कानून और नियम' की रक्षा को मुस्तैद हो। इसके अलावा, रवीन्द्रनाथ को उस समाज की बेहतरी के लिए यह उपयुक्त नहीं जान पड़ा कि जहां कोई व्यक्ति अपने प्रयासों के प्रति उदासीन हो जाए और ऐसे मामलों में राज्य की सहायता या मार्ग निर्देश की अपेक्षा करके बैठा रहे, जहां खुद अपनी सहायता और शक्ति सबसे महत्वपूर्ण हो सकती है। अगर हरेक व्यक्ति के लिए सरकार सब कुछ मुहैया करती रहे तो ये लोग उसी नियति के ही बड़े और अभागे बच्चे नहीं बने रहेंगे बल्कि राज्य के बने रहेंगे।

ऐसी स्थिति में उनका सामुदायिक विकास कार्यक्रम स्वावलंबन और आत्मबोध के दोहरे सिद्वांत पर आधारित था। इसमें भी आत्मबोध बहुत ही आवश्यक था क्योंकि अगर लोगों के अपने प्रयासों से कमी हो गई है तो यह इसलिए नहीं कि उन्होंने अपनी राजनैतिक आजादी खो दी है या कि शारीरिक या नैतिक रूप से अकर्मण्य हो गए थे बल्कि उनकी आत्माएं विभिन्न प्रकार के सामाजिक निषेधों और धार्मिक रूढ़ियों के चलते अपंग हो गई थीं। एक तरफ तो वे आधारभूत वैज्ञानिक जानकारियों से पूरी तरह अनजान थे तो दूसरी तरफ हर तरह के धार्मिक पाखंड पर आंख मूंद कर विश्वास करते हुए विज्ञान के वास्तविक चमत्कारों को संदेह की दृष्टि से देखते थे। उनकी दुर्दशा और उदासीनता इस बात की साक्षी थी कि अज्ञान से बढ़कर कोई अनर्थ नहीं और इसमें डूबे रहने से बढ़कर कोई पाप नहीं।

यह एक तरह का आत्मबोध ही था, जो उनके स्कूली जीवन की पीड़ादायक स्मृतियों से ही हुआ था जो कि 'तोता रटंत और परीक्षा में वमन' (क्रैम एंड इक्जाम) की एक मशीनी पद्धति पर आधारित शिक्षण-पद्धति थी और जिसने कि उन्हें धीरे धीरे इस भूमिका के लिए तैयार किया था कि वे एक शिक्षाविद् और समाज सुधारक बनें और भारतीय गांवों के आर्थिक जीर्णोद्वार के लिए जीवनपर्यंत कार्यरत रहें और इसमें अपनी रुचि बनाए रखें। इस दृष्टि से उनके आरंभिक प्रयोग अपनी खानदानी जागीर के किसानों के लाभ के लिए ही शुरू हुए। कई वर्षों बाद, जब वे शांतिनिकेतन में शैक्षणिक प्रयोगों को कार्यान्वित कर रहे थे तो, उन्होंने इस शैक्षणिक परिसर के समानांतर ही एक संस्थान की स्थापना की और इसे श्रीनिकेतन नाम दिया—जो कि ग्रामीण सामुदायिक विकास संबंधी प्रयोगों का केंद्र था। 'श्री' से यहां तात्पर्य था समृद्धि और साथ ही सौंदर्य या लावण्य। उन्होंने सामाजिक भागीदारी और सेवा पर बहुत बल दिया और अपने विद्यालय के उन छात्रों के बीच जीवंत संवाद पर जोर दिया जो आनेवाले कल के होनहार बुद्धिजीवी और सक्रिय नेता होने वाले थे और

साथ ही धरती की जड़ों में पैठे वे किसान थे—जो भारतीय अर्थतंत्र और समाज के सशक्त आधार थे। जब तक कि इस आधारशक्ति में कोई परिवर्तन नहीं होगा भारत की स्थिति भी अपरिवर्तनीय बनी रहेगी, भले ही कलकत्ता या बंबई जैसे कुछ गिने-चुने शहरों में बुद्धिजीवी वर्ग में थोड़ी-बहुत प्रगति के चिह्न दिखें।

रवीन्द्रनाथ हालांकि अपने लोगों के बीच एक अग्रणी बुद्धिजीवी थे लेकिन उनका मुख्य सरोकार एक कवि ही नहीं, एक मुनष्य के रूप में भी लगातार पचास वर्षों तक, 1890 से 1941 तक यानी मृत्युपर्यंत, भारतीय किसान ही था। अपने सीमित क्षेत्र संसाधनों की बदौलत उन्होंने किसानों के लिए यह संभव कर दिखाया कि वे अपने लिए पाठशालाओं और चिकित्सालयों, सड़कों और जलाशयों का निर्माण कर सकें, सहकारी उपक्रम और बैंक का गठन कर सकें तथा स्वशासन की प्रणाली विकसित कर सकें ताकि वे भ्रष्ट साहूकारों तथा उन छोटे-मोटे वकीलों के चंगुल से अपने को बचा सकें जो मुकदमेबाजी की बदौलत अपना घर भरते रहते हैं। वर्ष 1913 में उन्हें नोबेल पुरस्कार के रूप में जो प्रभूत राशि मिली वह उन्होंने शांतिनिकेतन के विद्यालय को अनुदान में दे दी और इसके एक अंश का उन्होंने कृषि सहकारिता बैंक में निवेश कर दिया, जिसका गठन उन्होंने काफी पहले अपने खानदानी जागीर वाले एक गांव पातिसर में किया था। और इस तरह उन्होंने एक ही पत्थर से दो चिड़ियों को निशाना बनाया। एक ओर जहां किसानों को कम ब्याज दर पर कर्ज प्राप्त हुआ वहां दूसरी ओर विद्यालय को एक निर्धारित वार्षिक आय प्राप्त होती रही।

एक ही समय में यह उदार जमींदार जहां अपनी रैयतों की भलाई के प्रति इतना चिंतित था—उसके बीच बैठा सर्जक आम लोगों के जीवन, उनके हर्ष और विषाद, उनके प्यार और प्रतिकार, उनके धैर्य और बहादुरी के छोटे-मोटे करनामे, परिवार या धर्म के मामले में अपना बलिदान करने की उनकी क्षमता तथा अन्याय और अत्याचार के प्रति कायरतापूर्ण जीवन को लक्ष्य कर मौन सहमति कहा था। लघु में महान के निरंतर संधान और इस नाते आम लोगों के जीवन में उन्हें अपनी कहानियों के लिए भरपूर सामग्री प्राप्त हुई। अब तक उन्होंने कविताएं, कहानियां, नाटक, उपन्यास और निबंध लिखे थे। इन सब विधाओं को उन्होंने अच्छी तरह टोहा-टटोला तथा तराशा था और तभी उन्होंने इनमें अपने रूपाकार का संधान प्राप्त किया था। लेकिन कहानियों के मामले में आरंभ से ही उन्होंने अपनी सुदक्षता का परिचय दिया था। उन्होंने किसी भी ज्ञात या अज्ञात आदर्श या आधार का अनुभव नहीं किया—क्योंकि इस देश में इस साहित्य विधा की परंपरा का वैसे भी कोई नहीं था। वे पहले ऐसे भारतीय थे जिन्होंने इसे रूप प्रदान किया और चूंकि भारतीय लेखकों के बीच कहानी लेखन-विधा बहुत लोकप्रिय हो चली है तो भी ऐसा कोई दूसरा नहीं है जो इस क्षेत्र में उनकी समानता कर सके, शायद ही कोई ऐसा हो, जो उन्हें पीछे

छोड़ गया हो।

इनमें से कई कहानियां किन्हीं दृश्यों या घटनाओं अथवा पात्रों को दृष्टि में रखकर लिखी गई थीं जिनका अवलोकन उन्होंने पद्मा नदी के ऊपर तैरते अपने बजरे से किया था—इस बजरे का नाम भी संयोग से पद्मा ही था। इन कहानियों के क्रम का, जो इस दौरान लिखी गई थीं, उन्होंने अपने पत्र में उल्लेख किया है। वे नदी के उस घाट को देखते रहे जिन पर काई लगे हुए पत्थर बिछे थे—और वे इस बात पर हैरान थे कि अगर इन पत्थरों की जुबान होती तो वे कितना कुछ बोल पाते। और ये घाट बोलना आरंभ कर देते हैं। ऐसी ही एक कहानी है 'घाटेर कथा' (घाट की कहानी) जिसमें वह पुरानी बातों को याद करता हुआ बताता है कि एक छोटी और प्यारी-सी लड़की इस नदी तक आया करती थी— "वह इतनी प्यारी थी कि उसकी परछाईं को पकड़ सकूं और अपने पत्थरों में उकेर कर रख सकूं।" कुसुम को इस नदी के जल से इसलिए प्यार था कि वह इसी गांव की थी। जल्द ही एक ऐसी भी घड़ी आई जब उसका आना बंद हो गया और घाट को उसकी सहेलियों की बात से पता चला कि छोटी-सी कुसुम का विवाह हो चुका है और वह अपने पति के घर दूसरे गांव चली गई है।

दिन बीतते जाते हैं। एक दिन अचानक पत्थरों में उसी जानी-पहचानी खुशी की सिहरन जगती है, जो कि कुसुम के पैरों की आहट से कभी जागा करती थी। लेकिन उसके चरणों का वह सुमधुर संगीत अब न जाने कहां खो गया था। कुसुम अपने गांव लौट आई थी—लेकिन विधवा बनकर। वह धीर धीरे सयानी होकर एक सुंदर अल्हड़ युवती में परिणत हो जाती है, "वर्षा के दिनों में उमड़ती हुई गंगा जैसी खूबसूरत।" एक दिन एक लंबा-चौड़ा और सुदर्शन संन्यासी उस गांव में आता है और घाट के ही समीप एक शिवालय में अपना डेरा डाल देता है। गांव के सारे स्त्री-पुरुष उसके प्रवचन के लिए उसके पास आते हैं लेकिन इन लोगों में कुसुम सम्मिलित नहीं है। एक दिन सूर्यग्रहण के अवसर पर आस-पास के कई गांवों से कई लोग पवित्र गंगा में स्नान के लिए आते हैं—उनमें से उस गांव की भी ऐसी कई महिलाएं हैं जिन्होंने कुछ दिनों के लिए अपना वैवाहिक जीवन बिताया था। ऐसी ही प्रौढ़ महिलाओं में से एक के मुख से घाट के कानों में एक बात यह भी पड़ती है कि एक संन्यासी बहुत कुछ कुसुम के पति जैसा था, जो कि कुछ साल पहले गायब हो गया था और जिसके बारे में यह जान लिया गया था कि वह मर चुका है।

एक दिन, पूर्णिमा की संध्या में कुसुम आई और घाट पर आकर बैठ गई। वहां कोई दूसरा नहीं था। थोड़ी देर के बाद संन्यासी शिवालय से बाहर निकला। घाट की सीढ़ियों से नीचे उतरते हुए उसे जान पड़ा कि घाट की एक सीढ़ी पर कोई युवती बैठी है। संकोचवश वह वापस मुड़ने को हुआ ही था कि कुसुम ने अपना सिर उठाया और पूर्णिमा की भरपूर चांदनी में दोनों ने एक-दूसरे को देखा। तनिक आश्वस्त होते हुए युवती ने अपने चेहरे

पर अपना घूंघट खींचा और संन्यासी को अपना प्रणाम निवेदित किया। संन्यासी ने उससे उसका नाम पूछा। कुसुम ने अपना नाम बताया। इस घटना के बाद कुसुम प्रतिदिन संध्या समय वहां आती रही साथ ही, पूजा के फूल भी संग लाती रही और संन्यासी जो कुछ भी कहता उसे बड़े मनोयोग से सुनती रही।

कुसुम एक बार फिर गायब हो गई और बहुत दिनों तक न तो घाट की तरफ आई और न मंदिर। एक दिन संन्यासी ने उसे बुलवा भेजा। वह उसके पास आई और आंखें झुकाकर बैठ गई। जब संन्यासी ने उसके न आने के बारे में पूछा तो उसने उत्तर दिया कि वह जान-बूझकर ही उससे दूर रहना चाहती थी क्योंकि वह अपने 'दूषित विचारों' के लिए शर्मिंदा थी और उसे एक पवित्र साधक की बगल में बैठने का कोई अधिकार नहीं। जब संन्यासी ने उसे प्रश्नों में उलझाया तो उसने स्वीकार किया कि उसने अपने सपने में यह देखा है कि संन्यासी उससे प्यार कर रहा है। तभी से उस स्वप्न ने उसे इस तरह आविष्ट कर रखा है कि आंखें खोलते ही संन्यासी को अपने पति या प्रेमी के सिवाय और किसी दूसरे रूप में नहीं देख पाती। संन्यासी यह सब सुनकर स्तब्ध रह गया। जब उसे होश आया तो उसने कुसुम से उसे भूल जाने का अनुरोध किया और गांव से गायब हो गया। उसके बारे में किसी को कुछ पता नहीं चला।

कुसुम दबे पांव घाट की सीढ़ियों तक आई और थोड़ी देर तक नदी के जल की तरफ देखती रही। "उसने बचपन से ही इस नदी को प्यार किया था और आज, इस संकट की घड़ी में अगर वही उसे अपनी बांहों में नहीं छुपा लेगी तो फिर और कौन है जो उसे आश्रय देगा। मैंने तभी छपाक की आवाज सुनी और इसके बाद सब शांत हो गया।"

यह कहानी रवीन्द्रनाथ की आरंभिक और विशिष्ट कहानियों में से एक है। रवीन्द्रनाथ की कल्पना में निसर्ग हमेशा एक सक्रिय पात्र के रूप में उपस्थित रहा है और यहां भी निसर्ग ही नहीं बल्कि निर्जीव पदार्थ भी इस कहानी के अंग हैं और कहानी के ढांचे की अपेक्षा इसके वातावरण के निर्माण में सहायक हैं जिससे कि करुणा और विस्मय की मनोदशा का चित्रण हुआ है और यही कहानी का मूल तत्व है। ठीक इसी तरह की शैली में एक सड़क यह कहानी सुनाती चलती है कि उसने कैसी कैसी रहस्यपूर्ण उत्कंठाएं और हतोत्साहित प्रेम देखे हैं। प्रायः इन सभी कहानियों में लेखक की सुकोमल भावनाओं और सहानुभूतियों के केंद्र में स्त्रियां, विशेषकर किशोरियां और छोटे बालक होते हैं। उनके बच्चे और किशोर पात्र, चाहे वे बालक हों या बालिका– अनुपम सौकुमार्य से उकेरे गए हैं और उनमें अपने अविकसित और अनगढ़े मानस के बावजूद सचमुच बड़ी अनोखी समझ है। दूसरी तरफ उनके प्रौढ़ पुरुष पात्र सामान्यतया विडंबना के शिकार हैं– यहां तक कि अपनी त्रासदपूर्ण स्थिति में भी। लेकिन चाहे कुछ भी हो, अपनी इन आरंभिक कहानियों में उनका रुझान मुख्य रूप से किसी चरित्र की प्रतिकृति या चरित्र निर्माण की ओर नहीं है बल्कि वे किसी

मनोदशा के चित्रण, परिवेश के निर्माण या फिर अकस्मात किसी पात्र के मानस या कार्य-कलाप का असंदिग्ध रहस्योद्घाटन करना रहा है। किसी घटना या स्थिति में निहित मानवीय संभाव्यता की यह त्वरा और अंतर्दृष्टि संपन्न पकड़ उनकी गीतात्मक प्रतिभा के ही सदृश थी, जो कि बाहर घटित होने वाले किसी भी प्रभाव के प्रति तत्क्षण अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करती थी। जैसे ही ऐसा कोई प्रस्ताव अंकित होता था– इससे जुड़ी कल्पना जीवंत हो जाती थी और इससे जुड़ी कहानी बुनी जाने लगती थी।

और इसी तरह जब शहर का एक पढ़ा-लिखा युवक गांव के एक डाकपाल (पोस्ट मास्टर) के रूप में नया नया बहाल हुआ तो उसने उनका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। वह यह देख सकते थे कि वह युवक यहां के शांत और एकरस परिवेश से उकता गया है। लेकिन हैरानी की बात यह थी कि वह इसमें भी अपना समय कैसे व्यतीत करता है? इस अनियत संपर्क से ही उनकी 'डाकपाल' (पोस्टमास्टर) जैसी सुप्रसिद्ध कहानी का जन्म हुआ। इस कहानी का 'पोस्टमास्टर' शहर में पला-बढ़ा युवक है। जिसकी नियुक्ति बंगाल के एक ऐसे छोटे-से गांव में हो जाती है जो अक्सर मलेरिया की चपेट में आ जाया करता है। इस गांव में रतन नाम की एक अनाथ लड़की रहती है। जिसका अपना कोई सगा-संबंधी नहीं है। वह पोस्टमास्टर की नौकरानी के तौर पर काम करती है। पोस्टमास्टर के जिम्मे कोई खास काम नहीं है और अक्सर गर्मी के दिनों की लंबी और बेहद उचाट शामों को वह उस लड़की को बुलाकर गप्पें हांकता रहता है और हुक्के के कश लगाता रहता है। उसे वह कहानियां सुनाया करता है और बड़े शहर की ऐसी ऐसी 'गप्पों' से उसे बहलाता है, जिन्हें अब वह बुरी तरह याद किया करता है। खाली वक्त में वह रतन को थोड़ा बहुत पढ़ा-लिखा भी दिया करता है। उस अनाथ लड़की ने, जिसे कभी किसी का प्यार नहीं मिला था, इस तरुण शिक्षक से बड़ा गहरा स्नेह संबंध जोड़ लिया था और वह बड़ी आतुरता से शाम होने का इंतजार किया करती थी।

एक दिन इस मलेरिया से ग्रस्त पोस्टमास्टर को रोग शय्या की शरण में जाना पड़ा। वह छोटी-सी लड़की रात दिन उसकी सेवा-सुश्रूषा करती रही और तब कहीं जाकर वह स्वस्थ हुआ। लेकिन पोस्टमास्टर ने उसकी निष्ठापूर्ण सेवा की अनदेखी कर दी। जैसे ही वह स्वस्थ हुआ उसने अपनी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और वापस कलकत्ता जाने की तैयारी करने लगा। जब रतन ने उसे अपने साथ कलकत्ता ले चलने को कहा तो उसने रतन को कुछ पैसे देने चाहे जिसे रतन ने लेने से इनकार कर दिया। वह फफक पड़ी और रो-रोकर उसने उससे यह अनुरोध किया कि वह उसके बारे में चिंतित न हो और उसकी नजर से ओझल हो गई। पोस्टमास्टर ठंडी सांस भरकर रह गया। जब नाव पर सवार हो उसने दूर से अपने रहने वाले स्थान को देखा तो चिंतन में डूब गया—जीवन भी क्या है—मिलन और विछोह। लेकिन रतन, जो किसी तरह के दर्शन या अनुचिंतन से बेखबर थी—डाकघर

के चक्कर काटती रही, कोई उसे ढाढ़स बंधाने वाला न था और उसके नन्हें गालों से आंसू बहते रहे।

ऐसा लगता है कि इस कहानी का थोड़ा-बहुत सरोकार सच्ची घटनाओं से भी रहा होगा और यह सूचना लेखक द्वारा लगभग सोलह महीने बाद दी गई एक चिट्ठी से मिलती है, जिसमें उन्होंने अपनी यादों को दोहराते हुए लिखा है कि एक शाम जब वे कालिदास की कोई कृति उठाकर पढ़ने ही वाले थे ''तभी पोस्टमास्टर अंदर उतरा... एक जीता-जागता पोस्टमास्टर एक मृत कवि के ऊपर अपनी प्राथमिकता जताते हुए। मैंने उसे बैठने को आसन दिया और पुराने कालिदास को विदा किया। दरअसल इस पोस्टमास्टर और मेरे बीच एक तरह का अनुबंध था क्योंकि यह डाकघर हमारी जागीर की एक इमारत का ही एक हिस्सा था और मैं यहीं उससे लगभग हर रोज मिला करता था। मैंने 'पोस्टमास्टर' कहानी इसी कमरे में लिखी थी। जब यह कहानी 'हितवादी' में छपी तो वह मुझसे मिला और इस बारे में बातचीत चली तो वह शर्मिंदा हो उठा और उसके होठों पर झेंपवाली मुस्कान छा गई।'' बात यह थी कि वह एक शहरी पोस्टमास्टर था और गांव में असहाय पड़ा था। लेखक की कल्पना के लिए इतना ही बहुत था जिससे कि मानवीय संबंधों की समस्या और उस एक साधारण और भोली-भाली लड़की की संभावित त्रासदी के बारे में लिखा जा सके जो शायद यही समझती रही कि कभी उसे उसके स्नेह का प्रतिदान प्राप्त होगा।

ठीक इसी तरह, रवीन्द्रनाथ ने कलकत्ता की सड़कों पर बहुधा ऊंचे कद्दावर और भारी-भरकम अजनबियों को भी देखा होगा जो काबुल से आते रहते थे और घूम घूमकर सूखे मेवे और बादाम वगैरह बेचा करते थे। ऐसे लोगों को काबुलीवाला के नाम से जाना जाता था। इनसे बंगाली लोग बड़े सहमे रहते थे और इन्हें गंवार और असभ्य समझते थे। ये लोग ऊंची दर पर लोगों को सूद की रकम उधार दिया करते थे और किसी बात पर गुस्सा आया नहीं कि देनदारों को मार डालने को उतारू हो जाया करते थे। ऐसे अक्खड़ किस्म के लोग, संभव है, अपने कंधे पर झूलनेवाले लंबे-चौड़े झोले में बच्चे भी चुराकर ले जाते हों। लेकिन इतना तो निश्चित ही था और जैसा कि रवीन्द्रनाथ सोचते रहे थे कि आखिरकार वे भी मुनष्य ही हैं और वे भी अपनी संतानों को उतना ही प्यार करते होंगे, जितना कि दुनिया के दूसरे माता-पिता। इसी तरह एक कठोर काबुलीवाला इसी नाम से रवीन्द्रनाथ की एक कहानी के एक पात्र में ढल गया और बंग्ला कथा-साहित्य का सर्वाधिक प्रिय पात्र बन गया। यह कहानी इस अनपढ़, असभ्य और पहाड़ से आदमी से जो कि अफगानिस्तान की ऊंची-नीची पहाड़ियों से आया था, एक पांच साल की बच्ची के बीच की दोस्ती तथा उसकी अविराम बकबक और उसका अदम्य उत्साह तथा मानवीय संबंधों का एक ऐसा हृदयस्पर्शी साक्षी-पात्र है—जो जाति, धर्म और सामाजिक पूर्वाग्रह की तमाम बाधाओं से परे है।

ये कहानियां विविध प्रकार की हैं और नानाविध शैलियों में लिखी गई हैं– और प्रमुखतया सांकेतिक और प्रभाववादी हैं–ये बंगाल जीवन के बहुविध रूपों तथा विभिन्न श्रेणी और स्तरों के लोगों के बहुविध पात्रों को चित्रित करती हैं। अपने सूक्ष्म निरीक्षण और कल्पनाप्रवण जीवंतता, करुणा और विडंबना तथा प्रकृति और जीवन के उत्कृष्ट सम्मिश्रण के नाते और इसके साथ ही ये मूल तत्वों की पहचान और इन्हें पकड़ पाने की असाधारण लेखकीय क्षमता, बृहत्तर मानवीय पक्षधरता, सामाजिक विकृति और अन्याय के प्रति आक्रोश तथा रूप-न्यास की अतुलनीय अंतर्दृष्टि के चलते ये कहानियां इतनी महत्वपूर्ण बन सकी हैं। उनके ऐसे कई पात्र जो उनके नाटकों और उपन्यासों में केवल टाइप होकर रह गए हैं या फिर उनके ही प्रतिरूप हैं– के मुकाबले उनकी कहानियों के पात्र कहीं अधिक विश्वसनीय और सजीव हैं और इनमें से कुछ तो अविस्मरणीय हैं। इनमें से कुछ उनके मानस में उनके संगी बनकर रहते होंगे और उनके इर्द-गिर्द बुनी जाने वाली कहानी के पहले ही उनके नाम रख लिए जाते होंगे।

रवीन्द्रनाथ ने अपने एक पत्र में लिखा भी है, "अगर मैं कुछ और न भी लिखूं और सिर्फ कहानी ही लिख पाऊं तो इससे मुझे ही नहीं मेरे कुछ पाठकों को भी प्रसन्नता होगी। इस प्रसन्नता का प्रमुख कारण यह है कि मेरे पात्र मेरे साथी बन जाते हैं। मेरे साथ वे तब होते हैं जब मैं बारिश के दिनों में स्वयं को कमरे में बंद कर लेता हूं और अक्सर वे तेज धूप में पद्मा नदी के झिलमिलाते किनारों पर मेरे साथ चल रहे होते हैं। आज सुबह से ही एक नकचढ़ी और छोटी-सी लड़की मेरे कल्पना लोक में कुंडली मारे बैठी है।" बंग्ला साहित्य में गिरीबाला नाम की यह लड़की भारतीय नारीत्व के सर्वाधिक प्रिय उदाहरणों में से एक है। इन कहानियों में करुणा और व्यंग्य के मनोभाव व्याप्त हैं, करुणा व्यक्त है। व्यर्थ यौवन तथा आहत आदर्श के लिए वेदना है उन कलियों के लिए, जो बिना खिले ही मुरझा गईं और वह विडंबना मुखर है जो मनुष्य की अहंमन्यता तथा सामाजिक एवं धार्मिक विधानों की अमानवीयता के प्रति जो जीवित की अवमानना व्यक्त करती है और मृत की प्रतिष्ठा करती है।

ऐसे ही एक पात्रों में एक गूंगी लड़की है सुभा, जिसे अपने संगी साथियों के मुकाबले जानवरों से कहीं ज्यादा प्यार और हमदर्दी मिलती है। सेवानिष्ठ पत्नी कुमो है, जो अपने अहंकारी पति को बहलाने में अपनी आंखों की दृष्टि गंवा बैठती है। अभागी निरूपमा है, जिसका जीवन इसलिए कुचल दिया जाता है कि वह गरीब है और उसका बूढ़ा बाप बेटी की शादी के लिए दहेज नहीं जुटा पाता। कादंबिनी है, जो किसी दुर्योग से अपनी ही चिता से उठ खड़ी हुई है और भूत की तरह निरावलंब भटकती रहती है, वह जीवित है इस बात को कोई स्वीकार नहीं करना चाहता और अंततः उसे मरना पड़ता है, और मरकर ही उसे साबित करना पड़ता है कि वह जिंदा थी। बेचारी महामाया है, जो अपने प्रेमी के सामने

अपना घूंघट तक हटा नहीं पाती। इन कहानियों में दूसरी कई अभिशप्त नायिकाओं की दीर्घा है, जो निष्ठुर जगन्नाथ के रथ के पहिए महाकाल के कालचक्र के नीचे कुचली गई हैं। लेकिन सारी नारियां ऐसी ही नहीं हैं और वे निश्चय ही नायिकोचित हैं या कारुणिक हैं। इनमें से कुछेक, व्यंग्यमुखर हैं और उस व्यवस्था के विरुद्ध कमर कसकर खड़ी हैं जिसने कि उनका जीवन दूभर और उनके मस्तिष्क को विकृत कर दिया है। कुछ ऐसी भी हैं—जो सिरचढ़ी और झगड़ालू हैं और अपने पतियों को हताशा में झोंक देती हैं और कुछ ऐसी भी हैं जो पति के प्यार की अपेक्षा अपने आभूषणों को ज्यादा महत्व देती हैं। इनमें से सभी हिंदू नहीं हैं। उनकी स्वच्छंद नायिकाओं में से एक नायिका ऐसी भी है जो कभी एक मुसलमान राजकुमारी थी और हिंदू सेनापति को जी-जान से चाहती सराहती रही और जिसने उसका प्यार पाने के लिए सब कुछ कुर्बान कर दिया। इस कहानी का शीर्षक है 'दुराशा' यानी निष्फल आशा, जिसमें व्यंग्य को उत्कृष्ट ढंग से चित्रित किया गया है। इससे भी अधिक उत्तेजक कहानी वह है जिसमें एक मुगल शहजादी अमीना अपने अब्बा के कत्ल का बदला लेना चाहती है और इस कोशिश में लगी हुई है कि वह अराकान के उस शहजादे का सीना अपने खंजर से चाक चाक कर दे-- जो आवारा डालिया के वेश में उसका ही प्रेमी बना बैठा है जिस पर वह जान छिड़कती रही है।

इनमें से कुछ कहानियां ऐसी भी हैं, जिनमें मनुष्य की स्वर्ण-लिप्सा का वर्णन है तो किसी में अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए पति या पुत्र को लगातार ताने मारते रहने का जिक्र है, किसी कहानी में उस जर्जर आभिजात्य का चित्रण है, जो अपने बीते हुए वैभव की मिथ्या छाया से चिपका हुआ है और कुछ ऐसी भी हैं जिनमें किसी ऐसे प्रतिभासंपन्न भगोड़े की कहानी है जिसे न तो धन-दौलत और सुऐश्वर्य लुभा सकते हैं और ना ही कोई प्यार उसे घर की चारदीवारी में बांधे रख सकता है। या फिर ऐसी शरारती और मर्द सरीखी लड़की की कहानी भी है-- जो आश्चर्यजनक तौर पर समझदार और आकर्षक युवती में परिणत हो जाती है। इनमें से कुछ फैंटेसीनुमा कहानियां भी हैं जिनमें प्राकृतिक तत्वों को इस तरह गूंथा गया है कि किसी को भी इस बात पर हैरानी हो सकती है कि ये मात्र कहानियां ही हैं या अवचेतन मानस के ही विलक्षण पर्यवेक्षण। इन्हीं कहानियों में से एक कहानी उस नर कंकाल की है जो बालक रवि की कक्षा में प्रारंभिक विज्ञान के पाठ-ज्ञान के लिए टांगा गया था। कुछ कहानियां लोगों की राजनैतिक असहायता और इसके साथ ही विदेशी शासक की निर्मम सनक को उघाड़ती हैं और जैसा कि उल्लेख किया गया, ऐसी कहानियों में उस अनुपम गिरिबाला की कहानी भी शामिल है। ऐसी ही एक और चमकप्रद कहानी या व्यंग्यात्मक फैंटेसी है—'ताशेर देश' (ताश का राज्य) जिसे बहुत बाद में इसी शीर्षक से नाटक में रूपांतरित किया गया। इसे उन्होंने भारतीय लोक-संस्कृति के परंपरागत साहसिक कार्यों के अनुभवों से संबद्ध किया जो राजकुमार और उसके जिंदादिल साथी की यात्रा से

जुड़ी है। इस कहानी में उनका जहाज़ समुद्र में उलट जाता है और वे दोनों अपने आपको एक अनोखे टापू में पाते हैं, जहां के सभी निवासी खानों में बंटे हुए हैं। ताश की गड्डी की तरह उन सब पर अलग अलग चिह्न अंकित हैं। एक पंजा है तो दूसरा छक्का, कोई इक्का है तो कोई रानी, कोई लाल पान है तो कोई ईंट और कोई चिड़िया और इसी तरह सब-के-सब अलग अलग नाम-पहचान वाले हैं। वे उठते हैं, बैठते हैं और कठोर नियमों के अनुरूप ही एक-दूसरे से प्यार करते हैं– इन्हें कोई भी सही तौर पर समझना नहीं चाहता लेकिन सब-के-सब इन नियमों का अनुपालन करते हैं। हम ऐसे पांच या छह के अंकवाले पत्तों पर बिना सोचे-समझे हंसते हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि हम अपनी ही विसंगतियों पर हंस रहे होते हैं।

दूसरी ओर आश्चर्य इस बात पर भी होता है कि इस अवधि के दौरान जब वे बड़ी दिलचस्पी से इस देश के आम लोगों के सुख-दुख का बड़ा ही सूक्ष्म और यथार्थ चित्रण कर रहे थे, उनके काव्य में रहस्यात्मक संवेदना के अंकुर फूट रहे थे जो परवर्ती काल में क्रमशः बढ़ते चले गए और उनकी लेखनी में परिव्याप्त हो गए। यह रहस्यवाद कोई मतवाद या दर्शन नहीं था, जिसे उन्होंने जान-बूझकर अपनाया था, और यह यथार्थ की भयंकरता से पलायन भी नहीं था, जिसकी बुनियाद उन्होंने खुद रखी थी। रवीन्द्रनाथ प्रचलित अर्थ में कोई दार्शनिक नहीं थे, बल्कि उन्हें किसी संकीर्ण और सूत्रबद्ध विचार-प्रणाली से अधिक कष्टकर और कोई कठोर बंधन प्रतीत नहीं हुआ– जिसके पास हर किसी बात के तर्क या प्रश्न के लिए उत्तर हैं। साथ ही, निर्धारित मतवादों या निश्चित धर्म-सिद्धांतों के प्रति उनकी कोई आस्था नहीं थी। उन्होंने इस धरती और इस जीवन को उससे भी कहीं अधिक चाहा था और ठीक इतना ही उनके द्वारा उन्हें भी वापस लौटा दिया गया था। जीवन के रहस्य उन्हें सदैव सम्मोहित करते रहे, उन्हें जो भी पीड़ाएं झेलनी पड़ीं, बर्बरता और स्वार्थपरता के वे चाहे जितने शिकार हुए, इनके प्रतिकार में वे कभी भी उत्तेजित नहीं हुए बल्कि उन्होंने इसके बदले, अपने ही ढंग से और भी अधिक प्रेम दर्शाया। उन्होंने 1884 में ही लिखा था, "अपने पाप और पुण्य में भी हमारी धारणाएं कितनी बनावटी और झूठी हैं। वस्तुतया समस्त प्राणियों के प्रति संवेदना ही सबसे बड़ा धर्म है। इससे बढ़कर कोई धर्म नहीं। और सभी धर्मों का आधार है–प्रेम।"

अतः प्रज्ञात्मक बोध के नाते बचपन से ही रहस्यवाद की जड़ें उनकी चेतना में होती हैं, जिसके अनुसार सभी प्राणियों और उन जीवों के साथ भी जो निष्क्रिय प्रतीत होते हैं कौटुंबिकता का भाव होता है। इस भाव का 'अंकुरण' उनके जीवन के आरंभिक वर्षों में हो जाने का सीधा-सादा तात्पर्य है कि यह अस्पष्ट चेतना क्रमशः प्रबुद्धतर और स्पष्टतर होती जाती है, जो कि उनकी प्रतिभा और नियति से संबंधित उनके व्यक्तित्व के अंदर और व्यक्तित्व से परे अपनी तलाश में पथ प्रदर्शक चिंतन प्रदान करती है। अपने मार्च

1884 के एक पत्र में लिखते हैं' "मैं अंतर के इस विस्मयकारी रहस्य बोध से हर्षविह्वल हूं... मैं न तो इसे समझ सकता हूं और ना ही इस पर नियंत्रण रख पाता हूं। मैं तो जैसे पिआनो की पटरी हूं--जिसके नीचे तारों का जटिल जंजाल छिपा हुआ है। लेकिन वह क्या चीज है जो इस पर बज उठती है और अचानक पता नहीं वह कौन है जो इसे छेड़ छेड़ जाता है और भला क्यों? मैं नहीं जानता। मैं केवल इतना ही जानता हूं कि इस क्षण वह कौन-सा सुर है जो बज रहा है-- क्या इसकी कुंजियां हर्षभरी या विषाद में डूबी रागिनी छेड़ रही हैं-- इसके स्वर तीव्र हैं या मंद, आरोह में बज रहे हैं या अवरोह में-- इसका संगीत लयबद्ध है या लयच्युत-- लेकिन तनिक रुको... -- क्या इस बारे में मुझे सचमुच ही कुछ ज्ञान है?"

सौभाग्य से, रवीन्द्रनाथ कोई दार्शनिक नहीं थे और मात्र इतने से ही आश्वस्त थे कि उन्होंने क्यों और कैसे के चक्कर में पड़े बिना संगीत स्वर लहरियों का सुख लूटा। दरअसल वे इस बात से कहीं असंतुष्ट होते कि कोई संगीत उनके कानों में क्यों नहीं पड़ा? कविता-लेखन उनका पहला प्यार था और दूसरे विधा-चिंतन के साथ चाहे जो उनके मिलन-क्षण रहे हों वे इसकी ओर बड़े इतमीनान के साथ लौट आया करते थे। "एक कविता लिख लेने का आनंद," जैसा कि उन्होंने मई 1892 में बताया था, "गद्य के भारी-भरकम पुलिंदे लिखने की अपेक्षा कहीं ज्यादा...अगर मैं एक दिन में एक कविता भी लिख पाता..." और उन्होंने लगभग वैसा ही किया। सन 1894 से 1900—इन सात वर्षों की अवधि में उन्होंने नाटकों, कहानियों तथा अन्यान्य गद्य-रचनाओं के अलावा काव्य के कई विशिष्ट संकलन प्रकाशित किए।

उनकी ऐसी ही काव्य कृतियों में से पहली है "सोनार तरी"(सोने की नाव) जो इस संकलन की पहली कविता का शीर्षक है। बारिश के मौसम में एक दिन जबकि आसमान में बादल गरज रहे हैं, कवि अपने खेत की आड़ में, एकाकी बैठा नदी की ओर निहार रहा है। तभी उसे एक सोने की नाव आती दिखती है, और उसे पतवार खेनेवाले की धुंधली-सी आकृति नजर आती है। उसके खेत की फसल कट चुकी है और वह इकट्ठा किए पूलों से अपनी नाव भर रहा है। नाव अपनी दिशा में बढ़ चली है। यह कोई नहीं जानता कि वह कहां चली जाएगी, और कवि को उसी किनारे पर छोड़ दिया जाता है-- उदास और एकाकी। एक समय ऐसा भी था जब कि साहित्यिक क्षेत्र में इस बात को लेकर जबरदस्त तूफान उठ खड़ा हुआ था कि इस कविता का आशय आखिर क्या है? यह सोने की नाव क्या बला है? और वह कौन है जो इसे खे रहा है? कवि ने स्वयं बताया कि उसके लिए यह नाव और कुछ नहीं, जीवन का प्रतीक है। यह हमारी उपलब्धियों की स्वर्णिम फसल बटोर लेती है और हमें पीछे छोड़कर फिर काल के प्रवाहों पर बहती चली जाती है। यही 'स्वर्णतरी' एक बार फिर संकलन की अंतिम कविता के रूप में अवतीर्ण होती है, लेकिन

इस बार कवि को उसमें बिठा लिया जाता है। उसकी खोई हुई संगिनी, उसकी आराध्या, उसकी स्वप्न प्रेयसी, उसकी पथ-प्रदर्शक देवदूतिका; अर्द्ध-परिचित और अर्द्ध-अपरिचित– इस नाव की पतवार खे रही है। कवि बार बार उससे पूछता है कि वह उसे कहां ले जा रही है लेकिन वह कोई उत्तर नहीं देती– हालांकि उसके होठों पर खेलती हल्की और मृदु मुस्कान सुदूर पश्चिमी क्षितिज की ओर संकेत भर कर देती है जहां सूरज डूबने को है–

> "मैंने नाव पर अपने पांव रखते हुए पूछा था–
> 'क्या वहां हमें नया जीवन मिलेगा?'
> 'क्या हमारी आशाओं को अंततः स्वर्णिम फसल मिल पाएगी?'
> तुमने मेरी तरफ आंख उठाकर देखा और मुस्कुराईं
> और एक भी शब्द नहीं कहा।"

इस संकलन में कई लंबी और खूबसूरत कविताएं हैं, जिनमें से एक 'पृथ्वी' पर है। वह पृथ्वी जो समस्त जीवन की जननी है : एक सागर पर है, इस संसार का प्रथम या आद्य पूर्वपुरुष, जिसकी गोद से इस धरा का जन्म हुआ, एक मानस-सुंदरी है– जो समस्त सौंदर्य का सौंदर्य है– जो उसके बचपन की संगिनी, उसके युवावस्था का स्वप्न और अब उसकी सत्ता है। इसी संकलन की एक और प्यारी-सी और मार्मिक कविता है जिसका शीर्षक है, 'मैं तुम्हें जाने न दूंगी'। इसमें कवि किसी यात्रा पर जाने को ही है, सारा परिवार भाग-दौड़ में लगा है, नौकर-चाकर सामान सहेजने में लगे हैं, घरवाली उन तमाम चीजों को जुटाने में लगी है कि पता नहीं कब किसकी जरूरत पड़ जाए। लेकिन कवि की छोटी-सी बिटिया देहरी पर खामोशी बैठी है और वह जैसे ही जाने को होता है तो वह बोल उठती है, "नहीं, मैं तुम्हें जाने नहीं दूंगी।" अबोध शिशु के हृदय से फूट पड़ने वाले ये सीधे-सादे शब्द कवि के जीवन की शाश्वत वेदना या पीड़ा को ही अभिव्यक्त करते हैं। जीवन और प्रकृति के इस अनवरत प्रवाह में सब कुछ बहता चला जा रहा है और इनके बीच वही एक चिरंतन पुकार गूंज उठती है, 'नहीं, मैं तुम्हें जाने न दूंगी।'

इन कविताओं में भावावेश की आभा है, और यह भावावेश ही है जो चिंतन में परिव्याप्त होता हुआ– विमर्श द्वारा दमित हो जाता है। यहीं से विमर्श की छाया धीरे धीरे उनकी कविताओं पर फैलती चली गई है और जैसे जैसे यह भावावेश या मनोवेग शक्तिशाली होता चला गया है– वैसे वैसे निहित विचार अधिक प्रखर या प्रभावी होते चले गए हैं।

'सोनार तरी' के बाद, कविताओं का एक दूसरा संकलन 1896 में प्रकाशित हुआ–'चित्रा' शीर्षक से। यहां इसी नाम से अंग्रेजी में प्रकाशित उनके नाटक 'चित्रांगदा' से कोई भ्रम नहीं होना चाहिए। उनके बहुत-से पाठक ऐसा मानते रहे हैं कि यह संकलन रवीन्द्रनाथ की काव्यात्मक प्रतिभा का सर्वोत्तम निदर्शन है। इस बात में कोई संदेह नहीं

कि इस संकलन की कुछ कविताएं, इस अवधि में प्रणीत उनकी रचनात्मक उपलब्धि की अप्रतिम विस्तार हैं, लेकिन रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा एक ऐसी पर्वत-शृंखला की तरह थी–जिसका शिखर रहस्य विभिन्न ऋतुओं में विभिन्न चोटियों पर उद्‌घाटित होता रहा। इस संकलन के शीर्षक की कुंजी इसकी पहली कविता है जिससे कि इस संकलन की अन्यान्य कविताओं में निहित सामान्य चेतना और दिशा का संकेत मिल जाता है। इस कविता में कवि ने प्रकृति की उस शाश्वत चेतना को एक रहस्यमयी नगरी के रूप में चित्रित किया है जिसका सौंदर्य लाखों-करोड़ों रूपों में अभिव्यक्त होता है। लेकिन बाह्य दुनिया में जहां उसका सौंदर्य कई कई दृश्यों, रंगों, स्वरों में प्रवाहित होता है–वहां मानस के अंदर वह एकांत, शांत, निभृत-अंतर्हित एवं परिव्याप्त है।

इस सार्वभौम चेतना या यथार्थ के प्रति रवीन्द्रनाथ का क्रमशः उन्नत भावबोध पूर्णतः निजी था और वे इसे अपने प्रत्यक्ष ज्ञान की परिधि में और इसकी आवश्यकता के अनुरूप रखते थे। और इन सारी बातों से परे, वस्तुतया वह एक ऐसे प्रेमी थे–जो छोटी-से-छोटी चीजों में भी सौंदर्य देखा करते थे, जो बहिरंग जगत में इसके संस्पर्श को अनुभूत करते रहते थे और अपने अंतर्मन में उपलब्ध करते थे। साथ ही, यह महसूस करते थे कि अवचेतन हो या महाचेतन, किसी-न-किसी स्तर पर दोनों निरंतर और परस्पर संबद्ध हैं। एक दूसरे में अंतर्हित और परिव्याप्त चेतना जो इस अखिल ब्रह्मांड पर आधिपत्य जमाए बैठी है–जैसे उनके अंदर विद्यमान है और वह उनके जीवन एवं प्रतिभा का संचालन कर रही है। रवीन्द्रनाथ ने उसकी इस तात्कालिकता और अंतरंगता को महसूस किया था और इसे जीवन का स्वामी; जीवन-देवता या अंतर्यामी कहकर संबोधित किया था। इसी शीर्षक से लिखी गई अपनी प्रसिद्ध कविता में वह कहते हैं, "ओ मेरे अंतर्यामी, क्या मेरे हृदय में आकर तुम्हारे हृदय की प्यास बुझी? तुमने मेरे अंतर को ठीक उसी तरह कुचला है जिस तरह दलित द्राक्षा को निचोड़ा जाता है–और अपने हर्ष विषाद की सहस्त्र-धारा से अपना रिक्त प्याला भरा है। मैंने अपनी आकांक्षाओं के स्वर्ण को गलाकर इसे नवीन प्रतिमाओं में ढाला है–ताकि तुम इनसे अपनी अनित्य लीला रचा सको।" इसी तरह कवि अपनी कई सीमाओं को स्वीकार करता चला जाता है और परमात्मा से उनको क्षमा कर देने की विनती करता है, "हे कवि शिरोमणि, मैं तुम्हारे संगीत-स्वर पर अपने गान कैसे गा सकूंगा?"

इसी कृति में उनकी ढेर सारी सुंदर कविताओं में से एक कविता है–'उर्वशी के प्रति।' उर्वशी हिंदू मिथक शास्त्र की एक पौराणिक नारी पात्र है जो ऋषियों को तपच्युत करती है और सभी मनुष्यों का हृदय चुरा लेती है। रवीन्द्रनाथ उसका चित्र कुछ इस प्रकार उकेरते हैं–देवताओं द्वारा समुद्र मंथन के उपरांत आदि सागर की फेनिल लहरों से वह दिक्‌भूषणा अनन्य सुंदरी अवतीर्ण हो रही है–अपने दाहिने हाथ में अमृत कलश और बाएं हाथ में हलाहल लिए। उर्वशी एक ऐसी शाश्वत नारी है जिसकी मनुष्य ने सदैव कामना की है–लेकिन

जिसे वह कभी नहीं पा सका। क्योंकि "न तो वह माता है न पुत्री और न ही वधू।"

एक दूसरी कविता, जो बड़ी ही सुष्ठु और सूक्ष्म है, उसका शीर्षक है 'स्वर्ग से विदा' (स्वर्ग हइते विदाई) यह कविता किसी आत्मा के एकालाप की तरह लिखी गई है। इस आत्मा को धरती पर अपने श्रेष्ठ कार्यों के पुरस्कार स्वरूप स्वर्ग में लंबे प्रवास पर जाना पड़ता है। अवधि पूरी हो जाने के बाद उसके पुण्य क्षय हो जाते हैं और आत्मा वापस धरती पर आने को तत्पर होती है और तब वह स्वर्ग के अक्षय आनंद और अव्याहत शांति के साथ धरती के हर्ष और विषाद से बुने जाल से तुलना करता है। यह कविता इस क्षुद्र पृथ्वी और इसके सरल मानवीय संबंधों या सरोकारों की विजय-गाथा है।

अपने ही संगीत और विवेक में आह्लादित किंतु अपने ही देशवासियों की दुर्दशा से क्षुब्ध कवि हृदय 'मुझे वापस कर दो' (एबार फिराओ मोरे) नामक कविता में बड़े ही भावपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त हुआ है। अगर महात्मा गांधी एक कवि होते तो उन्होंने शायद ऐसी ही कविता लिखी होती। इसमें कवि स्वयं को इसलिए फटकारता है कि वह इतने चैन से बांसुरी कैसे बजाता रहा--गर्मी की अलसाई दुपहरी में--जबकि हर कोई किसी न किसी उपयोगी कामकाज से या दायित्व से जुड़ा हुआ था। उठो और देखो कि कहां कहां आग लगी है और अपने देशवासियों की उस कराह को सुनो। जो सहायता के लिए चीख-पुकार मचा रहे हैं--वे जो उस अहंमन्यतापूर्ण शक्ति के शिकार हैं जो अपनी सहस्त्र जिह्वा से इन विपन्न लोगों का रक्त चूस रहे हैं। वे अपने उन लोगों का चित्रण करते हैं जो अपनी ही जमीन पर भूखे हैं, नंगे हैं, बेघर हैं--वे मात्र मानव अधिकारों से ही वंचित नहीं हैं बल्कि विरोध करने की मंशा से भी वंचित हैं। इसलिए ओ कवि, जागो और इन मूक और पथराए चेहरों को स्वर प्रदान कर मुखरित करो और इनके थके-हारे, रिक्त और भग्न हृदय में आशा का संचार करो। उनसे कहो कि वे अपना सिर ऊंचा करें, एकजुट रहें, उन्हें आश्वस्त करो क्योंकि "जिनसे तुम भयभीत हो वे तुमसे भी कहीं ज्यादा सहमे हुए हैं--अपने ही पापों से आतंकित।"

लेकिन रवीन्द्रनाथ कोई महात्मा गांधी तो थे नहीं। उनकी वीरोचित प्रेरणा समय समय पर उच्छ्वासों में फूट पड़ती थी और हालांकि उन्होंने महात्मा गांधी को न केवल अपने आदर्शों में बल्कि अपने कार्यक्रमों में पूर्वाभास के तौर पर देख लिया था लेकिन वे किसी एक दिशा में नहीं सोच सकते थे। वे किसी एक आदर्श या उद्देश्य के प्रति ही समर्पित नहीं थे। उनके अंतःपुर में कई कला देवियां थीं जो उन्हें लुभाया करती थीं। क्योंकि अपनी एक दूसरी कविता में, जो चंद-एक दिनों के बाद ही लिखी गई थी--वे बीते दिनों की स्मृतियों से बुरी तरह विह्वल हो जाते हैं--चंपा और चमेली के फूलों की मीठी यादों में खो जाते हैं जो उनकी भाभी के घर की ड्योढ़ी पर खिले रहते थे। "वे क्षण कितने मधुर थे, जब उसने अपने हाथों से मुझे वे फूल दिए थे।" एक दूसरी कविता में उन्हें इस बात का पछतावा

है कि वे कुछ भी हासिल नहीं कर पाए। "मेरे हाथ में वीणा थी, मेरे मस्तिष्क में संगीत था–किसे पता कि इस संगीत को बीच में ही छोड़कर वीणा के तार टूट जाएंगे।"

इन दो प्रमुख संकलनों 'सोनार तरी' और 'चित्रा' के बीच, उनकी लंबी कविता 'नदी' और एकांक काव्य-नाटिका 'विदाय अभिशाप' प्रकाशित हुए। उनके पूर्ववर्ती नाटक मुक्त छंद में थे, जिसे अब छोड़कर उन्होंने धाराप्रवाही और अपूर्ण अन्विति वाले छंदोबद्ध पदों में लिखना शुरू कर दिया--जो उन्हें अपनी रुचि के अधिक अनुकूल जान पड़ा। उन्होंने बंग्ला में इस छंदरूप को स्वाभाविकता प्रदान की और इससे चमत्कारी परिणाम प्राप्त किए जैसा कि 'चित्रांगदा' के मामले में देखा जा सकता है। रवीन्द्रनाथ ने एक सीधा-सादा उपाख्यान चुना, जो कि महाभारत की एक पौराणिक गाथा से संबद्ध था। लेकिन उन्होंने इसे एक श्रेष्ठ मनोवैज्ञानिक द्वंद्व के प्रतीक-समर्पण से ज्ञान (या कर्तव्य) बनाम प्रेम के अधिकार (या अध्यर्थ) के रूप में विन्यस्त कर दिया। इस आख्यान में देवों और दानवों के बीच चलने वाले प्राचीन वैमनस्य को भी संबद्ध कर दिया गया। दैत्यों के आचार्य शुक्र अमरता का रहस्य जानते थे और मृत को जीवित करने की क्षमता रखते थे। देव इस रहस्य को जानने के जिज्ञासु थे। उन्होंने अपने आचार्य बृहस्पति के छोटे पुत्र कच को शुक्र का शिष्य बनाकर भेजा। इस युवा और सुदर्शन ब्राह्मण युवक को देखते ही शुक्र की पुत्री देवयानी उससे प्रेम कर बैठी और उसने अपने स्नेहशील पिता से आग्रह किया कि वह कच को अपना शिष्य बना लें। अपने अध्ययन के पूरा हो जाने तथा मृत को जीवित करने की कला में निष्णात हो जाने के बाद कच देवयानी के पास विदा मांगने आया। इस लघु नाटिका का आरंभ इसी प्रस्थान से होता है–और जो पूरी तरह से उन दोनों के संवाद पर ही आधारित है।

देवयानी कच से कहती है, "अंततः तुमने वह विद्या प्राप्त कर ली, जिसकी तुमने बड़ी कठिन प्रत्याशा की थी। जिस ज्ञान को देवतागण भी लोलुप दृष्टि से देखते थे, अब वह तुम्हारे पास है। लेकिन सच सच बताना, क्या विदा की अनुमति मांगने के सिवा और कुछ कहने-सुनने को नहीं है। क्या तुम्हारी सारी इच्छाएं पूरी हो गई हैं–क्या ऐसा कोई अदृश्य कांटा नहीं है–जो तुम्हारे हृदय को बींध रहा है।"

"नहीं तो," कच उसे आश्वस्त करता है।

"फिर तो इस सृष्टि में तुम एक प्रसन्न प्राणी हो," देवयानी उस पर व्यंग्य करती है, "जाओ, अपने उसी स्वर्ग लोक में और अपनी विजय-दुंदुभि बजाओ। वहां सब-के-सब संगीत के स्वरों से, शंखनाद कर फूलों से तुम्हारा स्वागत करने को उतावले हो रहे हैं। अरे ब्राह्मण, क्या तुमने सचमुच इस पराई धरती पर नीरसता से भरे अपने कठिन और कष्टकर दिन बिताए हैं–क्योंकि किसी ने तुम्हारे आराम या आनंद के बारे में नहीं सोचा।"

कच ने देवयानी की पीड़ा का अनुभव किया और निवेदन किया, "तुम इस तरह किसी

पछतावे के साथ नहीं बल्कि प्रसन्नताभरी मुस्कान के साथ मुझे विदा करो।"

"मुस्कान! यह कोई स्वर्ग लोक नहीं है सखे! और इस सृष्टि में मुस्कान इतनी सस्ती नहीं कि जहां हृदय में निवास करनेवाला एक पुष्प-कीट हृदय को ही काट खाए, जहां प्रणय-निवेदन किसी निष्फल मनोरथ भ्रमर की तरह हृदय कमल के बंद पटलों के चतुर्दिक चक्कर काटता रहे। यहां स्मृति चिंता में डूबी रहती है और रूठ गई प्रसन्नता के निभृत नीरव एकांत में पड़ी पड़ी मुरझा जाती है। ठीक है, अब तुम यहां से जाओ। अपना अनमोल समय व्यर्थ न गंवाओ।"

कच उसे समझाने-बुझाने की बहुत कोशिश करता है। उसे आश्वस्त करता है कि इस आश्रम में बीते हुए दिनों की सुखद स्मृतियां उसे बराबर याद आती रहेंगी। दोनों अपनी अपनी स्मृतियों का परस्पर विनिमय करते हैं और देवयानी कच को इस बात से अच्छी तरह अवगत करा देती है कि केवल उसी के हस्तक्षेप से उसके पिता अपने प्रतिपक्षी के पुत्र को शिक्षा देने के लिए तैयार हुए थे, वर्ना वे ऐसा कदापि नहीं करते। कच उसके इस ऋण को स्वीकार करता है लेकिन देवयानी मात्र आभार से ही आश्वस्त नहीं। वह अपनी नारी-सुलभ भाव-भंगिमाओं से इस सच्चाई को उगलवा लेती है कि कच भी उससे प्रेम करता रहा है और अपने अध्ययन-क्रम में अपनी पढ़ाई की अनदेखी कर वह कैसे उसे बहलाने और पाने की कोशिश करता रहा था।

"आखिर वह कौन-सी चीज थी, जिसने तुम्हें अपने अध्ययन से विरत कर मेरी फूल की क्यारियों में पानी पटाने और मेरे पालतू हिरन को सहलाने की प्रेरणा दी। जब नदी के निस्तब्ध किनारे पर झुटपुटा झुक आया होता, ठीक वैसे ही जैसे कि उदासीन आंखों पर बोझिल पलकें झुक जाती हैं, तुम दूब पर मेरी बगल में बैठकर स्वर्ग में सीखे गए गीत क्यों गाते रहे? अगर तुम मात्र ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही आए थे तो फिर तुमने अपने प्रेमपाश में इस भोली-भाली किशोरी को बहकाकर क्यों फांस लिया। कहीं ऐसा तो नहीं था कि तुमने खूब सोच-विचार कर ऐसी योजना तैयार की थी कि तुम मेरे पिता का अनुग्रह प्राप्त कर सको।"

कच देवयानी के उत्तेजित उद्गार से विचलित हो इस बात का विरोध करता है। कहता है कि उसने सच्चे मन से और बड़ी गहराई से उससे प्रेम किया है लेकिन अपने लिए नहीं, उसके लिए। तथापि कर्तव्य के आह्वान पर वह अपनी सारी प्रसन्नता न्योछावर कर देगा और यही उसे करना भी चाहिए। वह यहां से अपने आत्मीय जनों के बीच लौट जाएगा और अपने ज्ञान को उनकी सेवा में अर्पित कर देगा। वह देवयानी से क्षमा याचना करता है।

"क्षमा, कैसी क्षमा... ओ ब्राह्मण। यह नारी हृदय, जिसमें वज्रसम क्रोधोन्माद की ज्वाला भड़क उठी है, उसमें क्षमा कहां! तुम तो अपने स्वर्गिक ऐश्वर्य में लौट जाओगे और तुम्हारे

सारे अनुताप तुम्हारी सफलता के वैभव में विलीन हो जाएंगे। लेकिन मेरे लिए भला क्या बचा रहेगा। इस सुनसान और उजाड़ जीवन में भला कौन-सी महत्वाकांक्षा या अभीलिप्सा या कि आत्मगौरव मन में संजोकर रखूंगी मैं? इन जंगलों में, मुझे निरुद्देश्य और हताश प्राण के साथ अपमान के घूंट पीते रहना है और जहां स्मृतियां कदम कदम पर सहस्र शूल बनकर मुझे बींधती रहेंगी और एक पवित्र लज्जा मेरी सत्ता को कुरेद कुरेद कर खा जाएगी। लज्जा तो तुम्हें भी आनी चाहिए ओ निष्ठुर अतिथि! तुम जो कि चिलचिलाती धूप में मेरे जीवन की बगिया की छांव में बैठे। कुछ ही देर में इसके सारे फूलों को तोड़कर एक माला भी तैयार कर ली और अंत में इसके धागे झटके से तोड़ दिए, एक नारी के आत्म-सम्मान को धूल-धूसरित कर देने के लिए। तो फिर विदा की इस घड़ी में मेरा यह अभिशाप वहन करो कि तुमने मेरा तिरस्कार कर जिनके लिए यह ज्ञान अर्जित किया है, इसका तुम्हें कभी पूरा फल नहीं मिलेगा। तुम जीवन भर इसका भार वहन करते रहोगे लेकिन इसके व्यवहार से वंचित रहोगे, तुम इस ज्ञान का बखान तो करोगे लेकिन कभी इसका उपयोग नहीं कर पाओगे।"

यही अप्रतिम नाट्य-आख्यान एक पूर्णांक नाटिका 'मालिनी' में परिणित हुआ। यह थी तो एक पद्य-रचना ही, लेकिन अपने स्वर और स्वरूप में तथा स्थितियों के विकास में यह अपने पूर्ववर्ती गीति-नाट्य के मुकाबले कहीं अधिक व्यवस्थित, संयोजित और नाटकीय थी। इसमें एक विचार की सारणि तो थी ही, दो परस्पर विरोधी निष्ठाओं का विश्लेषण भी था—और इस दृष्टि से इस कृति को उनके पूर्ववर्ती नाटक 'विसर्जन' की कोटि में रखा जा सकता है। यहां इस कृति में भी ब्राह्मणवाद और हिंदू रूढ़िवादी ताकतों को करुणा और वैश्विक प्रेम की चुनौतियों के समकक्ष और विशेषकर बुद्धप्रदत्त शिक्षाओं के संदर्भ में रखकर देखा गया है। रवीन्द्रनाथ, यद्यपि जन्म से एक ब्राह्मण और हिंदू सुधारक के पुत्र थे—लेकिन उनकी भावना पूरी तरह समाहारवादी थी। मोटे तौर पर वे उपनिषदों में निहित मनीषा तथा संस्कृत एवं मध्यकालीन साहित्यों की साहित्यिक धरोहर की प्रशंसा तक ही सीमित रहे जबकि बुद्ध के प्रति उनके मन में अगाध श्रद्धा थी। उनके अनुसार, बुद्ध में, हिंदू जाति और उसके विचार का सर्वश्रेष्ठ पुष्पन हुआ है।

रवीन्द्रनाथ बौद्ध आख्यानों और अभिप्रायों पर ढेर सारी रचनाएं—कविताएं और नाटिकाएं—लिखना चाहते थे। और इन्हीं में एक है 'मालिनी' जो इस नाटक में राजा की पुत्री है और रवीन्द्रनाथ की एक प्रमुख बौद्ध-नायिका। लेकिन इस नाटक में सुंदर सात्विक और रहस्यमयी युवती ही जीवन या प्रभावशाली नहीं है अपितु इसका प्रमुख प्रतिपक्षी हिंदू कट्टरवाद का एक अगुआ है—जिसके अहंकारपूर्ण व्यक्तित्व में उसका धर्म, बल, आतंक और दंभ चित्रित हैं। इस कृति में केवल 'दीमक खाए धर्मग्रंथ' के प्रति अंधनिष्ठा और अपनी रुचि के धर्म के प्रति निष्ठा में ही टकराव नहीं है बल्कि करुणापूर्ण कविता और

सामाजिक अनिवार्यता के गद्य के बीच द्वंद्व भी है। करुणा आकाश में इधर से उधर आंखमिचौनी खेलते चांद जैसी है--लेकिन क्या यही एक टिकी रहनेवाली सच्चाई है? और कल ही, दिन के उग आने के साथ ही जब भूखे-नंगे लोग समुद्र का सीना चाक करने के लिए अपने अनगिनत जालों के साथ निकल आएंगे और उनकी किश्तियों के पाल से आकाश भर जाएगा तब यही चांद एक धुंधली परछाईं की तरह दिखेगा।'' लेकिन इससे भी गहरा द्वंद्व है--व्यक्तिगत निष्ठाओं का। किसी व्यक्ति को अगर यह कठोर निर्णय करना पड़े कि उसे अपने विवेक या अपने धर्म पर अपने देश या आस्था या कि मित्रता अथवा प्रेम के वचन पर अविश्वास करने की नौबत आ जाय, तो वह किसे चुनेगा? इस दुविधा का कोई निश्चित उत्तर नहीं है और वह ऐसे किसी भी निर्णय को स्पष्ट नहीं कर सकेगा, फलस्वरूप त्रासदायक पीड़ाएं झेलनी पड़ती हैं। और मालिनी केवल इतना ही कर सकती थी कि वह स्वयं क्षमा कर दे और दूसरों को भी ऐसा ही करने को कहे।

रवीन्द्रनाथ की कविताओं का दूसरा प्रमुख संकलन 'चैताली' 1896 ई. में प्रकाशित हुआ। चैताली का शाब्दिक अर्थ है रबी की फसलों की कटाई--धान की बिनाई और ओसाई का काम जो कि चैत (मार्च-अप्रैल) के महीने में किया जाता है क्योंकि इसके बाद, मई के महीने में धूप जमीन की सारी नमी अंतिम बूंद तक, सोख लेती है। शायद ऐसा इसलिए था कि कवि को ऐसा भान हो चला था कि उसके जीवन का बसंत समाप्त होने को है और क्रमशः तीव्रतर होती जाती आध्यात्मिक गंभीरता की उत्तप्त झंझाओं में बौद्धिक तत्परता के पत्ते और कोंपल जल्द ही बिखर जाएंगे। इस संकलन की लगभग सभी कविताएं आकार में छोटी हैं और इनमें भी ज्यादातर--चतुर्दशपदियां ही हैं। इनकी भाषा सरल है और इन्हें किसी नए रूपाकार या पद्धति में ढालने की कोशिश भी नहीं दिखती। इसकी विषयवस्तु का चयन सामान्य और दैनंदिन जीवन से किया गया है, जिसे वे पद्मा नदी के किनारे बैठकर निहारा करते थे। इनमें क्षणिक पश्चात्ताप या अतीत की स्मृतियों का मुखर चित्रण भी है। मानो इन कविताओं में कोई उदात्त और चिंतातुर उदासी छिपी बैठी है। साथ ही एक अलग राह पर निकल पड़ने की तैयारी का पूर्वाभास भी दिख पड़ता है। इसके पहले कि अगले चरण में भारत का अतीत उन्हें अभिभूत कर दे, उन्हें अपने निकटतम अतीत से कुछ अविनश्वर क्षणों को सहेजना भी था। एक लड़की नदी किनारे अपना कलसा मांज रही है, उसका छोटा भाई इधर-उधर दौड़ रहा है, एक मजदूर अपने काम से वापस आ रहा है, एक जरा जर्जर वृद्ध लंगड़ाता चला जा रहा है, एक जवान आदमी कीचड़ सनी भैंस को नहला रहा है उसे बड़े लाड़-प्यार से कई कई नामों से पुकार कर दुलरा रहा है--ऐसे अनेक नगण्य और त्वरित दृश्य--बड़ी सूक्ष्मता और गहरी सुकुमारता से चित्रित, व्यंजित हुए हैं।

इस अवधि के दौरान रवीन्द्रनाथ का काव्यात्मक निष्पादन बहुत ही समृद्ध और

विविधतापूर्ण रहा है लेकिन गद्य के क्षेत्र में भी उनका अवदान कुछ कम नहीं। उनकी कहानियों ने साहित्य में एक नए रूपाकार की सृष्टि की और उसने एक ऐसा प्रतिमान तैयार किया जिसकी उपलब्धि को आज तक भारतीय साहित्य लांघ नहीं पाया है। यहां तक कि उनकी ही लिखी परवर्ती कहानियां भी नहीं। उनकी हल्के हास्यपरक सामाजिक प्रहसन, विशेष तौर पर 'बैकुंठेर खाता' (बैकुंठ की बही) और 'चिरकुमार सभा', ये दोनों उल्लेखनीय हैं। इनमें से पहला, एक उदार लेकिन झक्की बूढ़े के बारे में है, जो हर किसी को जो भी रास्ते में मिल जाय, उसे अपनी पांडुलिपि पढ़ाना चाहता है। इस भोले-भाले गोबर गणेश को कोई महत्व नहीं देता और धोखा देता है (हालांकि ऐसा कौन है, जो ऐसे आदमी के संपर्क में नहीं आता)। 'चिरकुमार सभा' में ऐसे पात्रों का चित्रण है जो इस संभ्रम में हैं कि वे सारा कुछ बिना किसी स्त्री संसर्ग के प्राप्त कर सकते हैं। यह प्रहसन बंगाल के रंगमंच पर अब भी लोकप्रिय है और दर्शकों का मनोरंजन करने में भी कभी पीछे नहीं रहता। अपने रचनात्मक गद्य के अलावा, इस अवधि में विपुल मात्रा में लिखा गया उनका चिंतनपरक गद्य वैविध्यपूर्ण और वैशिष्ट्य मंडित है। इनके अंतर्गत दर्शन और विज्ञान समेत शायद ही ऐसा कोई विषय हो जो लिखे जाने से रह गया हो। इन सब में उन्होंने जो कुछ भी कहा, उससे नए सोच और समझ की शुरुआत हुई।

इस अवधि में लिखी गई गद्य-रचनाओं में संभवतया सबसे महत्वपूर्ण और विद्वतापूर्ण लेखनी उनकी जिस पुस्तिका के पृष्ठों में विन्यस्त है, वह है–'पंचभूतेर डायरी' (पांच भूत-तत्वों की डायरी)। इस रचना के बारे में बंगाल के बाहर के पाठकों को बहुत अधिक मालूम नहीं है। इसमें पांच तत्व--वायु, पृथ्वी, जल, अग्नि और आकाश--जीवन एवं अधिकारों के प्रश्नों पर आयोजित पंचमुखी परिसंवाद और तर्क-वितर्क बड़े हास्यपूर्ण ढंग से प्रतीकित हैं। इसमें ये पांचों तत्व बड़े नाटकीय रूप में चित्रित हैं--इनमें वायु और जल स्त्रीवाची हैं--जिज्ञासु और भावुक, अन्य तीन पुरुषवाची हैं–पृथ्वी निर्विकार और अवसरवादी है, वायु आदर्शवादी और आकाश–अस्पष्ट। इन पृष्ठों पर कौतुक और चातुर्य तथा तर्क और चांचल्य एक दूसरे का कंधा छीलते हुए आगे निकल जाते हैं। इन सबके साथ लेखक स्वयं एक मध्यस्थ की भूमिका में है--कभी इन्हें छेड़ता हुआ कभी उनके असली रूप दिखाता हुआ और कभी विभिन्न विचारों को स्पष्ट करता हुआ--एक भारतीय अरस्तू लेकिन जिसकी आंखों में शावियन चमक है।

एक लेखक कितना महान हो सकता है, यदि वह परंपरागत होने की अपेक्षा अपने प्रति ईमानदार हो, और ठीक उसी तरह जिस तरह प्राचीन काल में देव वाणियां प्रज्ञा प्रदान करती थीं, इस बात को कोई भी अनुभूत कर सकता है। अगर इस दौरान लिखी गई डायरी और दूसरे छोटे-मोटे संकलन से हम उनकी तुलना करें--जिनमें कि उनकी समझ और विद्वता लेखनीबद्ध है, वह ठीक उसी शैली में नहीं–जिस तरह पंचतत्वों के संवाद में सूक्ष्मता और

संकेतार्थ निहित हैं, बल्कि मोटे तौर पर पिटे-पिटाए सूत्रों और गद्य में लिखित आख्यानों में वर्णित हैं। उनके देशवासी इन चतुर और विदग्ध कथनों को पसंद करते हैं और इन्हें उद्धृत करना पसंद करते हैं। यह प्रज्ञा या मनीषा औषधि की तरह है लेकिन वह तब और अधिक रुचिकर हो जाती है जब वह मीठी गोली की तरह प्रदान की जाती है। लेकिन लेखक इसे बहुत महत्व नहीं देना चाहता और इस बात का अनुमान उनके द्वारा प्रदत्त शीर्षक 'कणिका' से ही लगाया जा सकता है।

8

लोक-चारण

हे प्रभु मेरे देश की प्रतिज्ञाएं और आकांक्षाएं
कर्म और वचन सत्य हों।

रवीन्द्रनाथ जब ऐसी पंक्तियां लिख रहे थे तब वे अपने जीवन में इससे अधिक कुछ नहीं चाह रहे थे कि नदी पर अपनी नौका से इसके सुंदर दृश्यों को निरंतर निहारते रहें। लेकिन धीरे धीरे वे अधिक सक्रिय और लोकसंकुल अस्तित्व के लिए बेचैन हो उठे थे। इस बाजार के शोर-शराबे और कोलाहल से वे जितने ही आशंकाग्रस्त रहे, उतने ही अधिक और बार बार वे इसमें फंसते चले गए और अधिक समय तक इससे दूर नहीं रह पाए।

तब वातावरण में भी काफी बेचैनी थी। राष्ट्रवाद का सोया हुआ भीम अपनी भूमि पर हड़कंप मचाने ही वाला था और ब्रिटिश सरकार भी धीरे धीरे विचलित और संत्रस्त हो चली थी। इसके प्रशस्त और भव्य परिधान के नीचे तलवारें खनक रही थीं। सन 1898 में राजद्रोह विधेयक पारित किया गया ताकि राष्ट्रवादियों के विद्रोह को दबाया जा सके और इसके अंतर्गत महान राष्ट्रमनीषी तिलक को गिरफ्तार कर लिया गया। जिस दिन यह विधेयक कानून बन गया, कवि भी इस विवाद में ठीक उसी दिन कूद पड़े और अपना प्रसिद्ध आलेख 'क्रान्तरोध' कलकत्ता की एक सार्वजनिक सभा में पढ़ा। उन्होंने सरकार की दमनपूर्ण नीति के खिलाफ आवाज उठाई और तिलक के पक्ष में कोष जुटाने में सक्रिय भागीदारी भी निभाई। इसके कुछ दिनों बाद ही जब पूरा कलकत्ता प्लेग महामारी की चपेट में आ गया तो उन्होंने इस भयंकर आपदा से लोगों को राहत और चिकित्सा सुविधा प्रदान करने के लिए बहन निवेदिता की सहायता की। कवि अब धीरे धीरे अपने लोगों के लिए परित्राणपूर्ण और राष्ट्रीय आकांक्षाओं के शिखर पुरोधा के रूप में परिणत होते जा रहे थे। वह केवल अपना स्वर ही ऊंचा नहीं कर रहे थे बल्कि प्रत्यक्ष तौर पर अपनी सक्रिय सेवाएं प्रदान कर रहे थे।

रवीन्द्रनाथ की राजनैतिक गतिविधियों के अनुरूप ही उस काल के उनके साहित्यिक अवदानों में वही मनोदशा और ऊर्जा दिखती है। उनके वीर गीतों, आख्यानमूलक कविताओं

और नाटकीय उपाख्यानों में देश के अतीत की पुनर्रचना की गई है। उनके इस उपक्रम की प्रशंसा अरस्तू ने भी की होती। जैसा कि इस यूनानी दार्शनिक ने अपने ग्रंथ 'रिपब्लिक' में विचार व्यक्त किया है, "देवताओं की संवर्धना और श्रेष्ठ कार्यों की प्रशंसा ही ऐसी पद्य- रचनाएं हैं-- जिन्हें हमारे राज्य में स्वीकार किया जा सकता है। क्योंकि अगर आपको आनंदपूर्ण चिंतन को अपने गान और छंदों में स्वीकृति देना है-- तो हमें कानून के बदले हर्ष और विषाद के आधिपत्य की कहीं अधिक जरूरत है।" प्रश्न है क्या दार्शनिक ने उस हर्ष और विषाद की अनदेखी कर दी थी जो कि जीवन के स्पंदन हैं-- और जिनके बिना कानूनी राज्य और कुछ नहीं और तब जीवन शून्यता की एकरूपता को ही चरितार्थ करेगा। जो भी हो, रवीन्द्रनाथ के बारे में अरस्तू की स्वीकृति संभवतया अल्पस्थायी ही होती।

इस अवधि में लिखित रवीन्द्रनाथ के दो महत्वपूर्ण संग्रह हैं 'कथा' और 'काहिनी' (क्रमशः गाथा और कथा), जो कि आख्यानमूलक पद्य और नाटकीय संवाद की दृष्टि से अपूर्व बन पड़े हैं। ये दोनों भारत के अतीत से चुनी गई अनुश्रुतियों, ऐतिहासिक आख्यानों, बौद्ध गाथाओं तथा निकट इतिहास के राजपूतों, मराठों और सिक्खों के इतिवृत्तों से बहादुरी और बलिदान से जुड़े प्रसंगों से संबद्ध हैं। वाणीकारों, नाटककारों और कहानीकारों ने जो कुछ अपनी प्रतिभा के द्वारा एकत्रित किया था, उनमें से कुछ अंशों को रवीन्द्रनाथ ने अपने पाठकों के लिए श्रेष्ठ धरोहर के रूप में प्रस्तुत किया, जिसे न केवल उनके किशोर पाठक बल्कि बड़े भी पसंद करते रहे। महाभारत में उल्लिखित ऐसी किसी स्थिति को जिसमें कोई हल्का-सा भी संकेत हो, समझ कर उसमें नाटकीय संभावना का विस्तार कर पाने की उनकी क्षमता को उनकी 'कर्ण और कुंती' या 'गांधारी की प्रार्थना' में आंका और भारतीय काव्य के मूल आख्यान से मिलाकर देखा जा सकता है।

अपने परिष्कृत काव्य; आख्यानपरक कौशल और नाटकीय ऊर्जा के अलावा इन कविताओं की मुख्य विशेषता आधारभूत नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति उनकी निरंतर बढ़ती जाती प्रतिबद्धता है। एक अमीर शिष्य, जिसे अपनी संपदा पर बड़ा गर्व था, सिख गुरु के पास पहुंचा और जड़ाऊ कंगन का एक जोड़ा भेंट-स्वरूप प्रदान किया। गुरु ने जैसे ही एक कंगन उठाया, वह उनके हाथ से फिसलकर नीचे नदी में गिर पड़ा। शिष्य पलक झपकते नदी में कूद पड़ा ताकि वह कीमती उपहार को ढूंढ़कर ला सके। लेकिन जब उसे वह कंगन नहीं मिला तो उसने गुरु से प्रार्थना की कि वे इतना तो बता दें कि वह कौन-सी जगह गिरा था। गुरु ने दूसरा बचा हुआ कंगन पानी में फेंकते हुए कहा, "वहां।"

इसी कृति में प्राचीन ऋषि से संबद्ध एक रचना है, जो अपने शिष्यों को पवित्र मंत्र प्रदान किया करते थे। एक दिन एक निर्धन किंतु जिज्ञासु बालक उनके सम्मुख आकर गिड़गिड़ाने लगा कि वे उसे भी शिष्य के रूप में स्वीकार कर लें। ऋषि ने उससे पूछा कि क्या वह ब्राह्मण संतान है और उसका पिता कौन है। बालक दौड़ा दौड़ा अपनी मां के

पास गया और उससे सारी बातें पूछीं। मां ने उत्तर दिया कि उसका कभी कोई पति नहीं था और अगर भगवान ने उसे कुछ दिया भी है तो वह यह बालक ही है। ऋषि ने उस बालक को हृदय से लगा लिया और कहा, "तुम ही श्रेष्ठ ब्राह्मण हो क्योंकि तुम्हें उत्तराधिकार में जो सर्वश्रेष्ठ गुण मिला है वह है—सत्य।"

इसी तरह, बुद्ध के शिष्य भिक्षु उपगुप्त की कथा भी इसमें संकलित है। एक दिन, यह सुदर्शन युवा भिक्षु मथुरा नगरी की चारदीवारी के बाहर, जमीन पर सोया हुआ था कि अचानक कोई चीज उसके वक्ष से टकराई और वह हड़बड़ाकर उठ बैठा। वस्तुतया वह उस नगर की राजनर्तकी अनन्य सुंदरी वासवदत्ता थी जो अपने किसी प्रेमी से मिलने जा रही थी व उससे अंधेरे में जा टकराई। उसने जब भिक्षु की ओर अपना दीप-दान मोड़ा तो उस सुंदर भिक्षु को देखकर हैरान रह गई। उसने उसे अपने यहां आने का आमंत्रण दिया और कहा, "यह कठोर और खुरदरी जमीन तुम्हारी शय्या नहीं।" भिक्षु ने उसकी तरफ देखा और कहा, "ओ सौंदर्य साम्राज्ञी, अभी नहीं। तुम जहां जा रही हो, अभी वहीं जाओ, जब उपयुक्त समय आएगा, मैं स्वयं उपस्थित हो जाऊंगा।"

दिन बीतते चले गए और एक दिन जब भिक्षु उसी नगर की चारदीवारी की बगल से गुजर रहा था तो उसने देखा कि एक बीमार और बेसहारा स्त्री जमीन पर पड़ी है। यह वही राजनर्तकी थी जो चेचक से ग्रस्त असहाय पड़ी थी। इस भयावह महामारी से डरकर नगर के वासी उसे शहर के बाहर फेंक आए थे। वह भिक्षु उस मूर्च्छित पड़ी काया की बगल में बैठ गया। उसने उस स्त्री का सिर अपनी गोद में रख लिया। उसके प्यासे और सूखे होठों को पानी पिलाया, उसकी देह पर शीतल और सुगंधित चंदन का लेप लगाया और उसके स्वास्थ्य लाभ की प्रार्थना की। उस स्त्री ने अपनी आंखें खोलीं और पूछा, "तुम कौन हो... ओ कृपानिधान" भिक्षु ने उत्तर दिया, "वासवदत्ता, मैं अपना वादा निभाने आ गया।"

एक दूसरी कविता सामान्य क्षति (साधारण क्षति) में कवि एक दूसरी कहानी सुनाते हैं, "शिशिर ऋतु की एक सुबह काशीश्वरी अपनी दासियों के साथ गंगा स्नान के लिए पधारीं। तब तेज कंपकपाती हवा बह रही थी। रानी जो बड़ी उत्फुल्ल नजर आ रही थी, यह सोचकर बड़ी खुश हुई कि अगर कहीं आग तापने को मिल जाए तो कैसा रहे। उसे पास ही एक साधारण-सी झोपड़ी दिखी और उसने अपने अनुचरों को उसमें आग लगाने का आदेश दिया। तेज हवा के झोकों में आग की लपटें और भी ऊंची हो उठीं और वह इसकी आग तापकर बड़े मुदित मन से राजप्रासाद लौटी, क्योंकि आज उसकी सुबह अनोखी प्रसन्नता से भरी थी। इस बीच, गांव के भोले-भाले किसान दौड़े-भागे राजदरबार तक पहुंचे और अपनी तबाही का दुखड़ा रोने लगे। राजा ने रानी को बुलवा भेजा और उन्होंने पूछा "ऐसा क्यों किया।" रानी ने मुस्कुराते हुए प्रत्युत्तर दिया, "आखिर ऐसा कौन-सा नुकसान

हो गया कि आसमान फट पड़ा।"

राजा ने उत्तर दिया, "इस बात का निर्णय तुम स्वयं करोगी" और उन्होंने रानी को उनके समस्त स्वर्णाभूषणों और अमूल्य संपदा से वंचित कर राजप्रासाद से बाहर निकल जाने का आदेश दिया। उन्होंने आदेश दिया – "जाओ और अपनी जीविका खुद अर्जित करो। तभी तुम जान पाओगी कि कुछेक पलों के आनंद के लिए इस गरीब आदमी की झोपड़ी जलाकर तुमने उसका कितना बड़ा नुकसान किया है। जिस दिन तुम उस झोपड़ी को दोबारा खड़ा कर पाने में समर्थ हो जाओगी, उसी दिन मैं तुम्हें रानी के रूप में स्वीकार कर पाऊंगा।"

लेकिन "देवताओं की संवर्धना और श्रेष्ठ कार्यों की प्रशंसा का विचार समग्र रूप से इस कवि रवीन्द्र को आश्वस्त नहीं कर पाया– जिनकी प्रतिभा प्रमुखतया और प्रचंड रूप से गीतिपरक और व्यक्तिपरक थी। इसलिए उन अवसरों पर भी, जब वे राष्ट्रीय नैतिक ऐतिह्य को अपनी वैश्विक और मानवतावादी अवधारणा के साथ पुर्नव्याख्यायित कर रहे थे तो अपनी वैयक्तिक पीड़ाओं और विचार तरंगों से भी क्रीड़ा कर रहे होते थे जो उनकी उत्कृष्ट गीतियों और गानों से स्पष्ट है, जो कि एक एक कर लगातार तीन संग्रहों में प्रकाशित हैं और ये केवल उनके विकास के रूप में ही नहीं, पूरे देश के साहित्य के उत्कर्ष के कीर्तिमान हैं। अरस्तू ने 'सुखद कलादेवी' के बारे में चाहे जो टिप्पणी की हो–वही रवीन्द्रनाथ की प्रथम और अंतिम प्रेमिका थी, और भले ही लंबे समय के लिए कभी वे उससे दूर चले जाते थे, उसी के पास नवीन उत्साह से लौट भी आते थे।

दूसरे संग्रह 'कल्पना' की पहली ही कविता में वे अंतरिक्ष (स्पेस) की उत्कट अनिवार्यता की आवश्यकता जताते हैं, यहां तक कि प्रकाश के अवसान हो जाने की स्थिति में वह प्राणी की चेतना को कैसे उत्प्रेरित करता है ताकि वह ऊंची उड़ान भरना कभी न छोड़े, भले ही उसके पंखों का स्पंदन निष्फल प्रतीत होता हो "भले ही अंधेरा गहराता चला जाए और सुर थम जाए, भले ही सारे संगी-साथी झुंड बनाकर अपने अपने घोंसलों में लौट गए हों और तुम्हारे अंग-प्रत्यंग में क्लांति-सी रेंग रही हो और चारों ओर कोई अनिष्टकारी जाल फैला हो... तो भी ओ मेरे प्राणविहग ओ दृष्टिहारा पंछी, तू अपने पंख मत समेट... अभी नहीं।"

इसी संग्रह में प्रकृति विषयक कुछ बहुत ही सुंदर कविताएं हैं, विशेषकर 'वर्ष के अंत' को संबोधित एक उत्कृष्ट रचना। बंग्ला वर्ष अप्रैल में समाप्त होता है, जब गर्म हवाएं बहने लगती हैं और प्रचंड झंझावात (काल बैसाखी) से सारा मैदानी इलाका थर्रा उठता है, और उसके साथ साथ कभी वर्षा भी हो जाती है। शायद ऐसे दिनों में यह कविता लिखी गई होगी और आज भी काल देवता के इस विप्लवी क्रोधोन्मादपूर्ण उत्तेजित लय को कोई भी सुन सकता है जो पुरातन को विनष्ट कर नवीन का वरण करती है।

लेकिन ऐसा नहीं है कि सारी की सारी कविताएं कवि की दुर्दम्य उत्कंठा को प्रतिध्वनित करती हैं या उसकी अंतर्दृष्टि को प्रतिबिंबित करती हैं। इसमें से कुछ हलके-फुलके ढंग से चौकड़ी भरते छंदों में लिखी गई हैं-- किशोर मन की उत्कंठापूर्ण उच्छलता के साथ। उदाहरण के लिए, एक कविता जूते के आविष्कार से संबंधित है। लेकिन कुल मिलाकर कवि की निसर्ग के प्रति प्रवृत्तिगत और आराधक प्रेम भाव, उनकी विभिन्न मनोदशाओं में निहित ऐंद्रिक आनंद अब अवसादपूर्ण अनुचिंतनों के भार से झुक गया था। अब वह ध्वंसावशेषों में मंदिर के दर्शन करता था और उन देवताओं के प्रति करुण हो उठता था, जो उपेक्षित और अपूजित पड़े थे-- उनका हृदय भाव-विह्वल हो उठता है भले ही लोगों को अन्य कई देवता प्राप्त हो चुके थे। ऐसी ही एक प्यारी-सी कविता है--जिसने शायद फ्रायड में भी दिलचस्पी पैदा की होती। इसमें शिव का पश्चाताप भी सम्मिलित है, जिसने अपने क्रोधोन्माद के उत्तप्त क्षणों में प्रेम के देवता मदन को जलाकर भस्म कर दिया। अब वही भस्म धूल वायु के साथ बहती हुई सारी दुनिया में बिखर गई है और मुनष्य को विचलित करने में यह अवदमित काम भावना कभी पीछे नहीं हटती। कवि द्वारा आध्यात्मिक संकट का पूर्व निषेध और वह स्वयं किस विपत्ति के सम्मुखीन है--उनकी बहुत-सी कविताओं में इसका संकेत मिलता है। उनका जीवन देवता धीरे धीरे अपने प्राप्य का दावा करने लगता है, "मैंने अपना हृदय इस संसार को सौंप दिया था, जिसे तुमने उठाकर अपना बना लिया। मैंने आनंददायक समझकर पीड़ा का वरण करना चाहा था लेकिन तुमने इस अवसाद को आनंद में परिणत कर दिया।"

लेकिन कोई भी मूर्तिपूजक इतनी आसानी से अपनी प्रकृति (देवी) से अलग नहीं होता। जीवन का प्रेमी किसी विशिष्ट निष्ठा की निरानंद सादगी के प्रति अपने बहुविध प्रेम का इतनी जल्दी बलिदान नहीं करता। रूपाकार की सर्जना मात्र के लिए, मनोदशा की अंतरंगता, विचारों और चांचल्यपूर्ण भाषा की जीवंतता, प्रतिभा के उत्कृष्ट एवं चपल प्रदर्शन मात्र के लिए पहले या बाद में कविता के इस संग्रह से श्रेष्ठ कोई रचना नहीं लिखी और जो कि उनके जीवन के लगभग चालीसवें वर्ष में लिखी गई। हालांकि उन्हें इस बात का जैसे पूर्वबोध था कि उनका आधा जीवन बीत गया है और आगामी आधा शुरू होने के पूर्व जो कि अधिक तेजस्वी लेकिन धुंधला था, इसके प्रारंभ में ही उन्हें कुछ अंतराल के लिए स्वच्छंद आनंदपूर्ण जीवन के अनित्य क्षणों का परित्याग करना पड़ा था। इस पुस्तिका का सर्वथा यथोचित नाम 'क्षणिका' रखा गया था-- जिसका अर्थ ही है ऐसी कोई भी रचना या सर्जना--जो क्षणभंगुर और नश्वर है। यह कृति इसलिए भी साहसपूर्ण और उल्लेखनीय है कि अपनी विषय-वस्तु एवं विंब विधान की अपेक्षा इसमें अपने कथ्य के अनुरूप भाषा और शैली का समुचित विनियोग किया गया है। उन्होंने आम बोलचाल की भाषा और इसकी संक्षिप्त ध्वनियों के साथ इसकी शक्ति, ऊर्जा और संगीत का भरपूर उपयोग किया

और इस प्रयोग ने जैसा कि माना जाता है बंग्ला काव्य के भविष्य में क्रांतिकारी परिवर्तन कर दिया। लोगों की इस भाषा में ही, अंततः अपनी भाषा प्राप्त हुई– जिसे उन्होंने साहित्य की भाषा बनाया। अपनी ऐसी ही एक मोहक कविता में अपने उस 'अद्वितीय' से उन्होंने अपनी मनोदशा की चपलता और चंचलता के लिए क्षमा मांगी है– जो उन्हें संबंधों का उचित निर्वाह करने नहीं देती– क्योंकि वर्षा ऋतु में, जब कि आकाश अपने को बूंदों में उड़ेल देता है और पृथ्वी नाचने लगती है, और तब किसी मनुष्य का हृदय अपने आदिम आवेगों का दमन किस प्रकार कर सकता है। और अपनी कलादेवी के साथ रवीन्द्रनाथ का वह 'अद्वितीय' और कोई नहीं संभवतया उनका बंगाली पाठक भी हो सकता था।

लेकिन शिखर उत्साह का यह अभिनव विस्तार, एक प्रसन्न उन्माद और निस्संगता ये सब जैसे क्षणस्थायी अंतराल थे–और एक दम तोड़ती हुई शताब्दी को ये ऐसे विदाई उपहार थे–जिसके प्रति सचमुच कृतज्ञ थे। नयी शताब्दी को उनकी भेंट सचमुच बहुत अलग थी। और उनकी ऐसी दो पुस्तकें जो एक-दूसरे के बिल्कुल विपरीत थीं– बहुत जल्दी एक दूसरे के बाद सामने आईं। इनमें से पहली 'क्षणिका' 1900 ई. के अंत में और दूसरी 'नैवेद्य' 1901 ई. के आरंभ में प्रकाशित हुई। एक सौ कविताओं और स्तोत्रों का परवर्ती संग्रह जो कि पिछले बहुत दिनों से लिखा जा रहा था– वह विश्व की किसी भी महानतम धार्मिक कविता के समकक्ष होने का दावा कर सकता है। इनमें से कुछ रचनाएं बाद में 'गीतांजलि' (अंग्रेजी) में संकलित की गईं। 'क्षणिका' का वह असंयत आवारा अब एक समर्पित उपासक बन गया था। वह ईश्वर तथा मनुष्य के प्रति अपने उत्तरादायित्व बोध का भारी बोझ उठाए हुए था। कवि का कलाकार यहां मनुष्यों के बीच ईश्वर की उपस्थिति से प्रशांत बना हुआ है और इन कविताओं में कल्पना की ऊंची उड़ान या वैचारिक पटुता या भावनात्मक प्राचुर्य, या कि छंदपरक आंखमिचौनी देखी जा सकती है। उसकी निरावृत आत्मा परमात्मा की उपस्थिति से अनुग्रहीत और विनीत है और वह संपूर्ण सहज स्वर में निवेदन करता है, "ओ प्रभु, दिन-प्रतिदिन हाथ जोड़कर मैं तुम्हारे सामने खड़ा रहूंगा।" कवि को अपनी असहायता का बोध हो गया है और इसके अनंतर अब वह उससे ही अपना प्रकाश ग्रहण करेगा। यह सब कुछ इसलिए है कि वह साथ है।

"मेरे घर में तुम अपना प्रदीप जलने दो
मेरा दीप केवल हवा को तपाता है
और कलुषित धुआं फैलाता है।"

वह अपनी पीड़ा से भयभीत नहीं। वस्तुतया भय ही सत्य को विकृत करता है–

"तुम्हारी असीमता में मैं जितनी दूर तक विचरण करता हूं–
मुझे वहां न तो दुख न तो मृत्यु और न ही वियोग ही दिखता है।

मृत्यु तभी आतंक, दुख उत्पन्न करती है
जब मैं तुमसे दूर चला जाता हूं
या जब मैं अपने अंधकारपूर्ण स्वार्थ की ओर देखता हूं।"

सौ कविताओं का यह संग्रह, जिसका शीर्षक 'नैवेद्य' सर्वथा उपयुक्त है– कवि द्वारा अपने तिरासी वर्षीय श्रद्धेय पिता को उनके ऋण के प्रति कृतज्ञता जताते हुए समर्पित किया गया था क्योंकि जो भी आध्यात्मिक और नैतिक संपदा इसके पृष्ठों में सुरक्षित थी--वह प्रकारांतर से महर्षि द्वारा कवि को प्रदत्त उपहार स्वरूप ही थी। पांडुलिपि में संकलित कविताओं को जब अपने पिता को उन्होंने पढ़कर सुनाया तो वे इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने पुत्र को इसके प्रकाशन का सारा खर्च चुकाने के लिए रुपए भी दिए।

कई वर्ष पूर्व जब रवीन्द्रनाथ अपनी किशोरावस्था में थे महर्षि ने यह ठीक ही सुना था कि उनका कनिष्ठ पुत्र धार्मिक ढंग की कविताओं की रचना करता है। उन्होंने उसे बुलवा भेजा था और उसके गीतों को सुना था। उनमें से एक कविता जो अब प्रसिद्ध हो चली थी, इन पंक्तियों से आरंभ होती थी–

"आंखें तुम्हें देख नहीं पातीं क्योंकि तुम आंखों का तारा बन बैठे हो,
यह हृदय तुम्हें जान नहीं पाता क्योंकि तुम इसके गहनतम रहस्य हो।"

इसे सुनकर महर्षि बड़े ही भाव-विह्वल हो उठे थे और उन्होंने कहा था– "अगर इस धरती के शासक, यहां के लोगों के बीच में से होते और उन्होंने इनकी भाषा समझी होती तो इस युवा कवि को पुरस्कृत किया होता।" ऐसे शासक के अभाव में ही महर्षि ने उसे काफी धनराशि दी थी।

अपनी तीव्रतम अंतःनिष्ठता और भक्तिपूर्ण समर्पण भाव जो कि यहां से वहां तक परिव्याप्त हैं--इन कविताओं को धार्मिक नहीं कहा जा सकता जैसा कि आमतौर पर इस शब्द से समझा जाता रहा है। यहां तक कि उनकी संसारेतर और ईश्वरोन्मुख भावदशा में रवीन्द्रनाथ, अपना मुंह इस जीवन और इस संसार से नहीं चुराते, चुरा नहीं सकते।

संन्यास में उनकी मुक्ति नहीं थी। मैं सहस्राधिक आनंद के बंधनों के बीच भी मुक्ति को गले लगाता हूं, " ऐसा जान पड़ता है यहां प्रभु-प्रेम और जीवन-प्रेम दोनों ही एक-दूसरे से साथ मिलाकर चलते हैं और एक-दूसरे का समर्थन करते हुए उन्हें परिपूर्ण एवं समृद्ध भी करते हैं, परमात्मा को निवेदित गाना भी अपने ही लोगों को निवेदित प्रार्थनाएं थीं–जैसा कि उनकी एक प्रसिद्ध कविता में है–

"जहां भय से मुक्त है मानस
और शीश है ऊंचा।"

अपने देश के लिए उनके प्रेम में कोई औद्धत्य या विदेशी-द्वेष या घृणा नहीं है। वे इस बात से सहमत नहीं है कि अपने देश की तमाम बुराइयों या खामियों के लिए विदेशियों को पूरी तरह दोषी ठहराया जाए और कहा कि जो बुराई करते हैं और जो इसे बिना विरोध के झेलते हैं—परमात्मा की दृष्टि में दोनों ही दोषी हैं। कवि ने जब यह लिखा तो उन्हें इस बात का आभास तक नहीं था कि कुछ ही वर्षों में गांधी जी द्वारा इस सत्य की घोषणा की जाएगी और इसे पूरी तरह न्यायसंगत ठहराया जाएगा।

उनकी एक महत्वपूर्ण कविता दम तोड़ती उन्नीसवीं सदी के ठीक अंतिम दिन लिखी गई थी। इसे उन्होंने बड़ा ही उपयुक्त शीर्षक दिया था, 'शताब्दी का सूर्यास्त'। इसमें उन्होंने 'राष्ट्र के प्रति अंध-प्रेम' वाली राष्ट्रीयता की भर्त्सना की थी और उन्होंने 'बोअर युद्ध' की निर्मम और आतंकपूर्ण तथा बोअर युद्ध (Boer War) के बाद होने वाली जघन्यतम त्रासदी को अनिष्टसूचक पूर्व चेतावनी के रूप में देखा था—"इस शताब्दी का अंतिम सूर्य पश्चिम में रक्तिम बादलों और घृणा के झंझावात के बीच डूब रहा है।"

यह भी आश्चर्यजनक तथ्य है कि गहन-धार्मिक और नैतिक आदर्शवाद की इसी अवधि में रवीन्द्रनाथ ने दो दो उपन्यास लिखे—'नष्ट नीड़' (उजड़ा घोंसला) और 'चोखेर बालि' (आंख की किरकिरी)। इन उपन्यासों ने भारतीय साहित्य में यथार्थवादी और मनोवैज्ञानिक उपन्यास लेखन की नींव रखी। इनके पूर्व लिखे गए उपन्यास जो बंकिमचन्द्र चटर्जी या स्वयं रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा लिखे गए थे—ऐतिहासिक रोमांस या भावुकतापूर्ण सामाजिक नाटक भर थे—या दोनों का मिला-जुला रूप थे। आधुनिक उपन्यास चाहे वे यथार्थवादी हों, मनोवैज्ञानिक हों या किसी समस्या को केंद्र में रखकर लिखे गए हों, भारतीय साहित्य में उनकी यात्रा इन्हीं दो उपन्यासों से शुरू होती है।

'नष्ट नीड़' का कथानक एक दैनिक अखबार के व्यस्त संपादक की पारिवारिक त्रासदी से जुड़ा है, जिसके पास अपनी युवा और बेहद प्रेमातुर पत्नी के लिए तनिक अवकाश नहीं। एक जीवंत और बहुमुखी प्रतिभासंपन्न युवक जो रिश्ते में पति का भतीजा है; का साथ पाकर इस उकतायी पत्नी को तनिक शांति मिलती है और प्राणों में संचार होता है। दोनों एक-दूसरे को लिखने के लिए प्रेरित और अनुप्राणित करते हैं और इस तरह दोनों नवोदित साहित्यकार के रूप में उभरते हैं। लेकिन इसके साथ ही अपरिहार्य जटिलताएं उत्पन्न होती हैं और वह सुखद नीड़, नष्ट हो जाता है। इसी समस्या का विश्लेषण 'चोखेर बाली' में किया गया है। यह अपनी समग्रता और संरचना में भी पहले से बेहतर रचना है—और कहीं अधिक जटिल परिदृश्य में रचित है। इसकी कहानी मानवीय संबंधों की दुविधा के इर्द-गिर्द घूमती है और धीरे धीरे एक मध्यवर्गीय बंगाली परिवार के सौम्य और गंभीर नजर आनेवाले परिवेश में अचानक जड़ जमाने लगती है, जहां एक विधवा मां अपने इकलौते बेटे के साथ दिन गुजार रही होती है और जिसे वह जी-जान से चाहती है। यह सब देखकर कोई भी

आदमी यही सोचेगा कि अपने तमाम निषेधों और प्रतिबंधित सामाजिक संबंधों के नाते इस भारतीय घर में भला ऐसी कौन-सी खास बात घटित हो सकती है? लेकिन ऊपरी तौर पर शांत दिखने वाले हृदयों से जंगली और उग्र उन्माद की आग भड़क उठती है और इस युद्धोन्माद में सारा घर लगभग तबाह हो जाता है, भले ही बाहरी लोगों की आंखों में न तो कोई आग है और न धुआं।

कुल मिलाकर, बीसवीं सदी का पहला साल रवीन्द्रनाथ के जीवन में एक महत्वपूर्ण साल था। यह हर तरह से लाभप्रद भी रहा—साहित्यिक उपलब्धि एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष की दृष्टि से सार्वजनिक सरोकार के नाते एक मनुष्य के रूप में उनकी स्वतंत्रता का अंत हुआ और अपनी कला साधना और परिवार को बचाने के लिए उनकी कोई देनदारी शेष न रही। इसके बाद उनकी अंतरात्मा अपने अंतर्यामी के प्रति अधिकाधिक प्रतिश्रुत होती चली गई। उनका प्रेमी रूप क्रमशः शिक्षक बनता चला गया और कवि ने अब एक मसीहा का बाना धारण कर लिया था।

रवीन्द्रनाथ को इस बात का स्वयं पता नहीं था कि वस्तुतया क्या होने जा रहा है? हां, इतना अवश्य जान पड़ा कि वे अब पूरी तरह पैतृक संपत्ति को देखते रहने की स्थिति में नहीं हैं और नियति उन्हें व्यापक क्षेत्र में सक्रिय होने का आह्वान कर रही है। उन दिनों भी कलकत्ता अविराम कोलाहल का शहर हुआ करता था और यहां रहकर हृदय में अजीब तरह की विकलता और अरुचि का बोध होता रहता था। रवीन्द्रनाथ प्रकृति और धरती के कहीं निकट रहना चाहते थे। वे अपने कार्य के लिए शांति चाहते थे और लेखक एवं अध्ययन की घड़ियों के बीच के अवकाश में पर्याप्त सक्रिय बने रहना चाहते थे। इसके लिए शांतिनिकेतन से बेहतर जगह और कौन-सी हो सकती थी ? उनके पिता ने वहां एक भवन बनवा रखा था और बाद में एक मंदिर का निर्माण भी कराया था—जिसमें न तो कोई प्रतिमा थी और न ही वेदी और जहां किसी खास तरह के कर्मकांड या पूजा-विधि का कोई ताम-झाम भी नहीं था।

वर्ष 1889 में रवीन्द्रनाथ अपनी पत्नी और पांच संतानों—जिनमें तीन बेटियां और दो बेटे थे—को साथ लेकर सिलाइदह, जहां उनकी जमींदारी थी—चले आए थे। बच्चों की पढ़ाई का भार भी स्वयं ले रखा था। हालांकि उन्होंने अपने बड़े बेटे के लिए एक अंग्रेज शिक्षक की भी व्यवस्था कर रखी थी लेकिन बच्चों की पढ़ाई का सारा दायित्व एक तरह से उन पर ही था। अपनी बाल्यावस्था में गलत शिक्षण-पद्धति की वजह से उन्हें जिन असुविधाओं को झेलना पड़ा था—उस बारे में उन्होंने बहुत सोच-विचार किया था और शिक्षण के आधारभूत उपादानों पर समय समय पर लिखा भी था। इस बीच उन्हें नयी अंतदृष्टि प्राप्त हो चुकी थी जिससे कि वे अपने सिद्धांतों को कार्य-व्यवहार में परिणत कर सकें। लेकिन उनके लिए अपनी संतान को किसी अफरातफरी में पढ़ाना-लिखाना ही महत्वपूर्ण

नहीं था, जरूरत इस बात की थी कि वे जो कुछ सोचते रहे हैं उन्हें बड़े पैमाने पर व्यवस्थित प्रयोगों द्वारा लागू किया जाए। और इसके लिए उनका शांतिनिकेतन जाकर वहां एक छोटा-सा प्रयोगात्मक विद्यालय आरंभ करना क्या उचित नहीं होता? उनकी कल्पना में पहले से ही तपोवन या अरण्य आश्रम की आदर्शीकृत छवियां थीं--जहां मनीषी ऋषि-मुनिगण अपने शिष्यों को साथ रखते थे और उन्हें सादा जीवन तथा उच्च विचार का पाठ पढ़ाया करते थे। इस तरह उन्होंने प्राचीन आदर्श को पुनर्जीवित किया और इस शिक्षा की प्राणहीन तथा मशीनी प्रणाली को—जिसे ब्रिटिश शासकों ने अपने विक्टोरियन बस्तियों से आयातित किया था--नए और रचनात्मक स्वरूप में रखा--जिससे कि पढ़ाई और जानकारी--दोनों ही रुचिकर प्रतीत हों। उन्हें उस प्राचीन ऊर्जा को आधुनिक या अर्वाचीन चौखटे में रखना था, नए सांचे में पुराने आकार को गढ़ना था।

केवल पांच विद्यार्थियों के साथ 22 दिसंबर 1901 को उन्होंने शांतिनिकेतन में अपने विद्यालय की स्थापना की। इनमें से एक तो उनका ही सबसे बड़ा पुत्र था और उनके साथ कुछ शिक्षक भी थे। उन्होंने प्राचीन अरण्य आश्रमों की तरह इसका नाम ब्रह्मचर्य आश्रम रखा। परंपरागत हिंदू इस अपावन उपक्रम से सचमुच बहुत कुढ़ गए होंगे क्योंकि इन पांच शिक्षकों में से तीन ईसाई थे– और एक अंग्रेज था– उनके पुत्रों का पूर्व शिक्षक। लेकिन रवीन्द्रनाथ का हमेशा से यही तरीका रहा-- परंपरा की कुछ अपने ढंग की और अलग व्याख्या और मृतकों का अपनी ही शर्तों पर सम्मान। और इसके लिए उन्हें भारी कीमत चुकानी पड़ी क्योंकि इस कार्य में उन्हें किसी का समर्थन प्राप्त नहीं हुआ– न तो उन पुरातन पंथियों का, जो उन्हें एक असंगत प्रवर्तनकारी के तौर पर टेढ़ी नजर से देखते रहे थे– और न ही उग्र सुधारवादियों का जो अतीत का राग अलापने के लिए उनसे सर्वथा अलग-थलग पड़ गए थे। इसलिए उन्हें अपने ही पांव पर खड़ा होना पड़ा। एक कवि के रूप में तो यह एक एक आदर्श स्थिति थी लेकिन एक समाज-सुधारक के रूप में बेहद असुविधा पैदा करने वाली क्योंकि उन्हें अपनी संस्था के लिए जन और धन दोनों की जरूरत थी। लेकिन उनके प्रशंसक और हितैषी अब इस बात पर विश्वास करने लगे थे कि यह विद्यालय एक कवि की सनक ही सही लेकिन अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में है। अपने विद्यालय के लिए समुचित राशि और बड़ी संख्या में छात्र जुटा पाना उनके लिए कठिन हो गया था। और इसके खर्च को पूरा करने के लिए उन्हें पुरी स्थित अपना एक मकान और निजी पुस्तकालय का एक हिस्सा तक बेच देना पड़ा। उनका उत्साह बढ़ाने के लिए उनकी पत्नी ने बड़ी शालीनता से अपने जेवर तक बेच दिए।

लेकिन यह विद्यालय, किसी भी तरह कवि रवीन्द्रनाथ की सनक का परिणाम नहीं था। यह उनकी नयी साधना थी– अपने लोगों की भलाई के लिए रचनात्मक संघर्ष का साधन था। यह उनका एक ऐसा महाकाव्य था—जिस पर वे जीवन की अंतिम घड़ी तक

कार्य करते रहे और जो उनके विकास के साथ साथ निरंतर विकसित होता हुआ भी अधूरा ही रह गया। यह निस्संदेह कवि का स्वप्न था कि और नहीं तो स्वयं कवि किसी अजन्मे फूल के खिलने की सूचना एक संदेहशील दुनिया को देता है। अब इस विरोधाभास की व्याख्या भला कौन कर सकता है कि झंझावातों से भरे अपने सर्वाधिक कृतित्वपूर्ण और रचानत्मक दशकों के दौरान—जब कि उन्होंने अपने लिए उस महानगर में एक अप्रतिम संस्था की आधारशिला खुद अपने हाथों रखी थी और यहां तक कि उनके कट्टर विरोधी भी, अनिच्छा से ही सही, उनकी सराहना करने लगे थे। रवीन्द्रनाथ ने अब एक नया अध्यवसाय अपना लिया था— शिक्षक का, जिसे भारत की तिरस्कृत प्रजातियों में से एक समझा जाता था—और वह भी बंगाल के एक बंजर प्रदेश के एक कोने में। लेकिन उन्होंने जान-बूझकर ऐसा किया था और नितांत सादगी भरे जीवन की कठिनाइयों को प्राथमिकता दी थी (तब शांतिनिकेतन के पास ऐसा कुछ नहीं था जिसका कि सभ्य समाज आदी था) और कलकत्ता का ऐश्वर्यपूर्ण अभिजात समाज जिसका यहां उल्लेख करना ही काफी है—उसकी अपेक्षा यह बहुत ही सहज था— और इसकी जरूरत को महसूस करते हुए कि—नया अध्यवसाय किसी विशिष्ट लक्ष्य के स्वभाव का अंग था, कोई खेल नहीं।

रवीन्द्रनाथ उन समस्याओं से बड़ी गहराई से जूझते रहे थे जो लोगों के कल्याण से संबद्ध हों। इन समस्याओं में सबसे अधिक जिस समस्या ने उनका ध्यान आकर्षित किया—वह थी शिक्षा; जिसने किशोर पीढ़ी के मानसिक विकास को अवरुद्ध कर उसे कुंद बना डाला था। रवीन्द्रनाथ उन लोगों में से ऐसे पहले व्यक्ति थे— जिनको इसकी सीमाओं और दिखावों की सीधी जानकारी थी। उन्हें यह गलत जान पड़ा कि एक बच्चे को उसकी मातृभाषा में पूरी स्वतंत्रता से और प्रसन्नता से, अभिव्यक्त करने की बजाय उसे बचपन से ही किसी विदेशी भाषा के मुहावरे की जटिलता पर अधिकार जमाने को बाध्य किया जाता है और इस तरह उसके कोमल और अविकसित मस्तिष्क के सारे स्रोत विदेशी बैसाखियों पर अपने संतुलन को बनाए रखने में ही समाप्त हो जाते हैं। इस दौरान वह अपने अंगों का समुचित उपयोग करना भूल जाता है। और इस तरह रवीन्द्रनाथ अपने उन स्कूली दिनों को नहीं भूले, "जब हम बच्चों को अचल बनाकर किसी संग्रहालय के नमूने की तरह मुर्दा बिठा दिया जाता था और हम पर पाठों के गोले बरसाए जाते थे—ठीक वैसे ही जैसे फूलों पर ओले।"

उनका मानना था कि बालक का मस्तिष्क अपने परिवेश के प्रति असाधारण रूप से सजग होता है और वह उसे ऐंद्रिक अनुभवों द्वारा ग्रहण करता है। अपने मस्तिष्क से सीखने के पूर्व वह इन अनुभवों को अपने इंद्रियों से आत्मसात करना सीख चुका होता है। इसलिए उसे एक ऐसा वातावरण प्रदान किया जाना चाहिए जो उसकी जिज्ञासा को उत्प्रेरित करे ताकि उसे अपने चारों ओर की दुनिया सहज और आनंदपूर्ण लगे। उसे इस

बात के लिए भी उत्साहित किया जाना चाहिए कि वह अपना काम स्वयं करे और जहां तक संभव हो शिक्षक पर उसकी निर्भरता कम हो। इसलिए जहां तक हो सके उसे कला का शिक्षण प्रदान किया जाना चाहिए। ताकि बालक अपने वातावरण को समझ सके और उसे प्यार कर सके; इसके पहले कि उसके दिमाग पर पहरा बिठा दिया जाए। वह अपने समस्त अंग-प्रत्यंग के कार्य और संवेदनों को समझ सके और इस तरह महात्मा गांधी का बुनियादी सिद्धांत—जिसे बाद में भारत में बुनियादी शिक्षा के नाम से जाना गया—के बहुत पूर्व शांतिनिकेतन में इसे विकसित किया गया था।

रवीन्द्रनाथ के अनुसार, प्रकृति ही सर्वश्रेष्ठ शिक्षक है। इसलिए यहां की कक्षाएं खुली जगह में, पेड़ों के नीचे लगाई जाती थीं और छात्रों को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाता था कि वे प्रकृति का—इसकी बदलती मनोदशाओं और अवस्थाओं का अवलोकन-अध्ययन करें और उससे प्रेम करें। इसी तरह विज्ञान के अध्ययन में वह गहरी रुचि रखते थे। वह चाहते थे कि विज्ञान की समझ प्रकृति के अध्ययन और संवेदनापरक शिक्षा से उद्भूत हो जो बालक के जिज्ञासा-बोध और रुझान को विकसित कर सके। रवीन्द्रनाथ का यह भी कहना था कि संगीत और ललित कलाओं के शिक्षण का बालक की भावनाओं और संवेदनाओं पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। एक संपूर्ण मनुष्य के निर्माण में ही शिक्षा की सार्थकता है ताकि वह बुद्धि के साथ साथ अनुभूतियों और संवेदनाओं को उद्दीप्त कर सके। "मनुष्य अपनी संपूर्णता में", जैसा कि रवीन्द्रनाथ का कहना है, "वह अपनी व्यक्ति-सत्ता में संकीर्ण नहीं है बल्कि अपने समुदाय के साथ परिपूर्ण होता है।" और इसीलिए उनके विद्यालय में व्यक्तिगत अंतःप्रेरणा और स्वावलंबन के साथ साथ समुदाय सेवा पर भी उतना ही जोर दिया गया।

शिक्षा किसी बहिरागत पौद की किस्म नहीं कि उसे किसी ताप घर या कांचघर में उगाया जाए। अगर जमीन में इसकी जड़ें गहरी नहीं समातीं और इसे नैसर्गिक वातावरण नहीं मिलता तो लोगों के लिए समग्रतया इसका कोई खास महत्व नहीं है। यह एक दुखद और अपमानजनक बात थी। उस पीढ़ी के बुद्धिजीवी और उनमें से कुछ आज भी अपने विचार और कार्य-पद्धति भर के ही लिए नहीं, अपनी भावनाओं और संवेदनाओं तक को विदेशों से आयातित करते रहे और इस तरह रवीन्द्रनाथ के इस आरोप को न्यायसंगत बताते रहे कि "हमारे देश की शैक्षणिक संस्थाएं मात्र ज्ञान का भिक्षापात्र हैं और ये हमारे राष्ट्रीय आत्म-सम्मान का सिर नीचा करती हैं और हमें इस बात के लिए उत्साहित करती हैं कि हम उधार लिए गए पंखों का मूर्खतापूर्ण और आडंबरपूर्ण प्रदर्शन कर सकें।" जीवन कभी अनुकरण नहीं हो सकता, यह समन्वित करता है और इसीलिए रवीन्द्रनाथ ने अपने लोगों को चेतावनी भरे स्वर में कहा, "अगर सारी दुनिया आगे बढ़ते बढ़ते अतिरंजित पश्चिम की तरह ही हो जाए तो फिर ऐसी फूहड़ नकल वाले आधुनिक युग की छद्मता अपने आप

समाप्त हो जाएगी, यह अपनी ही विमूर्तता के नीचे दम तोड़ देगी।"

रवीन्द्रनाथ के शैक्षणिक आदर्श के यही मुख्य सिद्धांत थे, जिन्हें उन्होंने अपने सीमित संसाधनों एवं स्रोतों से विनियोजित करने का प्रयत्न किया और वह भी बड़ी ही साधारण शुरुआत के साथ। ऐसा नहीं था कि अपने विद्यालय की स्थापना के बाद, उन्होंने अपनी सहायता के बाद इसे चलते रहने को छोड़ दिया बल्कि इसके लिए उन्होंने अपने आपको उच्चतर लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए व्यस्त बनाए रखा। वे आराम कुर्सी पर आराम फरमाने और आदर्श बघारने वाले व्यक्ति नहीं थे। हालांकि उन्हें देखकर लोगों को ऐसा आभास होता था। उन्हें जिस चीज पर विश्वास था, उसका उन्होंने स्वयं अभ्यास किया—उसमें अपनी सारी ऊर्जा ही नहीं उंडेल दी बल्कि अपना हृदय भी सौंप दिया। उन्होंने न केवल विद्यालय-आश्रम की दिनचर्या का ही निरीक्षण किया बल्कि यहां की तमाम गतिविधियों में भाग लेते हुए बालकों को पढ़ाया भी। उन्होंने बच्चों को भरपूर स्नेह दिया, उनसे भरपूर प्यार पाया और वे उन्हें पढ़ाना बहुत पसंद करते थे। उनको इस बात पर विश्वास था कि प्रत्येक बालक ईश्वर का कोई संदेश लाता है और इसीलिए भी कि वह उससे अब तक निराश नहीं हुआ। यह देखकर कि बंग्ला में समुचित प्रवशिका और पाठ्य-पुस्तकें उपलब्ध नहीं हैं, उन्होंने स्वयं ऐसी किताबें लिखीं और अपने सहयोगियों को भी ऐसा करने को कहा। कवि जितनी हाड़ तोड़ मेहनत कर सकते थे—उतना गा भी सकते थे।

9

एकाकी तीर्थयात्री

... मेरा जीवन सहज और सरल करो।
सरकंडे की बंशी की तरह, जिसमें तुम्हारा संगीत पुरा हो।

अपने नए उपासक की निष्ठा और क्षमता की परख के लिए ही मानो, ईश्वर ने रवीन्द्रनाथ को भेजा था, जैसा कि उसने 'ओल्ड टेस्टामेंट' में अपने सेवक को यह दायित्व सौंपा था और जिसे एक एक कर कई शोक और कष्ट झेलने पड़े। शांतिनिकेतन में, अपना नया घर पाने के कुछ ही दिनों के अंदर रवीन्द्रनाथ की पत्नी मृणालिनी देवी गंभीर रूप से बीमार पड़ीं। उन्हें कलकत्ता ले जाया गया और जहां 23 नवंबर 1902 को उनका निधन हो गया। इस महिला ने पूरे बीस वर्ष तक, आत्मगोपन लेकिन पूरी गरिमा के साथ, कभी त्योरी चढ़ाये बिना संपूर्ण निष्ठा से कवि की देखभाल की थी और वह उनके पांच बच्चों की जननी थीं। एक युवती होने के साथ और अभिजात समाज में रहते हुए भी, वह साधारण कपड़े पहनती थीं और उनकी देह पर नाममात्र के ही आभूषण होते थे। इसका कारण था कि उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से अपने पति के आदर्शों को अपना लिया था। केवल अपने बच्चों को बेहतर कपड़े पहनाए जाने के मौके पर ही वह बुदबुदाया करती थीं। वह अधिक समय तक अनपढ़ भी नहीं रहीं। उन्होंने कुछ ही समय में न केवल अपनी भाषा में योग्यता प्राप्त कर ली बल्कि अंग्रेजी और संस्कृत में भी दक्ष हो गईं। अपने पति की प्रेरणा से उन्होंने मूल संस्कृत में लिखित रामायण का बंग्ला में संक्षिप्त रूपांतर किया था। उन्होंने रवीन्द्रनाथ लिखित 'राजा ओ रानी' नाटक में अभिनय भी किया था और अपनी भूमिका को बड़ी कुशलता से जीवंत कर दिया था। और इस बात में कोई आश्चर्य नहीं कि उन्होंने अपने पति के हृदय को अंततः जीत लिया था और पति ने भी अपने प्रेम को जताने का भरपूर जतन किया था जब वह रोग-शय्या पर थीं। किसी पेशेवर नर्स को बहाल न कर उन्होंने लगातार दो महीने तक रात और दिन उनकी सेवा की। उन दिनों बिजली के पंखे नहीं हुआ करते थे और उनके समकालीन साक्ष्यकारों ने इस बात को दर्ज करते हुए बताया है कि हर घड़ी कैसे उनके सिरहाने उपस्थित रवीन्द्रनाथ हाथ में पंखा लिए हुए लगातार धीरे धीरे झलते

रहे थे। जिस रात को उनका निधन हुआ, वे पूरी रात अपनी छत की बारादरी के ऊपर नीचे घूमते रहे और उन्होंने सबसे कह रखा था कि उन्हें कोई परेशान न करे।

और जैसा कि सामान्यतया होता आया था, अपनी कविताओं में उन्होंने अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त किया। ये सभी सत्ताइस कविताएं एक छोटी-सी पुस्तिका में प्रकाशित हुईं—जो अपनी कोमलता की गहन और मार्मिकता-पूर्ण सरलता के नाते उल्लेखनीय हैं।

> ''मेरी रजनी दुख की शय्या पर बीत गई
> और मेरी आंखें अब थम चुकी हैं।''

वे इसके पहले ही, उन्होंने जो अनगिनत उपहार कवि को दिए थे उन्हें वह लौटा सकें, विदा हो गई थीं। और अब वे इतना ही कह सकते थे कि वे इन्हें प्रभु को अर्पित कर दें, जो उनके लिए रख छोड़े गए थे—

> ''उनकी रजनी को प्रभात मिल गया है
> और तुमने उसे अपनी बांहों में ले लिया है,
> मैं तुम्हारे प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूं
> और वे उपहार लौटा रहा हूं—जो उसके लिए संजोए थे।''

रवीन्द्रनाथ अर्ध-विक्षिप्त होकर घर के कोने कोने में उन्हें ढूंढ़ते फिरते थे लेकिन अंततः उन्हें यह ज्ञात हो गया कि इस धरती पर अब वे कभी भी उन्हें पा न सकेंगे—

> ''मेरा घर छोटा है और जो एक बार चला जाता है
> वह फिर कभी प्राप्त नहीं होता।
> लेकिन प्रभु तुम्हारा प्रासाद तो अनंत है
> और उसे ढूंढ़ता हुआ मैं तुम्हारे द्वार तक आ पहुंचा हूं।''

कवि को पत्नी के सामानों में वे पत्र भी प्राप्त हुए, जो उन्हें संबोधित कर लिखे गए थे और जिसे दुर्लभ खजाने की तरह बड़े जतन से सहेज कर रखा गया। इसे पाकर वे भावातुर हो उठे थे। वे प्रार्थना करने लगे थे कि उसकी स्मृति उनके जीवन को व्यवस्थित करे जैसा कि उसने अपने जीवन-काल में घर को व्यवस्थित कर रखा था। कविताओं का यह संग्रह 'स्मरण' शीर्षक से एक वर्ष बाद प्रकाशित हुआ।

प्रच्छन्न शोक प्रकट या अभिव्यक्त शोक की अपेक्षा अधिक प्रबल होता है। कुछ पाठक साधारण तौर पर यह शंका कर सकते हैं कि बालकों के लिए निर्दोष प्रसन्नता से ओतप्रोत ये कविताएं घोर अवसाद और क्षोभ के दौरान लिखी गई थीं। पत्नी की मृत्यु के कुछ महीने बाद ही, रवीन्द्रनाथ की दूसरी बेटी रेणुका बुरी तरह बीमार पड़ी। डाक्टरों द्वारा आबोहवा

बदलने के लिए उसे किसी पर्वतीय स्थान पर जाने की सलाह दी गई। रवीन्द्रनाथ रेणुका के साथ, अपनी अन्य दो मातृहीन संतानों, मीरा और शमीन्द्र को भी पहले हजारीबाग और फिर हिमालय स्थित अल्मोड़ा ले गए। उन्हें केवल अपनी बीमार बेटी की सुश्रूषा ही नहीं करनी थी बल्कि अपने उन दो अबोध बालकों की देखभाल करते हुए उनका जी भी बहलाना था, जो कि मां के अभाव में, अब पूरी तरह उन पर आश्रित थे। उनकी खुशी के लिए उन्हें अपना दुख और अवसाद छिपाना पड़ता और उनकी नन्हीं नन्हीं रुचियों में भाग लेते हुए उनकी बकझक भी सुननी पड़ती। और इस तरह लिखी गई उनकी कविताएं 'शिशु' संकलन में प्रकाशित हुई। प्रसिद्ध चेक विद्वान प्रो. लेसनी ने इनके बारे में अपना अभिमत इन शब्दों में व्यक्त किया, "बच्चों के बारे में लिखी गई ये कविताएं विश्व साहित्य में अप्रतिम स्थान रखती हैं।" इनमें से बहुत-सी कविताएं बाद में अंग्रेजी में अनूदित हुईं और 'द क्रेसेंट मून' में संकलित की गईं।

रवीन्द्रनाथ की कविताओं से अलग, बल्कि यह कहना चाहिए कि आज तक बालकों की जुबान पर अगर सबसे उत्कृष्ट कोई चीज विद्यमान है तो वह है—उनके गान—जो कि बच्चों के प्रति रवीन्द्रनाथ के गहरे लगाव के द्योतक हैं। बच्चों के मनमौजी स्वभाव को समझने के साथ साथ ये उनके प्रवृत्तिगत रुझान के प्रति भी उनके विश्वास को व्यक्त करते हैं। ये गान 'शैशव में स्वर्ग बसता है'—कुछ ऐसी ही झांकी प्रस्तुत करते हैं—

"गोताखोर मोती पाने को गोता लगाते हैं
सौदागर अपने बेड़े खेते हैं
जबकि बच्चे कंकड़ चुन-चुनकर बिखेर देते हैं।
अनंत विश्व के समुद्री किनारों पर
शिशुओं की महासभा आयोजित की है।"

अपनी मां के निधन के नौ महीने के बाद 1903 के सितंबर माह में, केवल तेरह वर्ष की आयु में रेणुका की मृत्यु हो गई। यह अकाल परिपक्व झक्की और असामान्य लड़की अपने पिता की बड़ी चहेती बेटी थी। उनके चले जाने का पिता को बड़ा दुख हुआ। हालांकि उन्होंने अपने शोक को अभिव्यक्त नहीं किया। स्वयं को काम में व्यस्त बनाए रखा और अपने साहित्य-पत्र 'बंगदर्शन' के पन्ने रंगते रहे। और यह सचमुच हैरान करनेवाली बात है कि इसी अवधि में अपने साहित्य पत्र के पन्नों पर धारावाहिक उपन्यास लिखते रहे—'नौका डूबी' यह उनका एक ऐसा उपन्यास था जो उनके पाठकों के विशुद्ध मनोरंजन के लिए लिखा गया था। इसकी कथा बड़ी ही सीधी-सादी थी। इसमें किसी तरह का दर्शन नहीं बघारा गया था और किसी तरह के अभिजात्य और रचना के अंत में विन्यस्त त्रासदी से अलग अंग्रेजी में इसका 'द ब्रेक' शीर्षक से अनुवाद भी हुआ। यह कहानी गलत पहचान

से जुड़ी दुविधा पर आधारित थी जिसके फलस्वरूप दो पत्नियों की परस्पर अदला बदली हो जाती है। बड़े सहज ढंग से कही गई यह कहानी प्रकृति चित्रण की असाधारण रमणीयता को भी प्रस्तुत करती है।

अपनी पुत्री रेणुका की मृत्यु के चार माह के बाद, कवि को दूसरा गंभीर शोक झेलना पड़ा। एक युवा और होनहार कवि सतीश राय अचानक चेचक से चल बसा। रवीन्द्रनाथ उसे अपने पुत्र की तरह प्यार करते थे। वह उन्हीं की तरह एक आदर्शवादी और शांतिनिकेतन की अध्यापक-मंडली का सदस्य था और आनेवाले वर्षों में वह उनका दायां हाथ भी सिद्ध होता। कुछ दिनों के लिए पूरे विद्यालय को इस महामारी के भय से सिलाईदह स्थानांतरित करना पड़ा। इसके कुछ समय बाद ही, रवीन्द्रनाथ के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ, 19 जनवरी 1905 को 88 वर्ष की आयु में चल बसे। इस विशिष्ट और शिखर पुरुष के व्यक्तित्व की छाप भारतीय इतिहास के इस महत्वपूर्ण युग–धार्मिक और सांस्कृतिक पुनरुत्थान, बौद्धिक और नैतिक मनीषियों के युग पर पड़ी थी–जिन्होंने भारत के राजनैतिक अभ्युत्थान का पथ प्रशस्त किया। इसके बाद से गांधी और रवीन्द्रनाथ के महान स्वप्नों के बावजूद भारतीय परिदृश्य पर नैतिक या बौद्धिक आदर्श की अपेक्षा राजनैतिक उद्देश्यों का सर्वस्व बना रहा।

भारत के तत्कालीन वायसराय तेज दिमाग लार्ड कर्जन ने अपने राजकाज के अंतिम वर्षों में कुछ ऐसे निर्णय लिए जिससे लोगों में उत्तेजना ही नहीं बल्कि चुनौती का भाव भी जगा। 1905 में बंग-विभाजन की घोषणा में भारत के दो प्रमुख धार्मिक समुदायों के बीच एक ऐसी दरार पड़ने की शुरुआत हुई–जिसका परिणाम इसके बयालिस वर्षों के बाद, दंगों और आतंक की ऐसी विभीषिका में दिख पड़ता है। यह भारतीय इतिहास की एक अनहोनी घटना थी।

रवीन्द्रनाथ ने इस बारे में पहले ही लोगों को सावधान कर दिया था। इस मामले में अब वे अकेले ही पूरी तरह मैदान में डट गए थे। देश के इस विभाजन के विरुद्ध उत्तेजक भाषण देते उनके देशभक्तिपूर्ण गीतों को गाने की धृष्टता के अपराध में छात्रों को कालेजों से निकाला जाने लगा। ऐसे छात्रों को शिक्षा प्रदान करने के लिए रवीन्द्रनाथ और कुछ अन्य शिक्षाविद एकजुट हुए और उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा योजना को लागू करने के लिए एक परिषद का गठन किया और सुपरिचित दार्शनिक और योगी श्री अरविन्द इसके प्रथम प्राचार्य बने। यह वही परिषद थी, जिसमें सुप्रसिद्ध व्याख्यान माला के अंतर्गत रवीन्द्रनाथ ने साहित्य के सिद्धांतों पर कई व्याख्यान दिए, जो बाद में 'साहित्य' में प्रकाशित हुए। उन्होंने इस बात की आशा की थी कि विदेशी शासन के विरुद्ध लोगों के असंतोष को नेतृत्व देकर वे लोगों के राष्ट्र की स्वतंत्रता के प्रति इस नवीन उत्साह को राष्ट्रीय पुनर्गठन के सक्रिय कार्यक्रम के साथ जोड़ पाएंगे। उन्होंने अपने महत्वपूर्ण व्याख्यानों एवं निबंधों की शृंखला

द्वारा ऐसे कार्यक्रम की परिकल्पना और रूपरेखा बनाई थी जिसमें उन्होंने प्रायः समस्त आधारभूत सिद्धांतों की पूर्व कल्पना की थी और जो बाद में महात्मा गांधी के नेतृत्व में अहिंसा और असहयोग के रूप में राष्ट्रव्यापी जन क्रांति में परिणत हो गई।

लेकिन रवीन्द्रनाथ गांधी नहीं थे। उनमें महात्मा की तरह अथक धैर्य और दृढ़ आग्रह, निश्चल निर्णय और अविचलित आकांक्षा, रणनीति का कौशल और नेतृत्व की अपराजेय प्रतिभा न थी। रवीन्द्रनाथ थोड़े समय के लिए इस आंधी को अपनी तेजस्विता प्रदान करते रहे लेकिन जैसे ही इसने अपरिहार्य आंदोलन का प्रचंड रूप धारण कर लिया वे एक उदास लेकिन चतुर व्यक्ति की तरह युद्ध के मैदान से विदा हो गए। उस संघर्ष को, जिसे उन्होंने एक नायक की तरह प्रेरित किया था, बीच में ही छोड़ देने के लिए उनकी भरपूर आलोचना की गई, लेकिन हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि रवीन्द्रनाथ को अपनी सीमाओं का ज्ञान था और इसीलिए उन्होंने बड़ी बुद्धिमानी से इस तरह के कार्यकलापों से स्वयं को अलग कर लिया, जिन्हें मार्ग निर्देश देने में वे अक्षम थे। इसलिए रवीन्द्रनाथ लोगों की अवमानना से विचलित नहीं हुए और अपने निर्णय पर डटे रहे। यह भी एक तरह का वीरोचित कार्य था। यद्यपि उनके देशभक्तिपूर्ण गान राष्ट्रीय आंदोलन को आंदोलित करते रहे, जबकि उनके ये गान अनिवार्य तौर पर किसी प्रकार की उद्धत राष्ट्रवादिता या कोरी भावुकतापूर्ण बयानों से मुक्त थे। एक अर्थ में एजरा पाउंड द्वारा बाद में कही गई यह बात एकदम सही थी कि रवीन्द्रनाथ ने बंगाल का एक राष्ट्र के रूप में गायन किया।

युद्ध के मैदान से रवीन्द्रनाथ की यह वापसी राजनैतिक आंदोलन के लिए कोई क्षति हो या न हो लेकिन शांतिनिकेतन और साहित्य के लिए अवश्य ही उपलब्धि थी। सामाजिक और राष्ट्रीय समस्याओं के अलावा शिक्षा, साहित्य, समालोचना, लोक साहित्य, शक्ति और व्यंजना के दर्शन पर बहुत बड़ी संख्या में निबंध लिखने के साथ साथ उन्होंने कई हास्यपरक और व्यंग्यपूर्ण रेखाचित्र भी लिखे। इसके साथ ही उन्होंने अपनी कविताओं का एक विशिष्ट संकलन तैयार किया जो 1906 में 'खेया' (नदी के पार) शीर्षक से प्रकाशित हुआ। यह प्रतीकात्मक शीर्षक कवि की मनोदशा की उत्कट अपेक्षा का द्योतक है, और नदी के उस पार ले जाने के लिए किसी मांझी की प्रतीक्षा से जुड़ा है। कवि को निकट अतीत में जो विषाद और विफलताएं झेलनी पड़ती थीं इसने उनकी सहन शक्ति को इस्पाती दृढ़ता प्रदान की थी और उन्हें आगामी परिवर्तन के लिए तैयार किया था। इन गीतों (जिनमें से कुछ गान थे) में अधिकांशतया, स्वप्नधर्मा और प्रतीकात्मक हैं। इनमें से ग्यारह गीत बाद में उनकी अंग्रेजी 'गीतांजलि' तथा 'द गार्डनर', 'फ्रूट गैदरिंग' और 'लवर्स गिफ्ट एंड क्रॉसिंग' में सम्मिलित किए गए थे।

"बंदी, बताओ किसने तुम्हें इन अटूट जंजीरों में जकड़ रखा है?" बंदी ने उत्तर दिया —"स्वयं मैंने, मैंने ही इस जंजीर को बड़ी तन्मयता से गढ़ा है। यह सोचकर कि मेरी जंजीर

मेरे सिवा सारी दुनिया को बांधकर रखेगी। और इसलिए मैंने इस पर इतनी मेहनत की, रात-दिन, लोहे को आग में तपाकर इसे निहाई पर पीट-पीट कर। जब यह जंजीर तैयार हो गई तो, मैंने पाया मैं स्वयं इसकी कड़ियों में जकड़ कर रह गया हूं।"

कवि ने, एक स्थान पर स्वयं को एक भिखारिन के रूप में चित्रित किया है। एक दिन जब वह भीख मांगने निकलती है, एक राजकुमार उसके सामने आकर रुकता है और अपने हाथ पसार कर कहता है, "मुझे कुछ दो।" भिखारिन शर्म से गड़ जाती है। वह क्या दे उसे? वह अभागी पोटली में से तांबे का एक सिक्का निकालती है और उसकी हथेली पर रख देती है। जब वह घर लौटकर अपनी झोली खोलती है तो उसे अपने तांबे के सिक्के के बदले सोने का सिक्का मिलता है। उसे अब बड़ा पछतावा होता है कि मैंने अपना सर्वस्व क्यों नहीं सौंप दिया।

एक दूसरी कविता में, एक स्त्री का चित्र है जो गहन रात्रि में पति की प्रतीक्षा कर रही है। इस प्रतीक को रवीन्द्रनाथ ने बाद में अपने नाटक 'राजा' में विस्तार दिया जो कि अंग्रेजी में 'द किंग आव द डार्क चेम्बर' शीर्षक से प्रकाशित हुआ।

1907 का वर्ष आक्रोश और उपलब्धियों से भरा वर्ष था। सार्वजनिक जीवन में हताश होने के बाद ही, उनका व्यक्तिगत जीवन विषाद में डूबा रहा। कलकत्ता, शांतिनिकेतन या अन्य किसी भी स्थान पर उनकी चाहे जो भी व्यस्तताएं रही हों—उनकी कलम लगातार बेचैन बनी रही और इसका परिणाम यह हुआ कि कई तरह के विषयों पर अपने प्रमुख और धारावाहिक रूप से प्रकाशित उपन्यास 'गोरा' के अलावा उनके साहित्यिक निबंधों के चार खंड भी प्रकाशित हुए जो चार कोटियों में विभाजित थे—साहित्य (साहित्य और साहित्यिक मूल्य—सामान्य) प्राचीन साहित्य, लोक साहित्य (लोकधर्मी और जन साहित्य) और आधुनिक साहित्य। इनमें सचमुच बड़े विस्तार से विचार किया था। विश्लेषण और विवेचन बड़े गंभीर और सरस थे और शैली इतनी मोहक थी कि सारा-का-सारा लेखन साहित्य का उत्कृष्ट निदर्शन बन गया। रवीन्द्रनाथ पहले ऐसे भारतीय लेखक थे जिन्होंने भारतीय साहित्य के अंतर्गत शास्त्रीय से समकालीन, अभिजात से अशिष्ट समग्र परिदृश्य के अंतर्गत तथा इतने प्रशस्त स्तर पर मूल्यांकन और उनके गौरवपूर्ण स्थान का विवेचन—मूल्यांकन का बीड़ा उठाया। वह भारत के संभवतया पहले लोक अध्येता थे, जिन्होंने सदियों से उपेक्षा की धूल के नीचे पड़ी भारत के लोक साहित्य की अमूल्य थाती की पूरी संवेदनशीलता, उत्साह और अंतर्दृष्टि के साथ सराहना की।

नवंबर 1907 उनके पारिवारिक जीवन की शिखर त्रासदी का समय था जब उनका सबसे छोटा, सबसे प्यारा और प्रतिभाशाली बेटा शमीन्द्र—जो कमोबेश अपने पिता जैसा ही था, केवल तेरह साल की उम्र में हैजे से ठीक उसी दिन चल बसा जिस दिन पांच साल पहले उसकी मां चल बसी थी। इन पिछले पांच तूफानी सालों में रवीन्द्रनाथ ने जितना

कुछ झेला था—उससे वे अपने पारिवारिक जीवन से बुरी तरह ऊब गए थे। उन्होंने अपनी पत्नी और दो बच्चों को खोया था। जीवित तीन संतानों में से सबसे बड़ी बेटी अपने पति के साथ, बंगाल के बाहर रह रही थी, सबसे बड़ा बेटा पिछले साल ही संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में कृषि विज्ञान में प्रशिक्षण के लिए भेजा गया था। तीसरी बेटी मीरा कुछ महीने पहले ही ब्याही गई थी। अपने सबसे छोटे बेटे के निधन से रवीन्द्रनाथ एकदम अकेले पड़ गए। उनके लिए यह अकेलापन भीड़ में ठीक वैसा ही त्रासदायी होता था जैसा कि सिलाईदह में अपने एकांत विश्राम के दौरान। और विषाद की यह भारी छाया, जो उनके हृदय पर पड़ी थी, उनके हाव-भाव में भी अभिव्यक्त होती थी। हालांकि उन्होंने यह सीख रखा था कि अपने शोक के गंदले जल में अपनी कला साधना को दूषित नहीं करना है। उनकी पद्य रचनाएं जो कि उच्चतर प्रेम का माध्यम बनकर समस्त बाह्य आवरणों से मुक्त हो, क्रमशः ईश्वर के प्रति अधिक समर्पित होती चली गईं।

रवीन्द्रनाथ अपने लोगों के बीच कभी, बहुत अधिक लोकप्रिय नहीं रहे। इसकी वजह यह थी कि वे प्रचलित पूर्वग्रहों और कुप्रवृत्तियों से बहुत ऊपर और अपने समय से बहुत आगे थे। हालांकि उनकी साहित्यिक प्रतिभा का लोहा सभी मानते थे लेकिन दुर्भावनापूर्ण और सीमित स्वीकृति के चलते ऐसा भी कहा जाता है कि बहुत से रूढ़िवादी और शुद्धतावादी काफी लंबे अरसे तक स्कूली विद्यार्थियों के सामने उनके पदांश रखकर उनसे कहा करते कि इसे साधु (परिनिष्ठित) बंग्ला में लिखो : भले ही आज वह सब उपहासपूर्ण और अनुचित जान पड़े लेकिन वर्ष 1914 में (नोबेल पुरस्कार प्राप्त होने के कुछ समय बाद तक) भी कलकत्ता विश्वविद्यालय की मैट्रिक परीक्षा में, अनिवार्य बंग्ला संरचना के परीक्षा-पत्र में रवीन्द्रनाथ लिखित एक पदांश था—जिसमें परीक्षार्थियों से यह पूछा गया था कि "इसे प्रांजल और शुद्ध बंग्ला में लिखो।" उनके जीवनकाल में वे तब लोकप्रियता के शिखर पर जा पहुंचे थे—जब उन्होंने बंगाल विभाजन के विरुद्ध जन आंदोलन का नेतृत्व किया था। लेकिन यह प्रसिद्धि थोड़े ही दिनों तक रही और अब उन्हें इस बात के लिए दोष दिया जा रहा था कि उन्होंने अपने लोगों को अपमानित किया है और इसीलिए हमेशा के लिए उतने लोकप्रिय नहीं हो पाए। उन प्रशासकों और अधिकारियों से भी उन्होंने अपने आपको अलग कर लिया था जिन्होंने सरकारी कर्मचारियों और सेवकों को गुप्त ज्ञापन भेजकर उनके विद्यालय में अपने बच्चों को दाखिला न लेने की मनाही का आदेश जारी किया था। यही नहीं, उन्हें राजनैतिक गुप्तचर समझा गया और उन पर निगरानी रखी जाती थी। और इस प्रकार बाह्य परिस्थितियों के साथ साथ आंतरिक अनिवार्यता के सामने, अपने आंतरिक संसाधनों पर ही वे पूरी तरह निर्भर अकेले खड़े रहे—अपने परमात्मा के संवाद कायम रखते हुए। इस काल में लिखित उनकी धार्मिक कविताएं जो 'गीतांजलि' और 'गीतिमाल्य' में प्रकाशित हुईं—आवेगपूर्ण समर्पण और बेहद सादगी से भरी थीं। इनमें जैसे उनके हृदय

का रक्त ही निचुड़कर अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गया था। महान और श्रेष्ठ संतों और रहस्यवादियों की तरह उनकी धार्मिक अंतर्दृष्टि भी अनुभवजन्य विषाद और एकांत से उत्पन्न हुई थी।

इस गहन धार्मिक अंतर्दृष्टि के बारे में सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि इसने धरती और इसके जीवन के प्रति उनके प्रेम को अनुदार नहीं बल्कि इससे उसे समृद्ध बनाया। उन्होंने आत्मा के अंतरंग क्षणों में ही नहीं बल्कि बाह्य जगत में उसकी लीला के प्रत्येक रूपांतरण में उसकी उपस्थिति की कामना की। अपने ही घर में खो गए बेटे को उन्होंने शांतिनिकेतन के हर एक बालक के बीच दोबारा पा लिया था। ऐसा उन्होंने कैसे संभव कर दिखाया--यह 1908 में लिखे उनके एक बाल नाटक 'शारदोत्सव' से पता चलता है। यह नाटक एक निर्दोष आनंद का दीर्घ उत्सव है, जीवन की खुशियों का अक्षय स्रोत--जो अब भी स्कूली बच्चों में बेहद लोकप्रिय है जिनके लिए इसकी रचना की गई थी। रवीन्द्रनाथ के अन्य नाटकों की तरह यह नाटक भी खुले मंच पर अभिनीत किया जाता रहा है--क्योंकि प्रकृति इन नाटकों की पृष्ठभूमि मात्र नहीं है बल्कि वह भी एक सक्रिय पात्र के रूप में विद्यमान रहती है। और जैसा कि लिखा भी गया है और एडवर्ड थाम्पसन ने एमर्सन के विद्वतापूर्ण शब्दों में गीत और नृत्य की प्रतीकात्मक व्याख्या के बारे में बिल्कुल सही कहा था--"मुझे और एक दिन के लिए स्वास्थ्य दे दो फिर देखना मैं सम्राटों की तड़क-भड़क को बेतुका साबित कर दूंगा।"

इस रचना के ठीक बाद जो नाटक आया वह था 'प्रायश्चित', जो अपनी विषयवस्तु और मनोदशा में अपने पिछले नाटकों से सर्वथा अलग था। गद्य में लिखित यह नाटक गीतों से संगुफित था। यह भावनाओं का नहीं बल्कि कार्यकलापों से पूर्ण कलह और आपसी रंजिश तथा स्वार्थों के टकराव से भरा नाटक है, हालांकि इसमें विचार और नैतिक मूल्यों पर बड़ा जोर है--जो कि रवीन्द्र के सभी नाटकों में होते हैं। वस्तुतया यह उनके सबसे आरंभिक उपन्यास 'बऊ-ठाकुरानीर हाट' (बहू ठकुरानी का हाट) का नाट्य-रूपांतरण है--जिसमें एक उल्लेखनीय पात्र महात्मा गांधी के प्रतिरूप में पुनर्प्रस्तुत है, जो अन्यायी शासक के बर्बर कार्यों का जनता द्वारा दिए जाने वाले उत्तर के रूप में प्रतीत हुआ, जो उन पर राजनीति के रणक्षेत्र से भाग खड़े होने का आरोप लगाते रहे थे। यह कोई पलायन नहीं था, यह एक तरह का आत्म त्याग था। एक ऐसा उत्साह जो कि इस नाटक के अंतिम दृश्य में बहुत ही मार्मिक और प्रभावी ढंग से चित्रित हुआ है।

कवि रवीन्द्रनाथ इस समय अपने नाटक लेखन के दौर की परिपक्व अवस्था में थे और उनके लिए यह अनिवार्य ही था कि वह अपने जीवन के तीव्रतर अनुभव तथा दिव्य सत्य के साथ अपने साहसपूर्ण परिचय को नाटक में रूपांतरित करें। उन्होंने अपने प्रभु को देखा था और उन्हें अपने विषाद में पाया था और सत्य का सौंदर्य केवल सौंदर्य या

अच्छाई में ही होता है या वह कुरूपता और भयावह में भी होता है। आत्मा का परमात्मा के साथ क्या संबंध है? हमें सत्य तक अपनी शर्तों के साथ पहुंचना चाहिए या कि उसकी शर्तों पर। ये कुछ ऐसे प्रश्न थे जिनका उत्तर पाने के लिए कवि ने अपने सर्वाधिक प्रतीकात्मक और एक दृष्टि से सबसे उल्लेखनीय नाटक 'राजा' (अंग्रेजी में, 'द किंग आफ द डार्क चेम्बर') लिखा। इस दार्शनिक रूपक कथा के बाद 1911 में ही अन्य दो नाटक भी जल्दी ही लिखे गए—जिनका प्रकाशन एक वर्ष बाद हुआ। ये एक-दूसरे से बहुत अलग और पिछले नाटकों से काफी अलग थे। इन नाटकों का केंद्रीय पात्र एक किशोर बालक है।

रवीन्द्रनाथ का 'डाकघर' जो अंग्रेजी में 'द पोस्ट आफिस' शीर्षक से अनूदित हुआ उनके अन्य नाटकों में संभवतया सबसे अधिक लोकप्रिय था। यह लंदन में, आयरिश रंगकर्मियों द्वारा 1913 में बड़ी सफलता के साथ खेला गया। इस अवसर पर मौजूद वाई. बी. येट्स ने प्रस्तुति के बारे में कहा, "मंच पर इस छोटे-से नाटक ने यह दिखा दिया है कि इसका गठन बड़ी सूझबूझ के साथ हुआ है और यह योग्य प्रेक्षकों में सहिष्णुता और शांति का भाव संचालित करता है।" इसी नाटक का जर्मन रूपांतरण, जिसका मंचन कवि ने स्वयं 1929 में, बर्लिन में देखा था, एक परीकथा के तौर पर संकेतित था। इसके बारे में सी.एफ. एंड्रयूज को लिखते हुए उन्होंने बताया, "मुझे याद है कि जब मैं इसे लिख रहा था, मेरी आत्मिक अनुभूति इसे लिखने को प्रेरित करती रही थी। अमल एक ऐसा पात्र है, जिसकी आत्मा ने मुक्त पथ का आह्वान सुना है।" और जो सुदूर जाने के आग्रही हैं, उनके लिए रवीन्द्रनाथ की पूर्व कविताओं की कविता पंक्ति उद्धृत की जा सकती हैं। जहां कहीं भी इसमें गहनतर प्रतीकात्मकता है, यह नाटक लेखक की अपनी स्मृतियों में रूपांतरित हो जाता है जिसमें कवि एक बालक रखवालों से घिरे अपने बंदीगृह से मुक्त हो, उड़ना चाहता है।

रवीन्द्रनाथ का दूसरा नाटक 'अचलायतन' (जो अचल हो) अब तक अंग्रेजी में प्रकाशित नहीं हुआ है और अनुवाद की दृष्टि से सचमुच बहुत कठिन है। यह नाटक हिंदू-समाज की आत्म-मुग्धता, आत्मशंसा और अपरिवर्तनशील हठधर्मिता पर जीवंत व्यंग्य है और इसमें इसकी रूढ़िवादिता पर सुदीर्घ और निर्मम उपहास किया गया है। इस नाटक का केंद्रीय पात्र पंचक नाम का एक छोटा-सा लड़का है। उसका बड़ा भाई, जो कि कट्टरता का स्तंभ है उसे एक मठवादी परंपरा यानी 'अचलायतन' में दीक्षित करता है जो कि आदेश अनुपालन का दुर्ग है—ऊंची प्राचीरों से घिरा और सारी दुनिया से अलग-थलग। असहाय बालक जो अदम्य जिज्ञासा और उल्लास से भरा-पूरा है—अपने साथियों द्वारा झक्की और बेवकूफ समझा जाता है और गाने की आदत के चलते उनसे झिड़कियां भी खाता रहता है। "गाने में ऐसा क्या रखा है? चिड़ियां भी गाना गा सकती हैं।" वह अपना काम-धाम छोड़कर नीची जातवालों के साथ हमेशा हंसता-खेलता-गाता रहता है और उनके भोले-भाले खेलों और उत्सवों में

भाग लेता रहता है। अंत में महापुरोहित आ धमकते हैं, जिनसे कि सारे संन्यासी और बड़े-बुजुर्ग लोग भय खाते हैं और जिन्हें अब तक किसी ने नहीं देखा था। वे इस अचलायतन के विरुद्ध समाज के निचले तबके और पद दलित जाति के लोगों को नेतृत्व देते हैं, जिसकी दीवारें जमीन पर ढहा दी गई हैं। तब से लेकर आज तक समय-चक्र में बड़ा भारी बदलाव आया है और रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने आज से छह-सात दशक पहले जो बात की थी वह इतनी सामान्य और स्वयंसिद्ध जान पड़ती है कि आज की पीढ़ी उनके उस ऋण से अनभिज्ञ है कि एक ऐसा भी आदमी था, जो दूरदृष्टि संपन्न था और उसकी कथनी और करनी में कोई अंतर नहीं था। यहां तक कि इसके लिए उसने अपनी लोकप्रियता को भी दांव पर लगा दिया।

लेकिन रवीन्द्रनाथ न तो जोनाथन स्विफ्ट की तरह थे जो कटुता बढ़ाने की अपेक्षा अपने अनुयायियों के कम होते जाने की बात को पसंद करता था और न ही एक उतावले क्रांतिकारी थे जो पुरानी व्यवस्था को बदलने की अपने बेसब्री में बुरे के साथ अच्छे को भी कुचलता रहे। वह अपने देश और इसकी धरोहरों को उसकी सारी परंपरागत रूढ़ियों के तिरस्कार के बावजूद बहुत अधिक चाहते थे, प्राचीन और नवीन--इन दोनों की रक्षा करते हुए वे कितने निष्ठावान थे--इसका उदाहरण उनका एक उपन्यास 'गोरा' है, जो उसी दौरान लिखा और प्रकाशित हुआ। बहुत-से लोग इसे उनकी सर्वश्रेष्ठ कथाकृति मानते हैं। यह मात्र एक औपन्यासिक कृति ही नहीं--यह एक महाकाव्यात्मक कृति थी जिसमें आधुनिक भारत के इतिहास की संक्रांति का चित्रण था, जबकि नए बुद्धिजीवी वर्ग के लोग सामाजिक और बौद्धिक जागरण के इस महान मंथन कार्य में लगे हुए थे। ऐसी कोई दूसरी कृति नहीं है जो इतने उत्कृष्ट ढंग से, विरोधाभास से भरपूर भारत के सामाजिक जीवन की जटिलताओं का और इसके साथ ही भारतीय राष्ट्रवाद के चरित्र का विश्लेषण कर सके और जिसकी जड़ें एक ओर वर्धिष्णु हिंदूवाद में और दूसरी ओर जिसकी बांहें वैश्विक मानवतावाद की ओर फैली हों। और यह सब किसी उपन्यास से कम रोचक भी न हो। इसके पात्र बहुत ही सशक्त और अपने अपने प्रतिमानों में ही नहीं बल्कि अनोखेपन में भी स्पष्टता से पहचाने जा सकते हैं और यादगार बने रहते हैं। पात्रों के रूप में उनके अपने अंतःसंघर्ष और बाह्य संघर्ष--साथ रहते और आगे बढ़ते, गहरी अंतर्दृष्टि और सहानुभूति से चित्रित किए गए हैं, मात्र विडंबना के निर्वाह के लिए नहीं। इसी कृति में ध्रुवीकृत प्रचुरवाद--विवाद के बावजूद जो कि विषयवस्तु की दृष्टि से एक तरह से अपरिहार्य था, लेखक ने मुख्य आख्यान के सूत्र को शिथिल नहीं किया है और जिसकी रोचकता अंत तक बनी रहती है।

यहां इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि यह उपन्यास कैसे लिखा जा सका। ऐसा कहा जाता है, कि इसका प्रमुख पात्र गोरा, जिसके नाम पर इस उपन्यास का शीर्षक

रखा गया है, सिस्टर निवेदिता के व्यक्तित्व से अनुप्रेरित था। निवेदिता, एक आइरिश महिला (पूर्वनाम मार्गरेट नोबेल) थीं, जो नव-हिंदूवाद के प्रखर पुरोधा स्वामी विवेकानंद की शिष्या बन गई थीं। जो पाठक उनकी रचनाओं को पढ़ चुके हैं–वे यह जानते हैं कि वह हिंदू मतवाद की कैसी प्रखर प्रवक्ता थीं। रवीन्द्रनाथ निवेदिता को बहुत पसंद करते थे और निष्ठा तथा उत्साह के लिए उनकी सराहना किया करते थे। वह हिंदुओं के मुकाबले कहीं कट्टर हिंदू थीं और रवीन्द्रनाथ अक्सर मुस्कुराते रहे होंगे जब वह हिंदुत्व पर उन्हें उपदेश देती रहती होंगी। एक बार जब वह उनकी जागीर सिलाईदह में ठहरी हुई थीं, वे अक्सर शाम के समय नदी किनारे, उनके बजरे पर बैठे रहते और तब उन्होंने रवीन्द्रनाथ से कहानी सुनाने का अनुरोध किया होगा। और इस तरह 'गोरा' की कहानी सुनाने का क्रम आरंभ हुआ होगा, जो बाद में लिपिबद्ध हुआ।

गोरा एक परित्यक्त अनाथ बालक है, जिसके माता पिता 1857 के सिपाही विद्रोह में मारे जा चुके हैं। एक दयालु ब्राह्मण महिला उस बालक को उठाकर अपने घर ले आती है और पाल पोसकर बड़ा करती है। गोरा, यथानाम गोरा-चिट्टा, लंबा, खूबसूरत, भरी-पूरी सेहतवाला एक स्वाभिमानी और उत्साही युवक है। हिंदू कट्टरवाद के परम विश्वासी और जातिप्रथा के प्रबल उन्नायक के रूप में वह सामने आता है। अपनी इस धर्मयात्रा में–कि उसकी जिस पर आस्था है वही सत्य है और वह दैव-अनुमोदित है–वह अपना सबसे अंतरंग और सच्चा मित्र खो बैठता है और उस लड़की को ठुकरा देता है जो उसे प्यार करती रही और जिसे वह भी जी-जान से चाहता रहा। अचानक इस कथानक के चरम बिंदु की उल्टी परिणति तब होती है जब यह पता चलता है कि गोरा में विदेशी रक्त है और अब वह अपनी ही आस्था की कसौटी पर एक म्लेच्छ है, जात-बाहर है। अब उसके लिए कट्टर हिंदू समाज में कहीं भी कोई जगह नहीं है, जिसका वह स्वयं घोर समर्थक था। यह आत्मबोध उसकी चेतना को झकझोरता रहता है और तब अपने राष्ट्र के गौरव के महत्व को समझ पाता है। "आज मैं सचमुच एक भारतीय हूं। मेरे मन में अब हिंदू, मुसलमान और ईसाई तीनों के लिए कोई विरोध नहीं है। आज भारत की प्रत्येक जाति मेरी जाति है, सबका आहार मेरा आहार है।"

अपने देश के इतिहास और नियति की सही समझ–जिसे उसने अपने जीवन का नायक बनाया था, इस उपन्यास के अंत में वह सीधे रवीन्द्रनाथ के भारत के प्रति व्यक्त बहुत ही सुंदर उद्‌गार में स्वर मिलाकर गा उठता है, जो उन्होंने लगभग इसी समय लिखा था। इसे पूरी तरह उद्धृत कर पाना यहां संभव नहीं, लेकिन इसकी कुछ पंक्तियों से इसमें व्यक्त विचार का पता चल जाता है :

"हे मेरे अंतर, इस पुण्य तीर्थ में जगो
भारत के इस महासागर मानव तट पर।

कोई नहीं जानता किसके आह्वान पर
कितने लोगों की कितनी ही दुर्दमनीय धारा कहां से आई
और इस महासमुद्र में हुई विलीन
आर्य, अनार्य, द्राविड़, चीनी, शक, हूण, पठान, मुगल
सबके साथ हो गए एक देह में अंतर्लीन
आज पश्चिम ने खोला द्वार, जहां से लाए हैं उपहार
अब वे वापस नहीं लौटेंगे वे यहीं रहेंगे—लेंगे-देंगे, मिलेंगे परस्पर
भारत के इस महासागर मानव-तट पर।

आओ आर्य, आओ आर्येतर, आओ हिंदू-मुसलमान ईसाई
आओ अंग्रेज, आज हो सबका साथ
हे निर्मल मन ब्राह्मण आओ, सबके थाम लो हाथ
ओ पतित अभिशप्त जन, आओ तुम सब
अपने समस्त अपमान, ग्लानि-मय भार, दूर फेंककर
शीघ्र आओ मां के अभिषेक हेतु सबके योग्य स्पर्श से
पवित्र किए हुए तीर्थ जल से
यह पुण्य मंगल-कलश हुआ नहीं परिपूर्ण अब तक
भारत के इस महामानव तट पर।"

दो वर्ष बाद, उन्होंने इस विचार को अपने एक ओजस्वी शोधपत्र में विस्तार से लिखा और कलकत्ता में श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत किया। यह शोध निबंध बाद में 'भारतवर्षेर इतिहासेर धारा' (भारत के इतिहास की धारा) में प्रकाशित हुआ। उसी वर्ष उन्होंने इसी भावना को अपने उस प्रसिद्ध गीत में रखा, जो आज भारत का राष्ट्रगान है।

समस्त विषाद और अवसाद, शोक और आघात, संघर्ष और आत्म-ताप चाहे वह बाह्य जगत के हों या अंतर्मन के, जिनके बीच रवीन्द्रनाथ ने अपनी जीवन यात्रा एक आजाद और उन्मुक्त पंछी की तरह शुरू की थी—इस शताब्दी के आरंभिक दशक में लगातार सक्रिय बने रहे और अंततः पूरे संकल्प और उदात्तभाव के साथ, जो उनके पूर्ण और प्रांजल हृदय से 1909 और 1910 में लिखे गीतों में ढल गए और अगले वर्ष में 'गीतांजलि' में प्रकाशित हुए। इन 157 गीतों में से 51 बाद में अंग्रेजी में उनके द्वारा ही अनूदित किए गए और इसी नाम से छपी पुस्तक ने उन्हें सारे विश्व में प्रसिद्धि दिला दी। ये गीत इतने सुपरिचित हैं कि यहां इनका परिचय देने या व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। जो पाठक बंग्ला भाषा से परिचित हैं वही इस बात की साक्षी दे सकते हैं कि वे गाने सुनने में उतने ही मधुर हैं जितने कि पढ़ने में। इनकी भाषा बहुत ही साधारण है, भाव गंभीर हैं और विचार

उदात्त हैं। इन गीतों में से एक में कवि ने कहा भी है, "मेरी गीति-कविता ने अपने सारे साज-सिंगार उतार दिए हैं। उसे अपने परिधान और अलंकरण का गर्व नहीं है। ये आवरण हमारे मिलन में बाधक हैं–ये उनके और मेरे संयोग में बाधक हैं, उनकी झंकार में हमारी फुसफुसाहट डूब जाएगी।" परमात्मा का प्रेम और मानव का प्रेम विषाद में शक्ति और अपमान में एक निर्दोष आनंद है, जिसने सहस्रों विचारों को अपने में संजोये रखा है, जो एक साथ विश्वजनीन और शाश्वत है तथा जिनमें कोई संदेश है। इस संकलन की पहली कविता (मूल बंग्ला संस्करण) कवि की मनोदशा के मूल भाव को प्रकट करती है–"मैं अपनी उपलब्धि पर कभी नहीं इतराऊं। केवल तुम ही मेरे जीवन की परिपूर्णता बनकर आओ।" यह मूल भाव प्रेम ही है। कवि ईश्वर से प्रेम करता है क्योंकि वह सारी सृष्टि से प्रेम करता है और जब उसके विदा होने की घड़ी आ जाती है, उसके अंतिम शब्द उसके प्रति कृतज्ञता के ही होंगे–क्यांकि उसने इस धरती पर जो कुछ भी देखा वह सचमुच अप्रतिम था।

रवीन्द्रनाथ के जीवन के ये पचास वर्ष, जिनका एक चरण 1911 में समाप्त हुआ, बड़े ही समृद्ध और सफल रहे। यद्यपि वे इस बात से पूरी तरह अवगत थे कि उनके उत्कर्ष का एक प्रमुख पर्व समाप्त होने को है और अब पूरी तरह एक नए अध्याय का आरंभ होने को है। उन्होंने अपनी जीवन की स्मृतियों (जीवन-स्मृति) को लेखनीबद्ध करना शुरू किया–अपने बाल्यकाल से लेकर युवावस्था तक। बाद में उन्होंने इसे पूरा क्यों नहीं किया और अपने जीवन के सर्वाधिक नाटकीय वर्षों की छवियों को क्यों छोड़ दिया? यह बताना सचमुच मुश्किल है। उनकी ये स्मृतियां और घटनाओं की कोई पंजिका कालक्रमानुसार सूचीबद्ध भी नहीं हैं। इस बात को उन्होंने स्वयं इन शब्दों में रखा है, "जीवन की स्मृतियां जीवन का इतिहास नहीं होतीं, ये किसी कलाकार की मौलिक रचना हो सकती हैं।" यहां यह कलाकार संवेदनशील (प्रभाववादी) है और वह जो कुछ भी अपने मानस पटल पर चित्रित करता है वह उसे ही हू-ब-हू नहीं उतारता है जो कि सचमुच घटित हुआ था। "दोनों समानुरूप होते हुए भी एक नहीं होते।"

10

पश्चिम से साक्षात्कार

तुम सुदूर को ले आए कितने पास,
और एक अजनबी को बंधु बना लिया।

कई मोर्चों पर बारह वर्षों के अनवरत और अविराम् संघर्ष के फलस्वरूप बहुत अच्छे परिणाम आए थे। हालांकि इस तनाव ने रवीन्द्रनाथ के शरीर और मस्तिष्क दोनों पर बहुत गहरा प्रभाव डाला था। जिस गहरे तनाव से वह जूझते रहे उसका असर उनकी पचासवीं वर्षगांठ पर पड़ना ही था। रवीन्द्रनाथ बीमार पड़ गए और उनका उत्साह छीज गया। उसके पहले बिना किसी प्रयास के, अनायास दो बार विदेश की यात्रा उनके लिए सहायक और स्फूर्तिदायक रही थी। अब एक बार फिर वह चौराहे पर खड़े पश्चिम की तरफ बड़ी उत्कंठा से देख रहे थे। वे कभी भी पश्चिम विरोधी नहीं रहे और अपने सर्वाधिक राष्ट्रवादी तथा अतीतोन्मुख जीवन-पर्व में भी उन्होंने अपने देश की संस्कृति के साथ साथ बड़े उन्मुक्त भाव से पश्चिमी सभ्यता और मूल्य-व्यवस्था से प्रेरणा और पुष्टि प्राप्त की थी। उन्होंने इन सबको बड़े मुक्त भाव से ग्रहण किया था ताकि दोनों हाथों से वैभव लुटा सकें। यही वजह थी कि 1917 के आरंभ में वह तीसरी बार यूरोप-यात्रा की तैयारी में जुट गए।

इस बीच, बंगाल के बुद्धिजीवियों ने पूर्व में की गई अपनी त्रुटियों को सुधारते हुए, अपने महान कवि की पचासवीं वर्षगांठ का समारोह उनके जन्म स्थान पर मनाया और बंगाल की सर्वप्रमुख साहित्यिक संस्था बंगीय साहित्य परिषद के तत्वावधान में, 28 जनवरी 1912 को कलकत्ता के टाउनहाल में उनका सार्वजनिक सम्मान आयोजित किया। रवीन्द्रनाथ कलकत्ता से 19 मार्च को यूरोप की यात्रा पर निकलने वाले थे लेकिन ठीक इसके एक दिन पहले ज्वरग्रस्त हो गए और डाक्टरों ने उन्हें यात्रा पर जाने से मना कर दिया। उनका सामान जो पहले से ही समुद्री जहाज पर लादा जा चुका था, मद्रास बंदरगाह से, जहां कि जहाज का पड़ाव था; वापस कलकत्ता मंगवाया गया। अपनी यात्रा के असंभावित स्थगन से निराश रवीन्द्रनाथ खुद को दिलासा देने के लिए, अपनी पुरानी आदत के अनुसार कुछ दिनों के लिए अपनी प्रिय नदी पद्मा के किनारे बसे सिलाईदह चले आए। यहीं रहकर उन्होंने

पहली बार 'गीतांजलि' के कुछ गीतों का अंग्रेजी में अनुवाद किया। लेकिन इस पूरे प्रकरण को उनके ही शब्दों में (बंग्ला से अनूदित) सुनना कहीं बेहतर होगा।

उन्होंने अपनी भतीजी इन्दिरा को लंदन में लिखा था—"गीतांजलि के अंग्रेजी अनुवाद की ओर तुम्हारा संकेत है। मैं आज तक यह समझ नहीं पाया कि आखिरकार लोगों ने इसे इतना क्यों पसंद किया। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि मैं अंग्रेजी लिख नहीं सकता। और मुझमें इतना आत्मसम्मान भी नहीं था कि मैं इस बात के लिए अपने को शर्मिंदा महसूस करूं। अगर कोई आदमी मुझसे अंग्रेजी में एक पर्ची लिखकर मुझे चाय पीने की दावत दे तो मैं यह समझ नहीं पाता था कि मैं इसका जवाब कैसे दे पाऊंगा। तुम शायद समझती होगी कि अब तक मैं उस भ्रांति से उबर गया होऊंगा। लेकिन ऐसी बात नहीं है। बल्कि अंग्रेजी में लिखना ही मुझे भ्रांति में पड़ जाने जैसा लगा। उस दिन, जिस दिन मुझे जहाज पर चढ़ना था, अपनी छुट्टी की जुगाड़ में सिर पर पड़े काम को निबटाने की वजह से अचेत होकर गिर पड़ा था यहां तक कि मेरी यात्रा ही स्थगित हो गई। चूंकि मुझे आराम की जरूरत थी—इसलिए मैं सिलाईदह चला गया। लेकिन जब तक दिमाग पूरी तरह से सक्रिय न हो, कोई आदमी पूरी तरह से आराम का आनंद उठा नहीं सकता। और अपने दिमाग को शांत रखने के लिए मैं कोई हल्का-फुल्का काम ले लेना चाहता था...

"और इसीलिए मैंने 'गीतांजलि' की कविताओं को एक-के-बाद-एक अनुवाद करना शुरू कर दिया। तुम हैरान हो रही होगी कि अपनी कमजोर सेहत के बावजूद मुझ पर ऐसी कौन-सी सनक सवार थी कि मैं यह काम लेकर बैठ गया। लेकिन यह सच मानो कि मैंने कोई बैठे-ठाले या अक्खड़ उतावली में इस काम को पूरा करने की ठान ली थी। मैं तो सिर्फ इतना ही चाह रहा था कि मैं अपनी उन भावनाओं और अनुभवों को किसी दूसरी भाषा के माध्यम से प्रकट कर देखूं जो मेरे बीते हुए दिनों में, मेरे अंतर्मन में आनंद का ज्वार बनकर आए थे। मेरी वह छोटी-सी लेखन पुस्तिका धीरे धीरे भरती चली गई, जिसे मैं अपनी जेब में रखकर समुद्री जहाज पर सवार हुआ था।"

सिलाईदह में ही अपने जबरन स्वास्थ्य-लाभ के दौरान, रवीन्द्रनाथ ने कई गीतों की रचना की, जिनमें 'गीतांजलि' के भक्तिपूर्ण निवेदन की अनुरूप भावावस्था की समृद्ध परिणति देखी जा सकती थी। 'गीतांजलि' में कवि ने अपने प्रिय आराध्य को 'अंजुरीभर फूल' समर्पित किया था—'गीतांजलि' में उसने 'गीतों की माला' गूंथी थी। इनमें से सत्रह गीतों का अनुवाद रवीन्द्रनाथ ने किया था—जो बाद में उनकी अंग्रेजी : 'गीतांजलि' में संकलित हुए।

कवि के कुछ गीत जो अनूदित होने से रह गए थे, और अपनी स्थगित यूरोप-यात्रा के फलस्वरूप कवि में जो निराशा व्याप्त थी, वह कुछ अलग ढंग से कई रूपों में अभिव्यक्त हुई।

"मैं नदी के किनारे खिन्नता भरी उदासी के साथ/घंटों बैठा रहता हूं, उस नौका की प्रतीक्षा में जो अब तक लौटी नहीं/उधर पश्चिमी क्षितिज पर उस ऊंची इमारत के पीछे किसी सपने में डूबा आधा चांद/और मुझे प्रतीत होता है कि कहीं दूर से आती बंसी की टेर मुझे पुकार रही है।"

"आगे भी,
अब नौका को लहरों पर छोड़ देने का
हो चला है समय,
लेकिन किनारे पर प्रतीक्षा की विश्रांतिपूर्ण घड़ी
हो चुकी है असह्य।"

कवि अपनी उतावली को स्वयं सांत्वना देता है–

"मैं सारा श्रेय तुम्हें सौंप देता हूं इस विश्वास पर
कि तुम सारा दायित्व वहन करोगे,
अब चाहे जो भी होना है, होकर रहेगा
तो फिर काहे की बेमतलब आपाधापी।"

और फिर ऐसे ही भावों के बीच रवीन्द्रनाथ अपने अंतर्यामी के लिए गा उठते हैं–

"अब थम गई है सारी उत्तेजना
अब हमें एक दूसरे से कहना है जो भी कुछ कानों में कहें फुसफुसाकर
तुम और मैं
और मेरा अंतर रहस्य फूट पड़े गान बनकर।"

अंग्रेजी 'गीतांजलि' के संकलन के प्रथम गान में कवि कहता है–

"तुमने मुझे बना दिया है अनंत
तुम्हारा मिलन-आनंद ही कुछ ऐसा है
मेरी छोटी-सी-डोंगी को तुम बार-बार करते रहे रिक्त
और फिर अभिनव जीवन से भरते रहे।"

आखिरकार, 27 मई 1912 को रवीन्द्रनाथ लंदन के लिए अपने पुत्र रथीन्द्रनाथ और पुत्रवधू प्रतिभा के साथ रवाना हुए। यहां अंग्रेज चित्रकार सर विलियम रोथेन्स्टाइन का उल्लेख आवश्यक है जिन्होंने यूरोप में रवीन्द्रनाथ की प्रसिद्धि में सबसे बड़ी भूमिका निभाई। सन 1910 में वे भारत की यात्रा पर आए थे और अपने कलकत्ता प्रवास के दौरान उन्हें कलाकार भाइयों, अवनीन्द्रनाथ और गगनेन्द्रनाथ के बारे में जानकारी मिली थी। रोथेन्स्टाइन ने लिखा भी है, "मैं जितनी भी बार जोरासांको गया उतनी ही बार उनके चाचा को देखकर

अभिभूत होकर लौटा। सफेद धोती-कुरते और चादर में सुशोभित उनका भव्य आकर्षक व्यक्तित्व। वे बड़ी शांति से हमारी बातें सुना करते। मैं उनसे तत्काल प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। मैंने पहले उनसे अनुरोध किया कि क्या मैं उनका रेखाचित्र बना सकता हूं? दरअसल एक भव्य एवं सुदर्शन व्यक्तित्व के साथ साथ उनमें आंतरिक क्रांति भी थी—और मैंने अपनी पेंसिल से उनका वही रूप-सौंदर्य आंकने की कोशिश की। लेकिन उस समय मुझे यह किसी ने नहीं बताया था कि वे अपने समय के असाधारण लोगों में-से एक हैं।''

रवीन्द्रनाथ लंदन में तब शायद ही किसी को जानते थे। इसलिए जब वे वहां पहुंचे तो उन्होंने सबसे पहले रोथेन्स्टाइन को याद किया। उन्हें पता था कि रोथेन्स्टाइन की उनकी कविताओं में रुचि है इसलिए उन्होंने अपनी वह पुस्तिका उन्हें सौंप दी, जिसमें उन्होंने अपनी कविताएं अनूदित कर रखी थीं। रोथेन्स्टाइन आगे लिखते हैं, ''उसी शाम मैंने उनकी कविताएं पढ़ डालीं। मुझे पता लगा कि यही तो हैं—कुछ अलग ढंग की कविताएं, जैसी कि महान रहस्यवादियों ने लिखी हैं। इन कविताओं को मैंने एंड्रयूज ब्रैडले को पढ़ने के लिए दिया और वे मेरी बात से सहमत थे, और जैसा कि उन्होंने लिखा भी, 'ऐसा जान पड़ता है कि अंततः हमारे बीच कोई महान कवि विद्यमान है।' मैंने इसी आशय का एक पत्र येट्स को भी लिखा, लेकिन मुझे कोई उत्तर नहीं मिला। मैंने उन्हें दूसरा पत्र लिखा। उन्होंने मुझे कविताएं भेज देने को कहा। उन्होंने जब इन्हें पढ़ा तो वे भी मेरी ही तरह उत्साहित हो उठे। वे लंदन आए और उन्होंने सारी कविताओं को बड़े मनोयोग से पढ़ा। उन्होंने यहां-वहां अपने कुछ सुझाव भी दिए लेकिन मूल रचना को यथावत रहने दिया।''

येट्स ने इन कविताओं को पढ़कर क्या महसूस किया, यह उन्होंने इंडिया सोसायटी आफ लंदन द्वारा प्रकाशित 'गीतांजलि' के सीमित संख्यक संस्करण की भूमिका में स्वयं लिखा, ''मैं इन अनूदित कविताओं की पांडुलिपि कई दिनों तक अपने साथ रखे रहा। इसे मैं रेलवे-ट्रेनों, बसों की छतों पर और रेस्तरांओं में पढ़ता रहा। मैंने यह भी पाया कि मुझे इसमें इस कदर खोया देखकर कुछ अजनबी मेरे पास आते और हैरान रह जाते थे।''

येट्स द्वारा इन कविताओं की सराहना से रोथेन्स्टाइन उत्साही हुए और उन्होंने 30 जून की शाम को हैम्पस्टीड स्थित अपने आवास पर कुछ महत्वपूर्ण लेखक मित्रों को बुलाया जहां स्वयं उन्होंने अपनी पसंद की कविताएं पढ़ीं। रवीन्द्रनाथ यहीं पहली बार सी. एफ. एंड्रयूज से मिले जो बाद में, आजीवन उनके मित्र और सहयोगी बने रहे। एंड्रयूज, जो उस समय कैम्ब्रिज ब्रदरहुड की एक मिशनरी से जुड़े थे, उस यादगार शाम का आकलन करते हुए लिखते हैं, ''उस दिन मैं एच.डब्ल्यू. नेविन्सन के साथ हैम्पस्टीड की तरफ से वापस लौटा। लेकिन मैंने अधिक कुछ कहा नहीं। मैं अकेला रहना चाह रहा था और शांत रहकर उस भाव और रहस्य के उत्कर्ष पर मनन करना चाह रहा था। नेविन्सन को विदा करने के बाद जब मैं हीथ के पास पहुंचा, तब उस रात आसमान साफ था और शुभ्र आकाश

भारतीय परिवेश जैसा ही कुछ नीललोहित हो चला था। और तब मैं अकेला हैरानी से सिर्फ विचारों में खोया दोहरा रहा था–

"अ-छोर सृष्टि के सागर तट पर शिशु मिलते हैं,
अछोर सृष्टि के सागर तट पर शिशुओं का महामिलन।"
["On the seashore of endless worlds children meet
On the seashore of endless world is the great meeting of
children."]

'गीतांजलि' की कविताओं के प्रकाशन के बाद इसकी समीक्षा करते हुए एजरा पाउंड ने लिखा था–"इस बात को एक महीने से ज्यादा हो चुका है जब मैं मि. येट्स के कमरे में गया था। मैंने पाया कि वह किसी महान कवि के आगमन से बहुत उत्साहित हैं, वह जो हम समकालीनों में किसी से भी महान है। यह सचमुच कठिन है कि अपनी बात कहां से शुरू करूं... हमने अचानक अपना एक नया यूनान पा लिया है। ठीक वैसा ही जैसे कि संतुलन के तौर पर यूरोप में पुनर्जागरण के पहले के दिनों में देखा जा सकता था। इस तरह का भावबोध मेरे लिए एक तरह की संयत स्तब्धता या ठहराव जैसा प्रतीत होता है जो मशीनीकरण की तेज झनझनाहट के बीच महसूस किया जा सकता है। यह सब मैं किसी जल्दबाजी में या भावुकतावश नहीं कह रहा या कि किसी वक्तव्य को बहुत घुमा-फिराकर या कोई जुगत भिड़ाकर नहीं कह रहा हूं। ऐसा नहीं होता है कि ये कविताएं किसी तूफानी झोंके या दाह से पैदा हुई हैं बल्कि कवि की सहज मानसिक वृत्ति से रची गई हैं। यह प्रकृति के साथ इस तरह एकाकार हो गया है कि दोनों में कोई अवरोध नहीं रह गया है। और यहीं पश्चिमी अवधारणा के साथ उसका गहरा अंतर है, जहां बड़ी 'नाटकीय तैयारी' के साथ हमें यह दिखाया जाना जरूरी हो गया है कि मनुष्य प्रकृति पर विजय पाने की कोशिश कर रहा है। यह उस यूनानी मनुष्य के विपरीत है जिसमें मनुष्य को देवताओं का शिकार या खिलौना माना जाता रहा है और दोनों ही नियति के चंगुल में फंसे होते हैं... मैंने जब रवीन्द्रनाथ से विदा ली तो मुझे सचमुच ऐसा जान पड़ा कि अब भी हम उस तरह बर्बर हैं, पशुचर्म से देह को ढांके और हाथ में पत्थर का मुद्गर उठाए लड़ने को तैयार बैठे।

"संक्षेप में इतना ही कहूंगा कि मुझे ये कविताएं एक तरह के सहज बोध के उत्कर्ष से समृद्ध लगीं। मुझे लगता है किसी एक के बहाने दूसरी चालीस चीजों के चक्कर में पड़कर हमारा पश्चिमी जीवन अपने महानगरों के कोलाहल, उत्पादित साहित्य के कबाड़ और विज्ञापन के झंझावात में बुरी तरह संशयग्रस्त और दिग्भ्रमित पड़ा है। इस 'नए टेस्टामेंट' के प्रथम खंड में इसी तरह सामान्य बोध है और कुछ छंदों में वैसी ही प्रसन्नता है तभी ये इस योग्य भी हैं, कि इन्हें सामूहिक तौर पर हमारे लिए बिगाड़ दिया जाए। हालांकि

ऐसे मूर्खों की भी कमी नहीं है जो इन उपदेशों को गलत ढंग से प्रचारित करने में व्यस्त हैं। भले ही कुछ कृतियों में निहित उनकी व्याख्यात्मक विशेषताएं दिख जाएं, लेकिन जो लंदन के बिशप जान कॉल्विन के विचारों या फिर किसी पाखंडपूर्ण घृणित धारणाओं के दायरे में नहीं आते।

"अगर इन कविताओं में कोई त्रुटि है—मैं नहीं समझता कि ऐसी कोई बात है—और अगर इनमें कोई विशेषता है तो यह 'सामान्य पाठक' के लिए बहुत अनुकूल नहीं है क्योंकि ये बहुत ही धर्मनिष्ठ हैं। और मेरे पास उन पाठकों के लिए करुणा के सिवा और कुछ नहीं है, जो यह देख पाने में अक्षम है कि उनकी भक्ति वस्तुत: दांते की काव्यात्मक धर्मनिष्ठा ही है, और वह सचमुच बड़ी अच्छी बात है।"

रवीन्द्रनाथ, तब लंदन में नहीं थे, जब 'गीतांजलि' प्रकाशित हुई थी। हालांकि इस यात्रा के दौरान उनका इंग्लैंड-प्रवास कोई बहुत लंबा नहीं था। यह कोई चार महीने से ज्यादा चला लेकिन यह बहुत ही व्यस्त और सफल रहा। इस कार्य में रोथेन्स्टाइन को जितना धन्यवाद दिया जाए, कम है। साथ ही उसके दूसरे ब्रिटिश सहयोगी और मित्रों से भी रवीन्द्रनाथ को भरपूर सम्मान और सहयोग मिला। यह सारा कुछ ऐसा ही था जैसा कि रवीन्द्रनाथ ने इस संभावना के बारे में 'गीतांजलि' में लिख रखा था—

> "तुमने मुझे उनका सखा बना दिया, जो मेरे अपरिचित थे
> तुमने मुझे उन घरों में आसन प्रदान किए, जो मेरे नहीं थे।"

यहां वे जिन महत्वपूर्ण लोगों से मिले, उनमें से कुछ थे—बर्नार्ड शा, एच.जी. वेल्स, बर्ट्रेण्ड रसेल, जान गॉल्सवर्दी, राबर्ट ब्रिजेस, जान मैसफील्ड, स्टर्ज मूर, डब्ल्यू.एच. हडसन और स्टॉपफोड ब्रूक। रोथेन्स्टाइन लिखते हैं, "रवीन्द्रनाथ की गरिमा और अभिजात उपस्थिति, उनके सहज व्यवहार और उनकी प्रशांत मनीषा से वे सभी अभिभूत हुए जो उनसे मिलते थे।" वे स्वयं उनसे बहुत प्रभावित थे "और उन्होंने अपने नए मित्रों के साथ मिलकर और दृष्टि के विस्तार के साथ साथ विचारों की गत्यात्मकता प्राप्त की।" रवीन्द्रनाथ ने स्वयं लिखा है, "ऐसे लोग भारत में सिर्फ अंग्रेजी जानते हैं—अंग्रेजों को नहीं जानते।"

रोथेन्स्टाइन ने इंडिया सोसाइटी के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा कि वह अपने सदस्यों के लिए रवीन्द्रनाथ की कविताओं का एक संकलन प्रकाशित करे। येट्स इसकी भूमिका लिखने के लिए तैयार हो गए। इस तरह 'गीतांजलि' का पहली बार 750 प्रतियों वाला अंग्रेजी संस्करण प्रकाशित हुआ। यह मैकमिलन द्वारा प्रकाशित लोकप्रिय संस्करण से बहुत पहले छपा था। इसकी ग्रेट ब्रिटेन और भारत दोनों ही जगह काफी आलोचना भी हुई थी। इन आलोचकों को इस बात का विश्वास नहीं था कि रवीन्द्रनाथ इतनी अच्छी अंग्रेजी लिख सकते हैं और 'गीतांजलि' की सारी सफलता का श्रेय येट्स को दिया गया जिन्होंने इन

कविताओं को संशोधित किया था या उन्हें दोबारा लिखा था। इस बारे में अभी भी कुछ हलकों में यह गलत धारणा है और यह बताना आवश्यक जान पड़ता है कि इस बारे में स्वयं रोथेन्स्टाइन क्या कहते हैं क्योंकि इस मामले में उनसे अधिक और कौन जानता था? वस्तुतया येट्स को भेजे जाने के पूर्व उन्होंने न केवल मूल पांडुलिपि पढ़ी थी बल्कि येट्स द्वारा वापस की गई उक्त पांडुलिपि भी उनके पास और उनके परिवार के साथ रही। "मैं यह जानता हूं कि भारत में यह कहा जा रहा है कि येट्स के द्वारा रवीन्द्रनाथ की अंग्रेजी को सुधार दिए जाने के कारण ही 'गीतांजलि' इतनी सफल हुई। यह सर्वथा गलत है और इसे साबित किया जा सकता है। अंग्रेजी और बंग्ला गीतांजलि की मूल प्रतियां मेरे पास पड़ी हैं। येट्स ने यहां-वहां सुधार के सुझाव भर दिए हैं लेकिन मूल पाठ वैसा ही छपा है जैसा कि रवीन्द्रनाथ ने अपने हाथ से लिखा था।"

अक्तूबर 1912 में रवीन्द्रनाथ यूनाइटेड स्टेट्स की यात्रा पर निकले। उनके साथ थे–उनके पुत्र रथीन्द्रनाथ और पुत्रवधू। उनके पुत्र ने अभी कुछ दिन पहले इलिनायस विश्वविद्यालय से स्नातक की उपाधि प्राप्त की थी और पिता से अनुरोध किया था कि वे कुछ महीने उरबाना में शांति से बिताएं। रवीन्द्रनाथ ने यहीं रहकर मूल रूप से अंग्रेजी में पहली बार गंभीर गद्य लेख लिखे जो बाद में हार्वर्ड विश्वविद्यालय में बतौर व्याख्यान पढ़े गए और 'साधना' शीर्षक से प्रकाशित हुए। अपने इन व्याख्यानों के बारे में उन्होंने अपने ही ढंग से कहा था, यह 'भारत की चिरंतन चेतना' है और जैसा कि इसकी वाणी और ऋषियों की वाग्मिता के उदाहरण से व्यक्त हुई है।

जब नवंबर 1912 में इंडिया सोसायटी द्वारा 'गीतांजलि' का संस्करण प्रकाशित हुआ तब रवीन्द्रनाथ इलिनायस में ही थे। कुल मिलाकर ब्रिटिश प्रेस द्वारा इस कृति का भरपूर स्वागत हुआ। इसके बारे में 'टाइम्स लिटरेरी सप्लिमेंट' ने लिखा "इन कविताओं को पढ़ते हुए किसी को भी यह महसूस हो सकता है कि ये किसी अपरिचित या अजनबी के मानस की उपज नहीं हैं बल्कि उसे यह जान पड़ेगा कि ये काव्य के पूर्वकथन हैं और इन्हें इंग्लैंड में भी लिखा जा सकता है; अगर हमारे कवि भावनाओं और विचारों में समुचित तालमेल बिठा सकें। हमने धर्म और दर्शन दोनों को ठुकरा दिया है। इसका नतीजा यह हुआ है कि हम दोनों से ही वंचित हो गए हैं।... शायद कुछ पाठक इस भारतीय कवि को स्वीकार नहीं कर पाएंगे क्योंकि प्रस्तुत दर्शन उनका दर्शन नहीं है। अगर हमें यह सब फंतासी और विदेशी जान पड़े और इसके पहले कि हम इनकी उपेक्षा करें–हमें खुद अपने आप से पूछना चाहिए कि आखिर हमारा क्या दर्शन है? हम अपने विचारों में काफी उलझे हुए हैं और हमारे पास ऐसा कुछ नहीं है जिसके बारे में हमारे कवि कुछ कह सकें।

वस्तुतया ये समीक्षक ऐसी स्थिति में नहीं थे जो यह अस्वीकार कर सकें कि वे इस भारतीय कवि के प्रभाव में नहीं हैं। इनमें से एक ने 'न्यू एज़' (लंदन से प्रकाशित) में लिखा

कि "हम लोगों में से कोई भी इस तरह की सामग्री यथा... लिख संकता है लेकिन हममें से किसी को भी यह सोचकर अपने आपको नहीं छलना चाहिए कि वही अच्छी अंग्रेजी लिख सकता है, श्रेष्ठ कविता की रचना कर सकता है, श्रेष्ठ विचार या श्रेष्ठ आचार प्रस्तुत कर सकता है।" कुछ समीक्षकों ने इस बात के लिए खुद अपनी पीठ ठोकते हुए कहा कि ब्रिटिश लोगों ने दूसरों को "सभ्य बनाने का जो दायित्व लिया था उसी की बदौलत भारतीय इतनी अच्छी चीज लिख पाते हैं। 'बरमिंघम पोस्ट' में एक समीक्षक ने लिखा, "श्री रवीन्द्रनाथ को विजय का श्रेय इस बात के लिए दिया जाना चाहिए कि यह अंग्रेजी साहित्य की एक विकसित प्रशाखा की ही शिखर परिणति है। और जिसकी महत्ता को अब तक संपूर्ण स्वीकृति नहीं मिली है।" कुल मिलाकर, ब्रिटिश प्रेस द्वारा 'गीतांजलि' का स्वागत, सामान्यतया उत्साहवर्धक था और जैसा कि स्वाभाविक था, रवीन्द्रनाथ इस बात से प्रसन्न थे।

रवीन्द्रनाथ के देश भारत में भी लोगों की प्रतिक्रिया मिली-जुली थी। बसंत कुमार राय, जो उन दिनों संयुक्त राज्य अमेरिका में थे--और जहां उन्होंने रवीन्द्रनाथ की जीवनी प्रकाशित की थी, यह बताते हैं कि संयुक्त राज्य में रह रहे बहुत से युवा बंगाली अंग्रेजी समीक्षा में किसी अंग्रेजी मिशनरी के इस वक्तव्य से क्षुब्ध हो उठे थे कि पिछली कई शताब्दियों से भारत में ऐसा कोई भी कवि और संगीतकार पैदा नहीं हुआ। इनमें से एक "ठेठ अमेरिकी अंदाज में चिल्ला उठा था, बकवास है।" कुछेक ने बंगाली कवियों में नवीन सेन और डी. एल. राय (द्विजेन्द्र लाल राय) को रवीन्द्रनाथ से कहीं बड़ा कवि करार दिया। उन्होंने आगे जोड़ा, "उनकी प्रेम कविताएं हमारे प्राचीन वैष्णव कवियों की दयनीय अनुकृतियां हैं, और उनका दर्शन उपनिषदों का दर्शन है। यूरोपीय और अमेरिकी लोग भले ही रवीन्द्रनाथ को अपने सिर आंखों पर बिठा लें, लेकिन हमारे लिए उनकी लेखनी में कोई नयी बात नहीं है।"

किसी भी मानदंड से, रवीन्द्रनाथ का नाम अब पूरे तौर पर अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं में छा गया था और उनकी प्रसिद्धि अटलांटिक महासागर पार जा पहुंची थी। जहां तक साधारण अमेरिकी नागरिकों की बात थी वे इस बात से बेखबर थे कि रवीन्द्रनाथ उनके ही देश उरबाना के किस कोने में प्रवास पर हैं लेकिन शैक्षिक एवं अन्य संस्थानों से उनके लिए ढेर सारे निमंत्रण आने लगे थे। इस बीच हैरिट मोनरो ने शिकागो मैगजिन 'पोइट्री' के दिसंबर अंक में 'गीतांजलि' की छह कविताएं प्रकाशित की थीं। यह संभवतया पश्चिम का पहला साहित्य-पत्र था--जिसमें उनकी कविताएं छपी थीं। इसके तुरंत बाद ही, शिकागो विश्वविद्यालय ने उन्हें अपने यहां व्याख्यान के लिए आमंत्रित किया। यह तब की बात है जब रवीन्द्रनाथ उरबाना में ही ठहरे हुए थे। बसंत कुमार राय ने रवीन्द्रनाथ से भेंट कर यह अनुरोध किया था कि वे अपनी रचनाओं का अधिकाधिक अनुवाद करें क्योंकि

उन्हें यह मालूम था कि तभी उनकी रचनाओं से लोग परिचित हो सकेंगे। उन्होंने कहा, "देर-सवेर आपको नोबेल पुरस्कार अवश्य प्राप्त होगा। न केवल भारत बल्कि एशिया के किसी भी साहित्यकार को अब तक यह सम्मान नहीं मिला।" रवीन्द्रनाथ ने तब बड़ी ही सहजता से उनसे पूछा था, "क्या किसी एशियावासी को इस पुरस्कार के योग्य समझा भी जाता है?"

उनका यह संदेह संभवतया इतना सहज भी नहीं था जब रवीन्द्रनाथ को नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ। कई पश्चिमी देशों में इस निर्णय के खिलाफ यहां वहां लहरें भी उठीं थीं कि किसी एशियावासी को यह पुरस्कार कैसे प्राप्त हो गया? एक अमेरिकी अखबार ने लिखा, "साहित्य के लिए किसी हिंदू को नोबेल पुरस्कार मिलना कॉकेशियन प्रजाति के लेखकों के लिए विषाद का कारण अवश्य ही बना है लेकिन उन्हें कोई आश्चर्य नहीं हुआ। हालांकि वह यह नहीं समझ पाया कि आखिरकार यह सम्मान उस व्यक्ति को कैसे मिल गया जो कि 'गोरी चमड़ी वाला' नहीं है।" टोरंटो, कनाडा के 'द ग्लोब' ने लिखा "पहली बार यह नोबेल पुरस्कार उस व्यक्ति को मिला है जिसे हम 'गोरा' नहीं कह सकते। हालांकि हमें इस बात को गले से उतारने में कुछ वक्त लगेगा कि एक आदमी, जिसका नाम रवीन्द्रनाथ ठाकुर है उसे साहित्य के लिए यह विश्व पुरस्कार मिल सकता है (क्या हमें यह नहीं बताया गया है कि पूरब और पश्चिम कभी नहीं मिल सकते।) यह नाम कानों को कुछ अजीब-सा लगता है। हमने पहली बार इसे मुद्रित रूप में देखा है और यह सच नहीं जान पड़ता है।" लास एंजेल्स के 'द टाइम्स' ने यह शिकायत की कि इस पुरस्कार के द्वारा यूरोप और अमेरिका के युवा और आधुनिक लेखकों की अनदेखी की गई है। "एक ऐसा हिंदू कवि--जिसके नाम का सही उच्चारण कुछ ही लोग कर सकते हैं, और ऐसे लेखक, भले ही जिन्होंने कम लिखा है अमेरिका में कहीं अधिक जाने जाते हैं और साथ ही, जिनका दावा इस विशिष्ट सम्मान के लिए कहीं अधिक रहा है--इस बात को कम ही लोग जान पाएंगे।"

जनवरी 1913 में रवीन्द्रनाथ शिकागो आए जहां उन्होंने 'प्राचीन भारतीय सभ्यता के आदर्श' और 'बुराई की समस्या' विषय पर भाषण दिए। शिकागो से वे रोचेस्टर पहुंचे जहां उन्होंने 'रेलिजस लिबरल्स' की सभा में भाग लिया और 'जाति विवाद' पर भाषण दिया। यहां से वे बोस्टन पहुंचे जहां उन्होंने कई व्याख्यान दिए और यह पूरी श्रृंखला बाद में 'साधना' में प्रकाशित हुई।

न्यूयार्क-भ्रमण के बाद अप्रैल 1913 में रवीन्द्रनाथ लंदन लौट आए जहां कैक्सटन हाल में उन्होंने एक व्याख्यान माला के अंतर्गत कई भाषण दिए। इस एक साल से भी कम समय में जब वे पिछली बार लंदन पहुंचे थे तो यहां एक अनजान और अपरिचित व्यक्ति ही थे। लेकिन अब उनका नाम लोगों में सनसनी और कौतूहल पैदा करने वाला था। उनका नाटक 'डाकघर' (पोस्ट ऑफिस) वहां अभिनीत हो रहा था और वर्ष के समाप्त

होने तक उनकी रचनाओं के तीन खंड प्रकाशित हो चुके थे। ये थे—'द गार्डनर', 'द क्रिसेंट मून' और नाटक 'चित्रा'। इनमें से किसी भी कृति को, किसी भी दृष्टिकोण से पवित्र या धार्मिक या कि दार्शनिक कोटि में रखा नहीं जा सकता था--इसलिए विदेशी पाठकों के लिए उनकी इन रचनाओं में कहीं बेहतर परिदृश्य था। लेकिन जैसा कि आमतौर पर होता है पहला प्रभाव कहीं अधिक प्रभविष्णु और स्थायी होता है इसलिए रवीन्द्रनाथ भी पश्चिम की दृष्टि में, आरंभ से ही एक धार्मिक और दार्शनिक कवि के रूप में स्वीकार कर लिए गए थे। उनका अपना प्रशस्त व्यक्तित्व और भव्य चाल-ढाल तथा प्राचीन आरण्यक ऋषियों के आदर्शों का अनवरत राग अलापते रहने के कारण भी—उनके सर्जक व्यक्तित्व के बारे में इस प्रकार की एकपक्षीय धारणा को पुष्ट करने में सहायता मिली। एज़रा पाउंड ने, जिन्होंने कवि के दोनों रूप देखे थे—उनकी भाव प्रतिमा को ठीक से समझने की कोशिश की थी—लेकिन उनकी आवाज अकेली पड़ गई। 'फ्री वूमेन' में 'द गार्डनर' की समीक्षा करते हुए उन्होंने लिखा था, "आखिर इस द्वीप के अच्छे लोग एक श्रेष्ठ कलाकार का सम्मान करने में अक्षम क्यों हो जाते हैं? और खुले तौर पर इस रूप में अपनी अक्षमता प्रकट करते हैं कि किसी बेहतर परिकल्पना के साथ उनका सम्मान करने की बजाय उनके जीवन को रूई की मुलायम तहों से लपेटकर, किसी पाखंडी और आदर्शवादी के पुतले के साथ जुलूस में शामिल हो जाते हैं। यह मेरे लिए एक ऐसी अनसुलझी पहेली है जो शायद सुलझेगी भी नहीं।"

सितंबर 1913 में, रवीन्द्रनाथ भारत के लिए रवाना हुए। उन्हें जहां सम्मान मिला था, वहीं उनका स्वास्थ्य पहले से बेहतर हो गया था। 13 नवंबर को जब 'गीतांजलि' के लिए उन्हें नोबेल पुरस्कार मिलने की घोषणा हुई तो वे शांतिनिकेतन में थे। यह खबर सचमुच बहुत चौंकानेवाली थी और सारे देश में खुशियां मनाई गईं। शांतिनिकेतन जैसे छोटे-से आश्रम के बालक, जिन्हें यह मालूम नहीं था कि नोबेल पुरस्कार किस चिड़िया का नाम है, खुशी से पागल हो उठे। उनके लिए इतना ही काफी था कि उनके श्रद्धेय गुरुदेव को सारे विश्व ने सम्मानित किया है। और स्वयं कवि को कैसा महसूस हो रहा था? इसमें कोई संदेह नहीं कि वे उल्लासित थे और गर्व तथा हर्ष का अनुभव कर रहे थे और सबसे बढ़कर इस बात के लिए प्रसन्न थे कि उनके साथ न्याय हुआ। उनका ऐसा अनुभव करना मानवोचित ही था। उनके अंदर बैठे देशभक्त ने भी विशेष प्रसन्नता का अनुभव किया क्योंकि उसके देश का नाम विश्व के साहित्यिक मानचित्र पर आ गया था और वह इस बात के लिए गर्वित थे कि यह उनके कारण संभव हो पाया था। लेकिन उसके अंदर बैठा एक संवेदनशील कवि इस बात से अनभिज्ञ न था कि एक कवि के रूप में छोटे छोटे बच्चों के शिक्षण और अपने प्रभु को निवेदित उसकी आराधना की शांत और अबाधित जीवनचर्या के दिन अब शेष होने ही वाले हैं।

पांच दिनों के बाद रवीन्द्रनाथ ने रोथेन्स्टाइन को पत्र लिखा : "यहां लोगों में उन्मादपूर्ण उत्तेजना का जैसा बवंडर है, उससे मैं सचमुच परेशान हो गया हूं। यह लगभग वैसा ही है जैसे कि किसी कुत्ते की पूंछ में एक खाली डिब्बा बांध दिया जाए और बिना कोई शोर मचाए या भीड़ इकट्ठा किए उसे भागने को कहा जाए। पिछले कई दिनों में मिले तारों और पत्रों से मैं बुरी तरह अट गया हूं और जिनका मेरे प्रति कभी दोस्ताना रवैया नहीं रहा—या कि जिन्होंने कभी मेरी एक भी पंक्ति नहीं पढ़ी—वे लोग भी आनंद के अतिरेक में चिल्ला रहे हैं। मैं बता नहीं सकता कि इन हंगामों से मैं कितना थक गया हूं और यह घोर मिथ्यात्व भी सचमुच हैरानी में डालने वाला है। सच तो यह है कि ये लोग किसी सम्मान का सम्मान कर रहे हैं, मेरा नहीं।"

रवीन्द्र के मानस में और उनके अंदर बैठे देशभक्त को यह बात बेचैन करनेवाली थी कि देश के अधिकांश लोग इस तरह की कोई अनुप्रेरणा चाहते थे जिससे कि उनकी भाषा और साहित्य के लिए उनकी सेवाओं को ठकुरसुहाती न समझा जाए और अनुरूप विदेशी स्वीकृति मिले। यह अवसादपूर्ण और कठोर विचार 23 नवंबर 1913 को तब सार्वजनिक तौर पर प्रकट हुआ जब कलकत्ता से विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत पांच सौ से अधिक विशिष्ट नागरिकों का एक सद्भावना-मंडल एक विशेष ट्रेन से पूरे धूमधाम के साथ कवि की संवर्धना के लिए शांतिनिकेतन पहुंचा। अपने दो टूक और काव्यात्मक शब्दों में कवि ने उनको बताया कि वे इस सम्मान को स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि यह सब एक तरह का छद्म हैं। उनके श्रोताओं में, जो हमेशा उनके समर्थक और प्रशंसक थे—समझ गए कि यह झिड़की किनके लिए है, लेकिन वे लोग जिनका सारा उत्साह ठंडा हो गया था—रवीन्द्रनाथ को कभी माफ नहीं कर सके और उनके लिए यह कवि का उत्तर या रवैया सचमुच 'अनुदार' था।

हालांकि उन्हें यह पुरस्कार एक नितांत व्यक्तिगत कृति के वैशिष्ट्य के लिए दिया गया था, जिसकी काव्यात्मक उत्कृष्टता और चरम आदर्श को वैश्विक स्वीकृति मिली थी, तो भी सच्चाई यह थी कि यह पुरस्कार किसी एशियाई को अलंकृत कर रहा था—जबकि ऐसे पुरस्कार सामान्य तौर पर इस उद्देश्य के लिए नहीं होते और उन्हें इस तरह प्रदान किया जाता है कि ये एक विशिष्ट अवसर की तरह प्रतीत हों। इस समाचार को हर जगह एक आश्चर्यजनक आघात के रूप में लिया गया और इसने रवीन्द्रनाथ को एक व्यक्ति से कहीं अधिक प्रतीक के रूप में बदल दिया—जिसे पश्चिम ने एशिया की जलमग्न संभावना और अपरिहार्य पुनरुत्थान के प्रतीक के रूप में अनिच्छापूर्वक ही सही, स्वीकार किया था। वस्तुतया रवीन्द्रनाथ ही पहले ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने कई रूपों में पश्चिम के बुद्धिजीवी विवेक को प्रभावित किया था और बड़ी तेजी से यह मुखरित हो चला था कि एशिया का 'मानस' जग गया है और अब जीवंत सत्ता के रूप में इसकी गणना करनी होगी—किसी

संग्रहालय में पड़े किसी रोचक नमूने के तौर पर नहीं।

दूसरी प्रतिक्रियाएं भी सामने आईं जो कि कई प्रकार के पूर्वाग्रहों से परिचालित थीं। निष्ठावान और आशावादी ईसाइयों ने रवीन्द्रनाथ की कविताओं में आगामी सूर्योदय का संकल्प देखा और उन्होंने कहा, ''इसका हमें बड़ी बेसब्री से इंतजार है।'' 'बेप्टिस्ट टाइम्स' ने लिखा, ''ईसाई अवधारणाओं के कुछेक लक्षणों का प्रभाव प्रतिनिधि हिंदू मानस में स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है। यहां भी, निश्चय ही, एक ऐसा व्यक्ति दिख रहा है हम अधीरता से जिसकी बाट जोह रहे थे''–जिसे परम प्रभु के रथ के आने के पूर्व उसके पथ को संवारने के लिए भेजा गया है। और हमें यह भी याद रखना चाहिए कि कवि का प्रत्येक शब्द लाखों प्रतीक्षारत लोगों की आकांक्षा के अनुरूप संयोजित है। क्या अब भी हम इस बात की पुष्टि नहीं कर सकते कि एक नवीन, 'द क्रिश्चियन इंडिया' हमारे द्वार पर पहले से ही खड़ा है। 'ऐसा कहने का साहस एक खुले दिमाग के डीन इंगे का था जिन्होंने अपने सहधर्मियों को यह याद दिलाया कि ''रवीन्द्रनाथ ईसाई नहीं हैं, लेकिन उनकी कृति यह बताती है कि एक समय ऐसा भी था जब कि ईसाईयत एशियाई धर्ममत था और यही मूल सिद्धांत (सुसमाचार) के प्रवर्तन का समय था। ऐसा बार बार प्रतीत होता है कि रवीन्द्रनाथ ईसाइयों से कहीं बेहतर ईसाई थे।'' और तब भी, जैसा कि हमेशा से होता आया है–सामान्यतया ऐसे चतुर लोग भी थे जिन्हें यह खुशफहमी रहती है कि–उनकी नजर से कुछ भी नहीं बचा है। इनमें से कुछ लोगों ने यह पाया कि इस पुरस्कार के पीछे कोई आला ब्रिटिश दिमाग है जो शाही साम्राज्य के वैभव को तूल देना चाहता था। कुछ दूसरे लोगों की कल्पना थी कि स्वीडेन की साहित्यिक मंडली, चूंकि जर्मन-समर्थक है इसलिए इसने जान-बूझकर ब्रिटिश शासकवर्ग को तंग करने की कोशिश की है। और इस तरह की बातों का कोई अंत नहीं था।

लेकिन वास्तविकताएं एकदम साफ और सहज थीं। पहला औपचारिक प्रस्ताव, जिसे अंग्रेजी कवि स्टर्ज मूर ने एक छोटे-से पत्र के तौर पर दो टूक शब्दों में प्रस्तुत किया था, उसे यहां उद्धृत करना आवश्यक है। इसमें उन्होंने स्वीडिश अकादमी की नोबेल समिति के सचिव को लिखा, ''महाशय, यूनाइटेड किंगडम की रायल सोसाइटी के सम्मान्य फैलो के नाते, मुझे इस बात का गर्व है कि मैं रवीन्द्रनाथ ठाकुर नाम के एक सुयोग्य व्यक्ति के नाम पर प्रस्ताव करता हूं और मेरे विचार से, इन्हें साहित्य के लिए नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया जा सकता है–टी.स्टर्ज़ मूर।'' चयन-समिति के दस्तावेजों से पता चलता है कि स्वीडिश अकादमी के लिए यह प्रस्ताव हैरानी से भरा था। नोबेल समिति के निर्णय को जिन दो सदस्यों के तर्कपूर्ण और मूल्यवान समर्थन ने प्रभावित किया वे थे–वर्नर वोन हाइदेनस्टेम (जिन्हें तीन वर्ष के बाद नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ) और पेर हालस्टार्म–नोबेल समिति के सदस्य-सचिव। समिति को अपने कार्यालय प्रतिवेदन में पेर

हालस्टार्म ने लिखा था--

"निस्संदेह वर्तमान समय में यूरोपीय कविता के अवदान से अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यहां उठाया जा सकता है लेकिन चूंकि इसका स्वभाव इतना वैविध्यपूर्ण है और सारी दुनिया में--किस तरफ से इसके स्रोत फूट रहे हैं, यह जानना हमारे लिए कठिन है और परवर्ती साक्ष्य तथा शोध के बिना किसी तरह के निर्णय से हमें अपने आपको दूर रखना चाहिए। एक तरह से, नितांत धार्मिक काव्य से किसी आर्थिक पुरस्कार को जोड़ना इसकी प्रकृति के विरुद्ध है। यह लगभग वैसा ही है जैसा कि डेविड के भजन-गान (डेविड के साम) या सेंट फ्रांसिस के गीतों के लिए उन्हें राशि प्रदान की जाए।

"अगर आधुनिक यूरोपीय कविता के बारे में ऐसा कोई प्रश्न किया जाए तो इस तरह की कोई भी तुलना हास्यास्पद होगी भले ही इसमें हजारों गुण हों : और ऐसा ही जब 'गीतांजलि' के संदर्भ में कहा जाए तब यह सवाल बहुत बेतुका नहीं होगा... क्योंकि यहां इसके असाधारण काव्य सौंदर्य के बारे में कोई मिथ्या धारणा नहीं है। अपनी अभिव्यक्ति में यह 'क्लासिकल' सहजता लिए हुए है, इसमें निहित बिंब विचारपूर्ण एवं स्वतःस्फूर्त भाषा के साथ विद्यमान हैं और इन्हें किसी आकारगत ढांचे की जरूरत नहीं पड़ी है क्योंकि शब्दों के उल्लेख मात्र से इन्हें पूर्णता प्राप्त हो गई है। यहां गोयथे की एक कविता की ब्राह्मण युवती का याद आना स्वाभाविक है जो घड़े में 'झरने से पानी भरती है और इसे अपने हाथों से बार बार उलीच देती है क्योंकि पानी उसके हाथों का स्पर्श पाते ही पथरा जाता था'.... अंग्रेजी के सभी समीक्षकों ने यह मत व्यक्त किया है कि उन सबने सचमुच एक युगांतकारी घटना का साक्षात्कार किया है। यह केवल प्राच्य जीवन की समझ तक ही सीमित नहीं बल्कि इसका यथासंभव प्रभाव यूरोपीय कला पर भी देखा जा सकता है... यदि कोई चाहे तो वह यह देख सकता है कि आधुनिक कविता में ऐसा क्या है--जिससे कि गोयथे की रचना की तुलना की जा सकती है। लेकिन मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि उनके आगमन से एक नए साहित्यिक युग की शुरुआत हुई है--जो कि उनकी भाषा के इतिहास में सर्वोत्तम है। जहां तक एक असंबद्ध व्यक्ति की बात है--वह अनुवाद के द्वारा इतना तो समझ ही सकता है कि इस बात में कोई अतिशयोक्ति नहीं है। और इतना तो निश्चित ही है कि सन 1832 में गोयथे की मृत्यु के बाद यूरोप में ऐसा कोई कवि नहीं है जो उदात्त मानवीयता तथा सहज शालीनता और अभिजात प्रशांति में उनकी बराबरी कर सके।"

दरअसल, बंगाल की उष्णकटिबंधीय नीची जमीन और स्कैंडेरेविया की हिममंडित ऊंची जमीन में प्राकृतिक, सामाजिक और परिवेशगत तौर पर दिखनेवाले अंतर के सिवा दोनों क्षेत्रों में कोई विशेष अंतर नहीं है। और अत्यधिक अंतर के बावजूद, सागरतटीय गंगाभूमि पर लिखी गई कविताओं को स्कैंडेनेवियन लोगों के हृदय में वैसा ही आदरपूर्ण स्थान मिला जैसा कि रवीन्द्रनाथ को अपने देशवासियों के हृदय में। जो इस बात का द्योतक है कि

'गीतांजलि' की कविताएं न केवल विश्वजनीन विशेषता से बल्कि रवीन्द्रनाथ की इस हठधर्मी आस्था से भी मंडित थीं। साथ ही इनमें पूरी समानता के वक्ष में एक ही हृदय धड़कता है भले ही इनमें राजनेता और धर्मगुरु बाधाएं डालते हैं।

इन कविताओं का अमिट प्रभाव आयरलैंड के एक कोने में रहने वाले उस पंद्रह वर्षीय अपरिचित किशोर के मन पर भी पड़ा था—जिसने कालांतर में, अपने उपन्यास लेखन के लिए नोबेल पुरस्कार प्राप्त किया—उस हालडॉर लैक्सनेस ने अपने उन दिनों की स्मृतियों को ताजा करते हुए लिखा था—

"मेरे युवा और आध्यात्मिक श्रवणों में वह अपरिचित, दूरस्थ और विलक्षण स्वर बड़ी गहराई से प्रवेश कर गया और तबसे भी, नितांत विशिष्ट क्षणों में, मैं अपने मानस के अंतःप्रकोष्ठ में उसकी उपस्थिति का आभास अनुभव करता रहा।... कैसा है वह स्पृहणीय प्रभु... रवीन्द्रनाथ का प्रभु... एक महान सखा, एक प्रेयसी, एक कमल, एक अनजान आदमी जो नदी की धारा के साथ साथ नाव पर अपना इकतारा बजाता चला जा रहा है, यहां से वहां। आजकल पश्चिम में, हमारे प्रभु या तो बिग आल वर्ल्ड फर्म इंक. के निदेशक हैं या फिर शिशु के दिमाग के आदिम और कल्पनाश्रित बालसखा। वह ऐसी सत्ता है कि जिसे हम अपने आसन्न खतरे की घड़ी में या अपनी मृत्यु के समय चीखकर या चिल्लाकर याद करते हैं। कारण यह है कि यह रवीन्द्रनाथ का एक आध्यात्मिक यथार्थ है—जो कि निरंतर शाश्वत बना रहेगा और संभवतया आने वाले वर्षों में भी पश्चिमी मानस में एकमात्र प्राच्य आश्चर्य बना रहेगा।"

11

घर और संसार

जब तुमने उसे जान लिया तो कोई पराया नहीं रहा
और कोई द्वार बंद नहीं रहा।

पश्चिम में अपने लंबे प्रवास से रवीन्द्रनाथ की अपनी उदार समवेदना और भी विस्तृत हुई, जो पहले से ही कुछ कम नहीं थी। इसने उनकी उस बौद्धिक और आध्यात्मिक सूझ और समझ को भी प्रेरित किया जिससे कि पश्चिमी मानस तक पहुंच पाना उनके लिए एक महान उपलब्धि बनी। अब वे सारे विश्व के लिए उतने ही थे, जितने कि भारत के लिए। और रवीन्द्रनाथ का भी ऐसा ही मानना था—इसलिए नहीं कि वे विश्वप्रसिद्ध हो गए थे बल्कि इसलिए कि सारे संसार के बारे में वह ऐसा ही महसूस करते थे। हालांकि ऐसे कई विश्व-प्रसिद्ध लोग भी रहे हैं जो सारी दुनिया के लिए अनिष्ट कर रहे हैं और ऐसे भी हैं—जिन्हें अपनी नाक के आगे कुछ नहीं सूझता। लेकिन रवीन्द्रनाथ ने विश्व की नियति को अपनी नियति समझा और विश्व के किसी भी हिस्से में होने वाले संत्रास और अन्याय के पीछे दबे-कुचले लोगों के आक्रोश को वाणी दी। यह वैश्विक-चेतना जिसकी जड़ें उनके मन में गहराई से पैठी थीं—अपने ही देश के कुछ लोगों के मन में भ्रांत धारणा का शिकार भी हुई।

उनके विदेशी मित्रों में ऐसे दो—जो उनके बहुत निकट आए—वे महत्वपूर्ण अंग्रेज सज्जन थे, जो शांतिनिकेतन में उनके कार्यों में घनिष्ठतापूर्वक सहयोग करते रहे। वे थे, चार्ल्स फ्रीयर एंड्रयूज और डब्ल्यू. विलियम पीयर्सन। एक मिशनरी से कहीं अधिक बेहतर ईसाई होने के नाते—उन्होंने अपनी अपनी संस्थाओं से नाता तोड़ लिया था और ईसा की सच्ची भावना के अनुरूप जैसा कि उन्होंने समझा था, मुक्त भाव से लोगों की सेवा के लिए आगे बढ़ आए थे और इस क्रम में रवीन्द्रनाथ के सहयोगी और आजीवन मित्र बने रहे।

वस्तुतया गांधी भी तब तक महात्मा नहीं बने थे और अपने ही देश में बहुत कम परिचित थे, उस समय दक्षिण अफ्रीका में जातिभेद के विरुद्ध अपने एकाकी और वीरोचित संघर्ष में व्यस्त थे। रवीन्द्रनाथ, जिन्होंने एक कवि-मनीषी की सम्यक अंतदृष्टि से अपने

नाटकों और कविताओं में किसी महात्मा के आविर्भाव का अनुमान लगा लिया था—उनकी चेतना में पहले से ही विद्यमान था। और यही कारण था कि नवंबर 1913 में, एंड्रयूज और पीयर्सन, जब नकारात्मक प्रतिरोध (पैसिव रेसिस्टेंस) आंदोलन का मौके पर अध्ययन करने के लिए दक्षिण अफ्रीका रवाना हुए तो वे अपने साथ रवीन्द्रनाथ का पत्र भी ले गए थे—जिसमें गांधी को, उनकी लक्ष्य प्राप्ति के लिए सदिच्छा और शुभकामनाएं दी गई थीं। "मुझे उन क्षणों को अच्छी तरह दोहरा लेना चाहिए," एंड्रयूज ने बाद में बताया, "उन दिनों, जब विली (विलियम) पीयर्सन और मैं शांतिनिकेतन से विदा हुए ही थे और दक्षिण अफ्रीका की जमीन पर उतरे थे, उस दौरान कवि और उनके आश्रम की नयी आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि और तेजस्वी विचार हमारे वार्तालाप में स्पष्ट तौर पर आते रहे। उनके प्रति हमारे मन में जो स्नेह और सम्मान था—और जो सम्मिलित उत्साह था—वह पहली बार इस तीव्रता से फूट पड़ा था कि उसने अपनी समुज्ज्वल आभा से हमारी समस्त सत्ता को रंग डाला था। हमारा अंतर-आकाश तब और भी सतेज हो उठता था—जब हम उनके बारे में बातें करते या आपस में विचार-विमर्श कर रहे होते थे। हम दोनों के मामले में ठीक ऐसा ही तब हुआ जब हमने किन्हीं सुखद क्षणों में महात्मा गांधी के साथ अपनी नयी मित्रता का संधान पा लिया। दोनों ही स्नेहानुराग बड़े ही अंतरंग ढंग से घुल-मिल गए। अक्सर तारों भरे आकाश के नीचे, हम बातों के दौरान खामोश बैठे रहते और उन खूबसूरत शामों को गुरुदेव के संग शांतिनिकेतन के छोटे-से कमरे की छत पर बैठकर बातें किया करते। वे हमारे जीवन के सुनहले क्षण थे और महात्मा गांधी ने पूरी सहानुभूति से गुरुदेव के प्रति हमारी आंतरिक निष्ठा को समझा था। वे बहुधा उनसे मिलने की तीव्र इच्छा के बारे में भी हमें बताया करते। और इस तरह हम सब एक स्नेह-वृत्त में परस्पर जुड़ गए थे।

सन 1913 की समाप्ति इस रूप में उल्लेखनीय रही कि कलकत्ता विश्वविद्यालय ने 26 दिसंबर को एक विशेष दीक्षांत समारोह में रवीन्द्रनाथ को डाक्टरेट की मानद उपाधि से अलंकृत किया। यह घटना-बहुल और उत्तेजक वर्ष पुरस्कार और सम्मान की दृष्टि से बड़ा ही महत्वपूर्ण था लेकिन रचनात्मक उपलब्धि की दृष्टि से निराशाजनक था। यह इस दशक का एक ऐसा साल था—जिसमें कवि की एक भी मूल कृति बंग्ला में प्रकाशित नहीं हुई, जो कि उनकी सर्जनात्मक अभिव्यक्ति की भाषा थी। लंदन से प्रकाशित उनकी तीनों कृतियां 'द गार्डनर', 'द क्रीसेंट मून' और 'चित्रा'—ये सभी अनूदित रचनाएं थीं। हालांकि इस साल के दौरान उन्होंने कई गीत लिखे—कुछ तो विदेश-प्रवास के दौरान और कुछ भारत में। इस साल के आरंभ में, यूनाइटेड स्टेट्स में लिखी गई उनकी एक कविता इस अर्थ में विशेष उल्लेखनीय थी कि इसमें खरीदने और बेचने का रूपक बहुत प्रभावी ढंग से विनियोजित हुआ था। इसमें कवि ने दिखाया है कि वह अपनी पीठ पर सामानों का बोझ लादे एक जगह से दूसरी जगह बेचता फिर रहा है। एक राजा उसे धमकाता है कि वह

उसके सारे सामान जबरदस्ती हथिया लेगा। एक अधेड़ अमीर कहता है कि वह इन्हें सोने के बदले खरीद लेगा। एक खूबसूरत युवती उसे अपनी मुस्कान से रिझाना चाह रही है लेकिन बोझ वैसा ही बना रहता है--जब तक कि हाथ में कुछ कौड़ियां लिए एक नन्हा-सा बालक उसकी बांह पकड़कर यह नहीं कहता कि ये सारी चीजें मेरी हैं। उसे अपने बोझ से तभी मुक्ति मिलती है जब वह अपने सारे सामान उस बालक को बिना कोई कीमत लिए सौंप देता है और वह बालक उसके साथ खेलने लगता है।

ऐसे ही कुछ और गीत, जिन्हें वह आगे भी लिखते रहे--और जो शब्दबद्ध ही नहीं छंदोबद्ध होकर वर्ष 1914 में दो काव्य संकलन 'गीतिमाला' और 'गीतांजलि' के धार्मिक भावबोध की अगली कड़ी के ही उत्कृष्टतम उदाहरण थे लेकिन अब कवि की मनोदशा बदल रही थी। उनकी निष्ठा अब कहीं अधिक बलवती हो चली थी। मनुष्य की नियति में उनकी आस्था अब और अधिक सुदृढ़ हो चली थी और जीवन के प्रति विश्वास और इसके उत्तरदायित्वों को वे अधिक उत्साह से स्वीकार कर रहे थे। जैसा कि उन्होंने अपने एक गीत में लिखा भी है कि उनके जीवन के कांटे अपना अर्थ पा लेंगे। एक तरह से रवीन्द्रनाथ के ये गान उनके प्रशंसकों के लिए सर्वोत्तम उपहार थे। इनमें निहित आनंद का आस्वाद पढ़े-लिखे और अनपढ़, बूढ़े और जवान सभी समान रूप से प्राप्त करते रहे और इनकी माधुरी और सूक्ष्मता के द्वारा विभिन्न मनोदशाओं और अनगिनत भावनाओं को अभिव्यक्ति प्राप्त होती रही। इनमें प्रयुक्त शब्द, लय और प्रतीक इतने सहज और स्वतःस्फूर्त हैं कि ऐसा जान पड़ता है कि वे कहीं बाहर से नहीं आए बल्कि यहां उपस्थित हैं। सही अर्थ में, ये कवि का समर्पण हैं--'उत्सर्ग' हैं--क्योंकि ये उनकी आत्मा के अंतरंग भावोद्गार हैं, और जातीय चेतना की कच्ची जमीन से फूट पड़े हैं यद्यपि उनका अनुरोध सार्वदेशिक है। अपनी वृद्धावस्था में अक्सर वे यह कहा करते थे कि शायद उनकी दूसरी उपलब्धियां भले ही भुला दी जाएंगी--लेकिन उनके गान लोककंठ में सदैव विराजमान रहेंगे।

एक बार एक युवा शिक्षक और शांतिनिकेतन के नए आगंतुक ने उनसे एक बड़ा उद्धत प्रश्न किया, "आप ईश्वर के बारे में इतनी बातें करते हैं--इनमें से आखिर कितनी बातें आपको प्रत्यक्ष जानकारी के तौर पर मिली हैं?"

एक क्षण की चुप्पी के बाद रवीन्द्रनाथ ने विचलित हुए बिना कहा, "मैं बड़े विश्वास के साथ कह सकता हूं कि मैंने ऐसे कई अवसरों पर उनकी उपस्थिति का अनुभव किया है जिस घड़ी मैं बड़ी तन्मयता से और अंतरंगता से किसी विशिष्ट मनोदशा के साथ नए गान की रचना में प्रवृत्त होता हूं।" यही बात उन्होंने अपने एक गान में दोहराई है--

> "मेरा गान तुम्हारे उन चरणों को स्पर्श करता है
> जबकि तुम दूसरे किनारे पर खड़े हो
> लेकिन मुझसे मिलना तुम हमेशा टालते रहते हो।"

इनमें से कई गान उनके मानस में विद्यमान संकट और अस्थिर मनोदशाओं के साक्षी हैं–जिनसे वे गुजर रहे थे, अब कहीं अधिक सन्नद्ध और अस्पष्ट तौर पर ही सही, सज्जित थे। अब वह पूरी तरह आश्वस्त थे कि उनका परमात्मा चाहता है कि वह इस विश्व से प्रेम करें। "अगर हृदय प्रेम के लिए नहीं बना तो तुम भोर का आकाश गानों से क्यों भर देते हो, यह धरती ढेर सारे फूलों के साथ क्यों खिल उठती है और हवा में मीठी गुनगुनाहट-सी क्यों तिरती रहती है?" कवि को पता है कि वह कार्य के जबरदस्त बंधन में और भी अधिक जकड़ता चला जाएगा तभी वह उससे उलाहना भरे शब्दों में पूछता है–"अगर तुम्हें काम के साथ इस तरह बांधने की जरूरत है तो मुझे अपने अनन्य सौंदर्य से उद्विग्न क्यों कर देते हो?"

कवि को यह पता नहीं है कि भविष्य ने उसके लिए क्या कुछ संजो कर रखा है। "मैं अपने निर्जन पथ पर अकेला बढ़ता चला जा रहा था कि मेरे हाथ का प्रदीप बुझ गया। अचानक तेज झंझा मुझे उड़ाकर गहन अंधेरे की ओर ले चली, और अब वही मेरा एकमात्र साथी है। मैं अपना परिचित पथ भूल बैठा हूं और ठोकरें खा रहा हूं ; मैं इस बात से एकदम अनजान हूं कि पता नहीं कब यह रात प्रभात को पा सकेगी।" अब कवि शांत और संयत होकर सारे संघर्ष को झेलता है और यातना से तनिक भी नहीं घबराता है। "अगर तुम दुखों से भागते रहोगे तो इन पर विजय कैसे प्राप्त करोगे? इस हालाहल को अपनी ही अग्नि ज्वाला में जलना होगा। इस अग्नि से एकदम मत डरो, अगर यह एक बार स्वयं को जलाकर खाक कर दे तो इसके बाद जलने की कोई बात ही नहीं होगी।"

इस सदी के प्रारंभिक वर्षों में अतीत के प्रति मोह का जो वितान अस्थायी तौर पर ही सही–रवीन्द्रनाथ के ऊपर फैला हुआ था–वह सिमटता नजर आने लगा था। जीवन में आगे बढ़ने के साथ अपने पूर्व और पुरुषोचित विश्वास के बल पर उन्होंने नवीन एवं प्राचीन के बीच के निर्बंध मानसिक आदान-प्रदान की गति को पुनः प्रतिष्ठित किया। इस बात को, 1 मई 1914 को स्टर्ज़ मूर को लिखे गए एक पत्र से सिद्ध किया जा सकता है–

"किसी देश का साहित्य, मोटे तौर पर घरेलू खपत के लिए नहीं होता। इसका मूल्य इस बात पर आधारित और अनिवार्य तौर पर उन क्षेत्रों के लिए जरूरी होता है जिसे कि विदेश में समझा जाता है। मुझे ऐसा लगता है कि पश्चिम के लिए सौभाग्य की बात रही कि इसे बाईबिल के माध्यम से पूर्व की आत्मा को आत्मसात करने का बेहतर अवसर मिला। इसने आपके जीवन को समृद्धतर किया है क्योंकि यह आपके मनोभाव के लिए पराया था। भले ही काल-चक्र के नियमानुसार आप इसके कतिपय सिद्धांतों एवं उपदेशों को नकार दें–लेकिन इस बीच इसने अपना कार्य-वृत्त पूरा कर लिया है–इसने आपकी मानसिक अवधारणा में द्वंद्व पैदा कर दिया है और जो जीवन के समग्र विकास के लिए बहुत ही

आवश्यक है। पश्चिमी साहित्य भी हमारे लिए ठीक ऐसा ही है। यह हमारे जीवन के तत्वों में भी ऐसा ही कुछ कर रहा है, इसकी कुछ अवधारणाएं हमारी प्रवृत्तियों की अनुपूरक हैं और कुछ विरोधी भी हैं। और हमें इनकी जरूरत भी है। ये हमें चमत्कृत और आकर्षित करें हम केवल इतना ही नहीं चाहते--हम चाहते हैं कि ये हम पर आघात करें, हमें आहत करें। इसलिए हम आपके लेखन को सामान्य तौर पर इसे केवल कलात्मकता के लिए नहीं बल्कि इसकी विविधता और शक्तिमत्ता के लिए पाना और पढ़ना चाहते हैं। यही कारण है कि पिछली पीढ़ी के हमारे युवकों पर इतना जबरदस्त प्रभाव था। अपने अस्पष्ट आदर्शवाद के बावजूद, वे हमारी सोच को इसलिए झकझोर सके कि उनके लेखन में एक तरह का उन्माद भरा उतावलापन है--हालांकि यह जीवन में निहित आस्था से उत्पन्न होता है। मैं यहां जो कुछ कह रहा हूं वह एक विदेशी दृष्टिकोण ही है। अगर ऐसा हुआ तो हम आपके साहित्य के कलात्मक तत्वों को बहुलांश में खो बैठेंगे लेकिन मोटे तौर पर जो कुछ भी मानवीय है और पूर्णतया उपयुक्त है--उसे सुदूर भविष्य तथा दूरस्थ देशों को बड़े जतन से भेजा जा सकता है। हम आपके साहित्य को पश्चिम की ओर से हमारी ओर बहनेवाले जीवन-ज्वार के रूप में देखते हैं, हालांकि इस बहाव में संक्रमणकालीन क्षणों के कचरों को भी देखा जा सकता है।''

लगभग इसी समय, रवीन्द्रनाथ के युवा मित्र प्रमथ चौधुरी ने, जिनका रवीन्द्रनाथ की भतीजी इन्दिरा से विवाह हुआ था, एक साहित्यिक पत्र, 'सबुज पत्र' (हरे पत्ते) का प्रकाशन आरंभ किया। और जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, इसने साहित्यिक लेखन के क्षेत्र में नए प्रयोगों से संबंधित आंदोलन का प्रतिनिधित्व किया। हालांकि प्रमथ चौधुरी (जिनका उपनाम था 'बीरबल'--अकबर के दरबार के नवरत्नों में से एक) स्वयं बड़े प्रतिभावान लेखक थे--लेकिन इस पत्र के सम्मान और लोकप्रियता का पूरा दायित्व रवीन्द्रनाथ के कंधे पर आ पड़ा था। वस्तुतया वे रवीन्द्रनाथ का प्रोत्साहन चाहते थे और उन्होंने इस मांग को अपनी विपुल साहित्य क्षमता द्वारा न केवल पूरा किया बल्कि अपनी विशिष्ट एवं वैविध्यपूर्ण कविताओं, कहानियों, निबंधों और उपन्यासों के द्वारा इसे उल्लेखनीय भी बना दिया। हालांकि इस अवधि में लिखी गई कहानियों में वैसी ताजगी और आकर्षण नहीं था, जैसा कि उन्होंने पिछली शताब्दी के अंतिम दो दशकों में पद्मा नदी के किनारे अपने बजरे पर रहते हुए प्रकृति के बदलते परिदृश्य और इसके किनारों पर बसे लोगों के जीवन को बड़ी सहृदयता, निस्संग स्नेह और विडंबनापूर्ण सहानुभूति के साथ देखा और लिखा था। परवर्ती काल की ये कहानियां मध्यवर्गीय जीवन और इसकी समस्याओं--विशेषकर हिंदू-परिवारों की स्त्रियों की त्रासदी का चित्रण करती हैं। हो सकता है--इन कहानियों में ताजे फलों की मीठी सुवास का अभाव रहा हो लेकिन इनमें अच्छी तरह तैयार की गई पनीर की क्षुधावर्धक खुशबू तो थी ही।

लेखक ने उस विडंबना का बड़े साहस के साथ दंभी हिंदू पति की कायरता और स्वार्थपरता के उन अन्यायपूर्ण कुकृत्यों का पर्दाफाश बड़े ही सूक्ष्म ढंग से किया है--जो वे धर्मग्रंथों और परंपराओं के नाम पर ढाते हैं। यह साहसी युवती हैमंती की कहानी है--जो एक असहाय पिता की पुत्री है और जो मृत्यु में मुक्ति पाती है। सुंदर, सयानी और दृढ़संकल्प वाली मृणाल, जो अपनी सूझबूझ से अपने निरर्थक होते जाते अस्तित्व का स्वयं उद्धार करती है और इतना साहस जुटा लेती है कि अपने पति और घर-परिवार का परित्याग कर सके। एक अन्य कहानी का शीर्षक 'स्त्रीर पत्र' (पत्नी का पत्र) है। पत्र-शैली में लिखी गई इस कहानी में पत्नी पंद्रह साल की दमित यातना के बाद अपने पति को छोड़कर चली जाती है। यह रवीन्द्रनाथ की 'नोरा' है जो अपने पति के मुंह पर स्वतंत्रता का घोषणा-पत्र दे मारती है। कहना न होगा, बंगाल के पत्रों ने सामाजिक न्याय के प्रवक्ता होने के नाते इन कहानियों के लेखक की भर्त्सना की और वे उन तथाकथित नेताओं द्वारा भी अपमानित किए गए जो राजनैतिक अन्याय की खुलकर दुहाई दिया करते थे। एक तीसरी कहानी 'अपरिचिता' (एक अनजानी लड़की) में उन्होंने दिखाया है कि एक सुशिक्षित और प्रतिभाशाली बंगाली युवती, किसी प्राण-कातर या अकारण भावुक युवक के मुकाबले कहीं अधिक योग्य होती है। वस्तुतया युवक यह समझने की गलती कर बैठता है कि वह अपनी पत्नी बनाकर उस पर बड़ी कृपा कर रहा है। ये सभी कहानियां प्रथम पुरुष एकवचन में कही गई हैं ताकि कोई भी केंद्रीय पात्र अपनी अंतरंग और अंतरतम भावना को अभिव्यक्त कर सके। इनमें ही एक कहानी है 'बोष्टमी' (वैष्णवी)—जिसमें एक महिला ने इसलिए अपना घर-बार छोड़ दिया है ताकि वह परमात्मा की पूजा-अर्चना कर सके। रवीन्द्रनाथ वस्तुतया ऐसी किसी महिला को जानते थे, जो उनके अनुसार बंगाल के किसी गांव में रहती थी। अपनी 'क्रिएटिव यूनिटी' नामक रचना में उन्होंने यह भी बताया है कि वे उसकी इस निष्ठा का बड़ा सम्मान करते थे।

रवीन्द्रनाथ का ग्रीष्मावकाश हिमालय स्थित रामगढ़ में बीता। यहां रहते हुए वे आरंभ में बहुत खुश थे और उन्हें ऐसा लग रहा था कि अब तक वे 'आधे राशन' पर जीवन निर्वाह कर रहे थे। उन्होंने एंड्रयूज को लिखा भी था, "मेरा जीवन परिपूर्ण है।" लेकिन बहुत जल्द उन पर बेचैनी-सी छाने लगी और इसके साथ ही एक अस्पष्ट और तीव्र यंत्रणा से वे छटपटा उठे, यह उस भयंकर महाप्रलय का पूर्वाभास था जो कि उस विश्व को अपनी चपेट में लेने ही वाला था—जिसे वे बहुत प्यार करते थे। हालांकि तब राजनैतिक क्षितिज पर दानवाकार बादल नहीं घुमड़ रहे थे और जब अगस्त में अचानक विश्वयुद्ध छिड़ा तो वह फैलता चला गया। इसके आगमन को वे कैसे ताड़ गए--इसकी व्याख्या कर पाना कठिन है। इस बात को महसूस करना और इससे पूरी तरह जूझना उनके उन पत्रों से पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है, जो उस दौरान लिखे गए थे और उन लोगों की साक्षियों से भी इस बात

की पुष्टि हो जाती है–जो उस अवधि में उनसे मिले थे या जो उनके साथ थे। उन्होंने एंड्रयूज को लिखा था–"ईश्वर जानते हैं कि यह मृत्यु-दंश है जो मेरे हृदय को फाड़ खा रहा है।" उन्होंने अपनी इस मनोदशा को एक कविता में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है–

"देखो वह आ रहा है विध्वंसक
पीड़ा के सागर में फैल रही है यंत्रणा की बाढ़
रक्तरंजित बादलों के मध्य गरजते हैं बादल
और कौंध पड़ती हैं बिजलियां
इस मृत्यु के खेल में
एक उन्मादी अट्टहास भरता कांप रहा है।"

कवि रवीन्द्रनाथ तब सचमुच बड़े उद्विग्न थे–और जब भी ऐसा होता वे एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करते रहते थे। कभी शांतिनिकेतन तो कभी सिलाईदह, कभी दार्जिलिंग तो कभी आगरा या इलाहाबाद। और आखिरकार जब विश्वयुद्ध छिड़ ही गया तो उन्होंने इसे सिर्फ इस रूप में स्वीकार नहीं किया कि यह यूरोपवासियों के लिए दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है और इसका एशिया से कोई लेना-देना नहीं। यह इंग्लैंड की असुविधा और भारत के लिए सुविधा जैसी बात नहीं थी कि वह अपनी आंख सेकता रहे। उन्होंने इसमें किसी का पक्ष नहीं लिया। उनके लिए युद्ध मानवता के सीने में एक जख्म की तरह था और जिसका कष्ट और आतंक इसके समस्त अंग-प्रत्यंग द्वारा समान रूप से झेला जाना था भले ही ऐसा जान पड़े कि इसे दूर कर दिया जाएगा। शांतिनिकेतन में, अपने छात्रों को संबोधित करते हुए उन्होंने इस बात पर जोर दिया था कि पिता के द्वारा किए गए पाप की छाया उसके बच्चों पर पड़ती है, इसलिए सभी मानवतावादियों को उन अपराधों और सजाओं की जिम्मेदारी लेते हुए इनमें अपना हिस्सा बांटना चाहिए, भले ही ये अपराध दुनिया में कहीं भी हो रहे हों। अपनी एक कविता में कहते हैं–

"समस्त धरा का संताप
इसके अपराध और इसके पाप
इसका विदीर्ण हृदय और विद्रोह के प्रति उसकी ललक
तटों पर ज्वार-तरंगों जैसे मचलती फैल गई है
और आकाश को मुंह चिढ़ा रही है।
इसके बावजूद अरे ओ निर्मम
तू मजबूती से अपनी पतवार थाम ले
और नाव को सागर की विक्षिप्त लहरों पर तिरने दे
अपने हृदय की भग्नाशा को मिटने न दे

तुम किसे दोष दोगे बंधु, अपना सिर झुका लो
क्योंकि यह दोष तो तुम्हारा और हमारा है
यह काल के वक्ष का व्रण है जो अब फूट पड़ा है
कातर हृदय में घुमड़ रहा है जहरीला धुआं, छूट रहा है धैर्य
मुंह फाड़े बैठे हैं मांसलोलुप गिद्ध--दायवंचितों का विद्वेष
और हो रहा है मनुष्य में विराज रहे देवता का घोर अपमान
इन सबको, काल की शिराओं से
धरती और सागर के भंवर और बदबूभरी सांसों की विध्वंसता से
फूटकर बहना ही था।"

रवीन्द्रनाथ ने उपर्युक्त और ऐसी कई कविताएं (साथ ही शेक्सपीयर पर एक सॉनेट--चतुर्दशपदी) उद्विग्नता से भरे इन महीनों में लिखीं--जब वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर बड़ी बेचैनी से घूमते रहे--कभी आक्रोश और कभी उल्लास से, कभी अतीत राग से तो कभी आकांक्षा से, और कभी इस धुंधली संभावना से कि वह स्वयं अपने लिए एक नए कगार पर खड़े हैं। उनमें आखिर ऐसा क्या है जो समाप्त हो जाएगा, मर जाएगा या फिर उठ खड़ा होगा--यह खुद उन्हें पता नहीं। बस उन्हें इतना ही ज्ञात है कि उन्हें आगे चलते रहना है, उस नए रूप में ढलना है और अगर जरूरत पड़े तो--उन्हें अपनी तरफ मुड़े बिना आगे बढ़ जाना है। ये सारी कविताएं 1916 में एक पतली-सी कविता-पुस्तिका 'बलाका' (हंस की उड़ान) में प्रकाशित हुई। यह पुस्तिका अपने युवा अंग्रेज मित्र पीयर्सन को समर्पित थी, और उन शिखरस्थ स्मृतियों से धन्य थी, जहां समय समय पर अपनी हिमालय यात्रा के दौरान वे जाया करते थे। इस पुस्तिका का शीर्षक उस एक कविता पर रखा गया था--जो उन्होंने कश्मीर में लिखी थी--जहां कवि शाम के समय किरच (शमशीर) की तरह कोहरे में झिलमिलाती झेलम की वक्र धारा को निहारा करते और अचानक सन्नाटे से उठी कड़कभरी बिजली की कौंध में अपने दिवास्वप्न से चौंक चौंक उठते यह देखते ही कि हंसों का झुंड अपने पंखों को समेटकर कहीं दूर उड़ता चला जा रहा है। प्रवासी पंछियों की यह उड़ान उनके लिए सभी वस्तुओं के लिए शाश्वत गति का प्रतीक थी--चाहे वह गतिशील प्रतीत हो या गतिहीन, वह काल तत्व का गमन पथ था, जीवन और आत्मा की अनंत अन्वेषण, अखिल विश्व के हृदय का शाश्वत क्रंदन--"यहां नहीं, यहां नहीं, और कहीं. और कहीं।"

इस क्रंदन की अनुगूंज इस संकलन की सभी कविताओं में प्रतिध्वनित होती है, भले ही यह उसका कथातंतु या न्यास हो, ये सभी उस गति के अछोर आश्चर्य के प्रति निवेदित स्रोत हैं--जो कि सारी वस्तुओं को प्रवाह में बनाए रखती है, उन्हें पुनर्नवीकृत करती है या उन्हें पीछे छोड़कर आगे बढ़ जाती है--चाहे वह शानदार ताजमहल के शाही निर्माता

शाहजहां को संबोधित हो, या कवि के जीवन से अदृश्य हो गया देवदूत, या फिर दिवंगता कादम्बरी भाभी। रवीन्द्रनाथ को अवश्य ही उसकी कोई तस्वीर मिल गई होगी, क्योंकि यह कविता उसी को संबोधित है। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह स्मृति बहुत ही कष्टकर थी, लेकिन इस कष्ट को बढ़ा-चढ़ाकर जैसा कि वे अपनी युवावस्था में करते थे, के बदले कवि को एक तरह से यह सोचकर इतमीनान होता है कि वह पहले की अपेक्षा उनके जीवन में अब और बड़ी सच्चाई के साथ उपस्थित है–

"क्या हुआ कि अगर तुम मेरी आंखों के सामने नहीं हो
वह इसलिए कि तुम विरल और वायवीय हो
तुम विराज रहे हो
इस श्यामल धरा की हरीतिमा में, उस नील आकाश की नीलिमा में
मेरे विश्व सौंदर्य की आंतरिक लय
कोई नहीं जानता–शायद मैं भी नहीं
कि तुम मेरे गीतों का संगीत हो
कवि के हृदय में विराजमान कवि-स्रष्टा।"

यही मूल विचार कि जीवन अपनी निरंतरता में स्वयं को पुनर्नव करता चलता है, हेमंत अपना मुखौटा उतार कर अपने को वसंत में उद्घाटित करता है–उनके एक मनोरंजक प्रहसन 'फाल्गुनी' (बसंत-चक्र) में रूपायित हुआ–जो उन्होंने शांतिनिकेतन के बालकों के लिए लिखा था। यह नाटक शांतिनिकेतन और कलकत्ता दोनों ही स्थानों पर अभिनीत हुआ। इसमें रवीन्द्रनाथ ने कवि और अंधे बाउल (घुमक्कड़ साधक गायक)–दोनों ही दोहरी भूमिका निभाई थी। इसका कथासूत्र बहुत ही क्षीण है बल्कि इसमें नाममात्र को ही कोई कथावस्तु है ताकि इसके बहाने रचनाकार बसंत के मनोभाव के अनुरूप गीत, नृत्य और उत्सव का प्रदर्शन कर सके। नटखट बालकों का एक झुंड वृद्ध शिशिर (मौसम) को घेर लेता है और उसके परिधान इसलिए उतारने लगते हैं कि यह बसंत ही है; इसके सिवा कोई दूसरा नहीं। एडवर्ड थॉम्पसन जो इस नाटक की प्रथम प्रस्तुति के समय उपस्थित थे, उन्होंने यह महसूस किया कि "इसमें अरण्य का जादूभरा संगीत है–इसमें सचमुच बांस के झुरमुट जाग उठते हैं, दक्षिणी बयार की आत्मा उपस्थित हो जाती है और इसे अगर मनुष्य का स्वर मिल जाए तो फूलों की आत्मा तक गा सकती हे।" बाद में जब यह नाटक, 1921 में नाटककार की उपस्थिति में खेला गया तो दर्शकों में से एक छात्र ने खड़े होकर अपनी टूटी-फूटी अंग्रेजी में (जैसा कि रवीन्द्रनाथ ने याद करते हुए कहा था) यह कहा था कि उन्हें यह बताया गया कि पूरब का एक वृद्ध आदमी उनसे बातें करने आ रहा है लेकिन उसने यहां जो कुछ भी देखा-सुना है–उससे तो यही जान पड़ता है कि पूरब का एक नवयुवक उनसे बात

कर रहा है।

'फाल्गुनी' की रचना के तत्काल बाद मार्च 1915 में रवीन्द्रनाथ की पहली मुलाकात गांधी के साथ हुई। दक्षिण अफ्रीका में अपना काम पूरा करने और वहां छेड़ी गई लड़ाई जीतने के बाद गांधी अपने देश लौट आए थे लेकिन उन्होंने अब तक यह तय नहीं किया था कि वह आगे क्या कुछ करने जा रहे हैं और किस जगह रहने जा रहे हैं। इसके पहले उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में अपनी फ़ीनिक्स कालोनी और स्कूल को समाप्त कर दिया था और उन स्कूली बच्चों, जिनकी संख्या लगभग बीस थी, भारत भेज दिया था। एंड्रयूज, जो इन दो महान हस्तियों के बीच संपर्क सेतु थे, ने यह सुझाव दिया कि उन बच्चों को शांतिनिकेतन में तब तक रखा जा सकता है जब तक कि गांधी जी आ नहीं जाते और अपना कोई आश्रम बनाकर सारी व्यवस्था कर नहीं लेते। रवीन्द्रनाथ इसके लिए तुरंत तैयार हो गए थे और वे बच्चे कुछ महीनों तक शांतिनिकेतन में ही रहे थे—जब गांधी जी उनसे मिलने वहां आए। इस बात को देख पाना सचमुच बड़ा रोचक रहा होगा कि कैसे ये एक अलग तरह के लड़के रवीन्द्रनाथ के नन्हें बाल गंधर्व के साथ गाते, नाचते और चौकड़ी भरा करते रहे होंगे। गांधी के नन्हें संत अपनी उम्र से कहीं अधिक सयाने और शिष्ट थे—उनके साथ मिलकर रह रहे थे। वे यहां बड़ी अच्छी तरह थे और रवीन्द्रनाथ भी गांधी के बच्चों को अपना समझकर प्यार करने लगे थे। उन्होंने इन बच्चों को 'बड़ा प्यारा' और 'बहुत नेक' पाया लेकिन साथ ही, जैसा कि उन्होंने एंड्रयूज को अपने एक पत्र में लिखा था कि जैसा वे चाहते थे, ये बच्चे ''पूरी तरह योग्य'' नहीं थे।

हालांकि गांधी जी शांतिनिकेतन में मुश्किल से एक सप्ताह रुके और अब तक 'महात्मा' नहीं बने थे, और जिनका सीधा-सादा नाम आने वाले वर्षों में लोगों पर जादू-सा डालनेवाला था, लेकिन उनके व्यक्तित्व का स्थायी प्रभाव शांतिनिकेतन के आश्रमिकों पर पड़ा। यह शांतिनिकेतन की उनकी दूसरी यात्रा थी। एक माह पूर्व जब वह यहां आए थे तो रवीन्द्रनाथ यहां उपस्थित नहीं थे। इस यात्रा के दौरान गांधी जी ने जो छह दिन शांतिनिकेतन में बिताए थे—इससे उनके और रवीन्द्रनाथ—आधुनिक भारत के दो निर्माताओं—के बीच जीवन भर की मित्रता की गहरी नींव पड़ गई, जिससे कि दोनों ही व्यक्तित्वों के मुखर विरोधाभासों को कम करने का अवसर मिला—जो उन दोनों के प्रच्छन्न संबंधों के साथ ही आदर्शवाद के बारे में उनके अलग अलग प्रस्थानों को लेकर उठती रहती थी। ये मतभेद कभी कभी इतने उग्र और परस्पर विरोधी प्रतीत होते थे कि उनके कई अच्छे-खासे समर्थक इनसे भ्रम में पड़ जाते थे। लेकिन इन बाह्य आवरणों के नीचे जो मित्रता थी—वह इतनी गहरी और प्रगाढ़ थी कि इस बारे में या तो सिर्फ वे दोनों जानते थे या फिर उनके गिने-चुने सामान्य मित्र और विशिष्ट भावात्मक संबंध रखने वाले प्रशंसक—जैसे कि कोई एंड्रयूज या फिर कोई जवाहरलाल नेहरू। दोनों के ही तथाकथित शिष्य या 'श्रद्धालु अनुयायी'। आम लोग

इस आवरण या मुखौटे पर उभरी भाव विकृति ही देखा करते थे—इसके पीछे छिपी मुस्कान से वे अनभिज्ञ थे।

अपनी विशिष्ट, वस्तुगत और व्यावहारिक कार्य-शैली के कारण गांधी अपने चारों ओर देखा करते थे, सबकी ओर दोस्ती का हाथ बढ़ाते थे और कमजोर नजर आनेवाली जगहों पर अपनी उंगली रखा करते थे और इसीलिए उन्होंने आश्रमवासियों को यह बताया कि वे अपने आदर्शों पर कैसे बेहतर ढंग से अमल कर सकते हैं। उन्होंने यह बताया कि दिहाड़ी पर किसी मजदूर को रखे बिना उन्हें यहां का सारा काम स्वयं करना चाहिए। उन्हें यह आश्रम उसी तरह साफ-सुथरा रखना चाहिए, जैसे कि वे अपने शरीर की सफाई किया करते हैं। भोजन पकाने और बर्तन साफ करने के साथ ही उन्हें यहां हर तरह का सेवा कार्य स्वयं करना चाहिए। छोटे बच्चे ऐसे साहसिक कार्यों में हमेशा बड़े उत्साह से भाग लेते रहे और छात्रों तथा शिक्षकों, दोनों ने ही गांधी जी की सलाह का बड़ा स्वागत किया। इसके बारे में जब रवीन्द्रनाथ को बताया गया तो वे मुस्कुराए और उन्होंने कहा इस प्रयोग में स्वराज की कुंजी छिपी है। और इस तरह 10 मार्च 1915 को इस प्रयोग का शुभारंभ हुआ। इसके दूसरे दिन, गांधी जी रंगून के लिए रवाना हो गए। हालांकि यह प्रयोग अधिक दिनों तक चल नहीं पाया और इससे न तो गांधी जी हैरान हुए और न ही रवीन्द्रनाथ। उनका आदर्शवाद यथार्थवाद की ठोस जमीन पर टिका था और साथ ही इसमें विनोद का पुट भी था। इस प्रयोग की स्मृति को बनाए रखने के लिए शांतिनिकेतन में प्रतिवर्ष 10 मार्च को गांधी-दिवस (गांधी पुण्यतिथि) मनाया जाता है। इस दिन सभी वेतनभोगी कर्मचारियों को छुट्टी दे दी जाती है और सारे शिक्षक और छात्र मिलकर अपना भोजन स्वयं पकाते हैं और आश्रम में वार्षिक वासंतिक स्वच्छता की तैयारी में जुट जाते हैं। भारतीय परंपरा में प्रतीकवाद का यह एक विशिष्ट और आवर्ती उदाहरण है।

गांधी जी के सुधारवादी उत्साह ने कवि के निजी आहार को भी नहीं बख्शा। एक दिन, रात को भोजन में 'लुची' (घी में तली हुई पूरियां) खाते देखकर गांधी जी ने टिप्पणी की थी कि घी में तली हुई मैदे की ये पूरियां जिन्हें आप बड़े मजे से खाते चले जा रहे हैं, आपके लिए जहर हैं। रवीन्द्र मुस्कुराए और हंस कर बोले, "बेशक यह मीठा जहर ही है, क्योंकि मैं लगभग आधी सदी से इन्हें खाता चला आ रहा हूं।"

गांधी और रवीन्द्रनाथ—इन दो संतों ने राजनीति को पवित्र बनाने का अथक प्रयास किया और कवि ने इस पवित्रता को सुंदर बनाया। गांधी अपने किसी विचार को व्यक्त करने के लिए इसे पहले अपने आचरण में उतारते थे जबकि रवीन्द्रनाथ के विचार पंख लगाकर आकाश में उड़ते थे और फिर जमीन पर व्यवहार में उतरते थे। उनके पांव चाहे कितनी मजबूती से जमीन पर टिके हों—वे पंखों की उड़ान के साथ गति बनाकर नहीं रख पाए। गांधी, जो कठोर साधक थे, मानवतावादी से कहीं अधिक मानववादी थे। वह रंग

में भंग डालने वाला एक सिद्धांत लेकर आए थे, जिससे कि लाखों-करोड़ों दिलों को सुख-चैन मिले। रवीन्द्रनाथ एक मूर्ति-प्रेमी थे, उन्होंने आकाश देखा था—और जिसे गांधी कभी देख नहीं पाए। आधुनिक भारत के ये दो चेहरे--एक खुरदरा अनगढ़ था तो दूसरा सुघड़, दोनों ही एक समान तेजस्वी लेकिन जो भारतीय साधना और जीवन के सत्य की सिद्धि के दो आयामों का प्रतिनिधित्व करते थे। साधुमना अंग्रेज सी.एफ. एंड्रयूज जैसे बहुत कम ही लोग थे जिन्होंने उनके सम्मिलित प्रभाव को गहराई से अनुभूत किया और उनके आंतरिक संबंधों एवं संवादों को समझा। उनके ही शब्दों में यह सुनिये कि इन दोनों में से किसे वे किस रूप में देखते रहे—"व्यक्तिगत रूप से, मैं अपने जीवन में रवीन्द्रनाथ के सिवा ऐसे किसी व्यक्ति से नहीं मिला जो मित्रता, बौद्धिक समझ और आध्यात्मिक सहानुभूति की आवश्यकता को संतुष्ट करता हो। उनकी उपस्थिति ने हमेशा प्रेरणा का कार्य किया। उनके साथ रहना, उनके साथ किसी संरचनात्मक कार्य में उनका साथ-संग एक ऐसा सम्मान था, जिसे शब्दों में व्यक्त करना बहुत कठिन है। वस्तुतया यह संपर्क मेरे जीवन का सबसे बड़ा गौरव है। मेरे जैसा ऐसा शायद ही कोई भाग्यशाली होगा, जिसे उनकी व्यक्तिगत मित्रता प्राप्त हुई हो। कवि की मित्रता के साथ ही, मुझे इस बात की अत्यधिक प्रसन्नता है कि मुझे महात्मा गांधी के साथ ऐसी ही दूसरी व्यक्तिगत मित्रता प्राप्त हुई। उनकी अप्रतिम आध्यात्मिक प्रतिभा ने मुझे बहुत ही विशिष्ट ढंग से अनुप्राणित किया है। क्योंकि उनका चरित्र, अपने ही ढंग से, स्वयं रवीन्द्रनाथ जैसा ही महान और सर्जनात्मक है। बल्कि, एक अर्थ में यह कहीं अधिक मनस्वितापूर्ण है। साथ ही, इसमें आधुनिक काल की अपेक्षा मध्यकाल का धार्मिक विश्वास कहीं अधिक प्रबल है। रवीन्द्रनाथ अनिवार्य तौर पर आधुनिक हैं; जबकि महात्मा गांधी वर्तमान समय के सेंट फ्रांसिस आव असीसी हैं।"

बंगाल के गवर्नर, लॉर्ड कारमाइकेल, जिन्होंने 1914 के आरंभ में कवि को स्वीडिश अकादेमी के निमित्त औपचारिक तौर पर नोबेल पुरस्कार और पदक प्रदान किया था, 20 मार्च को शांतिनिकेतन का परिभ्रमण किया। तब गांधी जी नौ दिन पूर्व शांतिनिकेतन से जा चुके थे। विदेश में स्वीकृति अर्जित करने के बाद, वे भारत में ब्रिटिश सरकार की आंखों में सम्मान के पात्र बन गए थे। अब वे दिन हवा हो चुके थे जब सरकारी कर्मचारियों को अपने बच्चों को उनके विद्यालय में भेजने की मनाही थी और उन्हें इस बात के लिए सावधान किया जाता था। अब बंगाल के सर्वोच्च अंग्रेज पदाधिकारी स्वयं कवि के प्रति अपना सम्मान व्यक्त करने आए थे। रवीन्द्रनाथ ने सम्माननीय अतिथि का हार्दिक स्वागत किया और उनकी अभ्यर्थना के लिए आश्रम में काफी बड़े पैमाने पर प्रबंध किये गए थे। इसमें वे 'देशभक्त' भी उपस्थित थे जिन्होंने विदेशी शासक के प्रतिनिधि को सम्मानित करने के लिए कभी रवीन्द्रनाथ की आलोचना की थी। रवीन्द्रनाथ इस तथ्य से अवगत थे कि उन्होंने जो कुछ किया है उनके ही कुछ देशवासियों की नजर में गलत समझा

जाएगा--और वे उनके सुधारवादी आचरण के लिए उनकी निंदा से कभी बाज नहीं आएंगे और उनकी रूढ़िवादिता के लिए उन्हें कोसा जाता रहेगा। वे इस बात को जानते थे और लोगों की आलोचना से आहत थे। वे राजनेताओं की इस कला से अनभिज्ञ थे कि लोगों को कैसे बहलाया जाता है और तभी वे इस बात से दुखी भी थे कि वे उन लोगों के दिलों को जीत नहीं पाए जिन्होंने अपने उन अंधविश्वासों में शामिल न होने के लिए कभी माफ नहीं किया जिनमें से सबसे बड़ा था--देशभक्ति का भ्रम और यह कि वे ईश्वर के चुने हुए लोग हैं।

रवीन्द्रनाथ की लेखनी, भले ही, प्रसिद्धिपूर्ण गर्व या लोकप्रियता की साख की गर्वमिश्रित छाया से मंडित रही हो, वे अन्यायपूर्ण आलोचना के प्रति बहुत संवेदनशील थे, क्योंकि यह आलोचना अगर विद्वेषपूर्ण न भी हो तो बहुधा अनुचित हुआ करती थी। जनवरी 1915 को, एंड्रयूज को लिखे गए अपने पत्र में, उन्होंने अपनी इस भाव-प्रवणता के बारे में लिखा था--

"आप ठीक कह रहे हैं। पिछले कुछ दिनों से मैं गहन अवसाद और क्लांति में डूबा हुआ था। लेकिन मैं अब पूरी तरह स्वस्थचित्त और प्रसन्न हूं और यह चाहता हूं कि अगर मेरे आलोचक मुझे बख्श दें तो मैं अगले सौ साल भी जीवित रहूं। उस समय मैं शारीरिक तौर पर भी परेशान था इसलिए जितना या जो कुछ भी मुझे आहत कर पाया था उसका एक अंश पूरी तरह से बेतुका था। तो भी, मैं इस बात से खुश हूं कि अब भी मेरे अंदर वह शिशु बैठा हुआ है जिसमें मानवीय स्वीकृति की मिठाई के प्रति ललक बनी रहती है। मुझे यह अनुभव नहीं करना चाहिए कि मैं अपने आलोचकों से बहुत ऊपर हूं। मैं यह भी नहीं चाहता कि मेरे लिए मंच पर कोई सिंहासन हो। मुझे अपने श्रोताओं के साथ उसी बेंच पर बैठने दीजिए और मुझे भी उसी तरह सुनने की कोशिश कीजिए, जिस तरह कि वे सुनते हैं। मैं यह सचमुच जानना चाहता हूं कि उनकी निराशा के मूल में उनकी सच्ची भावना क्या है और वे मेरे लेखन को क्यों पसंद नहीं करते हैं और जब मैं यह कहता हूं कि 'मुझे इसकी परवाह नहीं' तो मैं चाहता हूं कि वे मेरे इस कथन पर विश्वास न करें।"

उक्त प्रसंग के दस वर्ष पूर्व रवीन्द्रनाथ ने अपने एक गीत में कहा था--"वे तुम्हें पागल कहेंगे। तुम कल की प्रतीक्षा करना और चुप रहना। वे तुम्हारे सिर पर खाक डालेंगे। तुम कल का इंतजार करना। वे अपने साथ फूलों की माला लाएंगे।" और इस कल को आते आते सचमुच बहुत समय बीत गया।

और इसके पहले निराशा का चाहे जैसा भी दौर रहा हो अब वे पूरी तरह स्वस्थ और प्रसन्नचित्त थे और इस बात को उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'चार अध्याय' से अच्छी तरह समझा जा सकता है--जिसे वे उस समय 'सबुज पत्र' पत्रिका के लिए लिख रहे थे--जो बाद में 'चतुरंग' (उपन्यास) शीर्षक से प्रकाशित हुआ। यह परिपूर्ण प्रकृतिस्थ और प्रसन्नचित्त

सामान्य ज्ञान का एक शानदार साक्ष्यपत्र है।

रवीन्द्रनाथ जब तटस्थ भाव से, भावनाओं और पूर्वग्रहों से परे होकर संश्लिष्ट, सुन्यस्त और कसा हुआ कोई उपन्यास लिखते हैं, जिसमें संवेदना और विडंबना की अंतर्धारा बह रही हो, तो यह निस्संदेह एक श्रेष्ठ रचना हो उठती है। यही कारण है कि यह लघु उपन्यास रवीन्द्रनाथ की सर्वोत्तम कृतियों में से एक है और एक अधिकारी आलोचक ने इसके बारे में कहा है कि "यह एक ऐसी कलात्मक सर्जना है—जो सर्वथा निष्कलंक है।" इस कृति में सिर्फ चार अध्याय हैं और चार ही पात्र हैं। इनमें से एक सारी कहानी कहता है। इसका केंद्रीय पात्र युवक सचीश है, जो प्रबल आदर्शवादी है। सत्य और आंतरिक परिपूर्णता के प्रति उसके अनुसंधान को विभिन्न स्तरों पर देखा जा सकता है। वह अपने चाचा जगमोहन के प्रभाव में पलता-बढ़ता है, जिसके प्रचंड बुद्धिवाद और स्वाभाविक मानसिक औदार्य ने उसे अपने आरंभिक जीवनकाल में ही निरीश्वरवादी और आरोपित मानवतावादी बना दिया है। पहले अध्याय में जगमोहन के अनास्थावादी मानवतावाद को उसके भाई की ईश्वर आस्थावादी संकीर्णता और अर्थलिप्सा के प्रतिलोम के परिप्रेक्ष्य में रखा गया है।

सचीश, अपने पिता की संकीर्णतापूर्ण रूढ़िवादिता के विद्रोह में अपने चाचा के जीवन-दर्शन से प्रभावित हो जाता है। उसकी पहचान एक युवती से होती है जो अनाथ है। उसे स्वयं उसके अपने भाई ने भ्रष्ट किया था और अब वह सड़कों पर आ गई थी। वह उस लड़की को अपने चाचा के घर ले आता है, जो अब गर्भवती है। उसका चाचा उसे आश्रय प्रदान करता है, उसे अपनी बेटी की तरह मानता है। उसके भविष्य को बचाने के लिए सचीश उससे शादी का प्रस्ताव रखता है। लेकिन अपने आश्रयदाता के प्रति यह कृतज्ञ युवती अपने भ्रष्ट भाई से अब भी सच्चा प्यार करती है और आत्महत्या करना चाहती है ताकि उसे किसी और से शादी करने की शर्मिंदगी न झेलनी पड़े। यह घटना सचीश के मानवीय बुद्धिवाद द्वारा अर्जित विश्वासों को झकझोर कर रख देती है। इसके बाद ही, सारा कलकत्ता शहर प्लेग की चपेट में आ जाता है और चूंकि शहर में अस्पतालों की संख्या बहुत कम है—मानवतावादी चाचा अपने घर को गरीबों के एक अस्पताल के तौर पर इस्तेमाल करने लगते हैं और रोगियों का खुद इलाज भी करने लगते हैं। उन्हें भी छूत की यह बीमारी लग जाती है और वे मर जाते हैं। इस पर उनका एक कट्टरपंथी भाई टिप्पणी करता है—"वह इसी लायक था।"

सचीश अपने चाचा की मौत के बाद उद्विग्न हो उठता है और आस्था-विश्वास की तलाश में इधर-उधर भटकता फिरता है जिससे कि वह अपने जीवन का शून्य भर सके। वह एक अनोखे साधक की संगति में पड़कर उसका चेला बन जाता है। वह इस तरह अपने 'पलायन' पर तब तक खुश है जब तक कि गुरु की अनिच्छुक और विद्रोहिणी शिष्या—एक जवान और विधवा-युवती उसकी तरफ से सचीश का ध्यान नहीं हटाती। यह

युवती दामिनी पूर्वलिखित 'चोखेर बाली' की विनोदिनी की तरह, रवीन्द्रनाथ के ऐसे कुछ जीवंत और यथार्थ चरित्रों में है--कि अगर पाठक एक बार इससे परिचित हो लें तो इसे शायद ही कभी भूल सकें। दामिनी सचीश को प्यार करने लगती है और गुरु के प्रति उसका सम्मान कम होता जाता है क्योंकि उसकी बनावटी करुणा अब उसे छल नहीं पाती। सचीश यह विश्वास करता है कि मानवी-प्रेम भी एक फंदा ही है। वह दामिनी की भरसक उपेक्षा करता है लेकिन वह ऐसा कर नहीं पाता क्योंकि वह उसकी ओर से पूरा सचेत है। एक बार रात्रि में यह दल किसी गुफा में डेरा डालता है तो सचीश को नहीं पाता। वह इस बेतुके डर से आतंकित है कि कोई आदिम पशु इस गुफा में छिपा हुआ है और अपने खूनी पंजे फैलाये उस पर टूट पड़ने वाला है। उसे लगता है कि कोई उसका पांव छू रहा है। आतंक की काली छाया में वह उस पर जोर से लात चला देता है। यह आघात और कहीं नहीं, दामिनी के वक्ष में लगता है।

दामिनी के विचारों से पलायन में असमर्थ सचीश अंततः उससे छुटकारा पाने की भीख मांगता है। वह स्वेच्छा से उसके मोहजाल से मुक्त होना चाहता है हालांकि दामिनी उसे पाना चाहती है। वह स्त्रियोचित अंतर्दृष्टि से इस बात को ताड़ जाती है कि उसके लिए प्रेम एक पाशविक ललक है--जो कि उसके और उसकी तलाश के बीच खड़ी है। सचीश प्रेम के सच्चे आशय को स्वीकार करने में अक्षम है। वह उसका पीछा करना छोड़ देती है और इस उपन्यास के चतुर्थ पात्र यानी इसके वाचक श्रीविलास से विवाह रचा लेती है जो कि दामिनी के प्रेम में आकंठ डूबा है। वह उसके जीवन को खुशियों से भर देती है लेकिन कुछ ही दिनों के लिए, क्योंकि जल्द ही उसकी मृत्यु हो जाती है। वह आघात--जो कभी उसके वक्ष में लगा था--उससे वह कभी उबर नहीं पाती। उसका आत्मोत्सर्ग सचीश को न केवल उसके मोहजाल से बल्कि उस धार्मिक आश्रय के सम्मोहन से भी मुक्त करता है--जिसे किसी पलायन से थोड़ा ही बेहतर कहा जा सकता है। वह एक निराश लेकिन समझदार व्यक्ति की तरह कलकत्ता स्थित अपने मानवतावादी प्रतिष्ठान की शरण में लौट आता है।

जिस वर्ष 'चतुरंग' छपा उसी वर्ष रवीन्द्रनाथ का दूसरा महत्वूपर्ण उपन्यास 'घरे बाइरे' (घर और संसार) भी प्रकाशित हुआ। इसमें तीन प्रमुख चरित्र अपने अपने विचारों को डायरी के माध्यम से व्यक्त करते हैं। इसका परिदृश्य बीसवीं सदी के पहले दशक के उन तूफानी सालों की राजनैतिक उत्तेजनाओं से भरा है और स्वयं रवीन्द्रनाथ ठाकुर जिनके भंवर-चक्र में कुछ समय के लिए पड़ गए थे। यह उपन्यास उन आलोचकों को करारा उत्तर था जिन्होंने उन पर पलायन या अपसरण का अभियोग लगाया था। और यह प्रत्युत्तर ऐसे लोगों को बुरी तरह छील गया था क्योंकि इस उपन्यास ने बड़े तीव्र ढंग से उनके अपमान को उकसाया। इसमें चित्रित क्रांतिकारी देशभक्त को रत्तीभर नैतिक संकोच नहीं है कि

वह अपने दोस्त को कैसे मूर्ख बना रहा है, अपनी विश्वस्त पत्नी को कैसे धोखा दे रहा है? यह सब इतनी सजीवता से रचा गया है कि इसके लेखक को ही अनैतिक और राष्ट्रद्रोही मान लिया गया। इसके प्रकाशन के तीन साल के बाद भी इसके आलोचक इस उपन्यास के पन्ने फाड़ फाड़कर फेंकते रहे--जो कि इस बात का उदाहरण है कि उनके दिलो-दिमाग पर इस उपन्यास का कैसा जबरदस्त प्रभाव पड़ा था।

इस उपन्यास का परिवेश आरंभ से ही तनावपूर्ण है। यह उस दौर के तनावों को अभिव्यंजित करता है जो कि इसमें अंकित है। यह राष्ट्रीय संक्रांति काल का तूफानी दौर था--जब कि विद्रोहपूर्ण उन्माद की उथल-पुथल मची थी और आदर्श तथा स्वार्थ के बीच भारी टकराव था। यह विषादपूर्ण आख्यान विचारों की कौंध और एक-दूसरे के विरुद्ध तर्क की चौंध से भरा है। इसमें टकराव ही टकराव है--नए के साथ पुराने का, राज्य सत्ता बनाम आदर्शवाद का, साध्य और साधन का, अधिकार पूर्ण प्रेम और प्रेम की स्वतंत्रता का, और बाहरी जंगली हवा के साथ ग्राहस्थिक या घरेलू मूल्यों का। हालांकि यह एक कवि का घोषणा-पत्र है, लेकिन साथ ही यह उपन्यास गांधी के अहिंसा दर्शन के प्रेम और सत्य का समर्थन है। यह इस बात की अनवरत चेतावनी भी है कि दूषित साधन साध्य या परिणति को निश्चित तौर पर दूषित कर देते हैं, भले ही वह बड़ी सदाशयता से स्वीकार किए गए हों। कोई भी पाठक जब इसे पढ़ना शुरू कर देता है--तो वह इस बात को समझ जाता है कि रवीन्द्रनाथ और गांधी जी की भावना में कितनी समानता है, और किसी भी व्याख्या से यह बेहतर उदाहरण है, भले ही ऊपरी तौर पर उनके रास्ते अलग अलग दीख पड़ते हैं।

इस उपन्यास का कथानक रवीन्द्रनाथ के किसी भी कथानक की तरह एकदम सहज है--सामान्य और स्वाभाविक, एक पुराना त्रिकोण--दो पुरुष और एक स्त्री। निखिल, एक उपाधिप्राप्त अभिजात पुरुष है--एक गांव में उसकी लंबी-चौड़ी जमींदारी है--और सामान्य तौर पर वह अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। वह जितना अच्छा है उतना ही सच्चा। हालांकि टाल्स्टाय ने ऐसे पात्रों को पहले से ही परिचित बना रखा था। स्वयं रवीन्द्रनाथ ने जीवन में और अपने उपन्यासों में ऐसा ही जीवन जीने की कोशिश की थी--जब वे अपनी पारिवारिक जमींदारी की देखभाल कर रहे थे। हालांकि, यह चरित्र जैसा कि इस उपन्यास में से उभरता है, वास्तविक से कहीं ज्यादा अवास्तविक है। उसका मित्र और आश्रित संदीप एक साथ एक देशभक्त, क्रांतियोद्धा, घोर बातूनी और बेशर्म किस्म का प्रवंचक है--सिवाय इसके कि वह जो भाषा बोलता है वह केवल रवीन्द्रनाथ ही उसके मुंह में डाल सकते थे।

निखिल की पत्नी है विमला--एक साधारण और घरेलू किस्म की महिला--लेकिन जब उसके उत्साह और गौरव की बात होती है--तो वह असाधारण हो उठती है--उसका चरित्र जीवंत और प्रभावी हो उठता है। वह संदीप की प्रचंड वाग्मिता के प्रभाव में आ जाती है;

यह प्रशंसा जल्द ही संदीप की ऐंद्रिक तेजस्विता के गर्म श्वासों के आकर्षण में ढल जाती है। विमला अपनी डायरी में लिखती है, "मैं अब तक गांव के सिवान में बहने वाली एक छोटी-सी नदी थी। लेकिन तभी समुद्री ज्वार आया और उसमें मेरा वक्ष डूबने-उतरने लगा, मेरे किनारों ने उसके लिए रास्ता छोड़ दिया और उस पंकिल धारा में समुद्री लहरों का विराट दुंदुभि-स्वर प्रतिध्वनित होने लगा। मैं अपने रक्त में उस महास्वर का अर्थ नहीं समझ पाई।" निखिल को पता है कि उसकी पत्नी और उसके मित्र के बीच क्या-कुछ चल रहा है और वह चाहे तो इस खेल को यहीं खत्म कर सकता है। लेकिन वह बाहरी संसार की खुली प्रतियोगिता और निर्बाध आकांक्षा के आलोक में प्रेम को विशेष महत्व देता है और वह भी किसी बाध्यता या दबाव के अधीन नहीं। इन तीनों के बीच क्या होता है—इसे पाठक स्वयं पढ़कर जान सकते हैं क्योंकि इस उपन्यास का अंग्रेजी संस्करण 'द होम एंड द वर्ल्ड' शीर्षक से प्राप्त है।

यह उपन्यास कई अर्थों में महत्वपूर्ण है—जितना कि किसी एक उपन्यास में संभव है। रवीन्द्रनाथ तब अपने देश (घर) के प्रति प्रेम और विश्व के प्रलोभन के द्वंद्व में फंसे थे। विदेश-प्रवास की विजयी यात्रा के समृद्ध अनुभव के बाद उन्हें घर के जीवन की एकरस चर्चा फीकी और निष्प्रभ लगने लगी थी। वे एक बार फिर उद्विग्न हो चले थे। "मुझे खुली राह अब भी पुकार रही थी, जबकि ज्यादातर रास्ते बंद हो चुके थे।" ऐसा उन्होंने एंड्रयूज को 1915 में लिखा था, "मैं एक परिव्राजक की मनोदशा में हूं लेकिन यह मेरे लिए कष्टकारक हो रही है—क्योंकि मुझे आजादी चाहिए। मैं चीख रहा हूं, क्योंकि मेरी पीठ पर पहले की ही तरह मेरा तंबू लदा है, और मैं कहीं डेरा नहीं डाल पा रहा हूं।" दूर से आती नगाड़े की आवाज उन्हें पुकार रही थी। ऐसे भी कई नए विश्व थे—जिनका अन्वेषण करना था—और अभिनव मानस थे, जिनसे मिलना था। उन्होंने महसूस किया कि उन्हें कुछ कहना है और उनकी आवाज विश्व की चेतना तक अवश्य पहुंचनी चाहिए। उस समय यूरोप के सारे देश परस्पर नरमेध की रंगरेलियों की खुमारी में डूबे थे, लेकिन जापान और अमेरिका इससे अलग और तटस्थ हैं (ऐसा उन्होंने सोच लिया था)। वे उनके मानवीय और सौहार्दपूर्ण संदेश को सुनेंगे और पूरब और पश्चिम के लोग इस नितांत तात्कालिकता को समझने की कोशिश करेंगे कि दो गोलार्धों के मिलने से ही एक पूरा विश्व बनता है।

रवीन्द्रनाथ वर्ष 1915 में जापान जाने की योजना बनाते रहे और इस बारे में उन्होंने 4 अप्रैल को रोथेन्स्टाइन को पत्र लिखा था, "मैं फिलहाल जापान जाना स्थगित कर रहा हूं। ऐसा नहीं है कि मेरे उत्साह को कोई झटका लगा है या कि मेरी तैयारी में कोई कमी है बल्कि इसलिए कि कोई अनहोनी हो जाए और आधुनिक लड़ाई किसी तरह रुक जाए। यूरोप की उलझनों के चलते मेरी आर्थिक स्थिति भी निराशाजनक हो गई है।" लेकिन रवीन्द्रनाथ को अपना कार्यक्रम अधिक दिनों तक स्थगित नहीं रखना पड़ा। मई 1916

में, जब युद्ध चल ही रहा था—वे जापान की यात्रा पर निकल पड़े। उनके साथ एंड्रयूज और पीयर्सन भी थे। वे एक जापानी जहाज से यात्रा कर रहे थे। वे जहाज के कप्तान और बेड़े के दूसरे सदस्यों के अनुशासन, कार्यक्षमता और मित्रता से बहुत प्रभावित हुए और उनका जापानी जहाज के साथ स्वभावतया जापानी खाने का शौक भी शुरू हो गया; ठीक वैसे ही जैसे कि भारतीय खाद्य पदार्थों का नाम उनकी उंगलियों पर रहा करता था।

रंगून में, जहां उनका दल दो दिनों के लिए रुका रहा, वे प्रफुल्ल बर्मी स्त्रियों को देखकर मुग्ध हो गए। यहां की स्त्रियां पुरुषों की अपेक्षा अधिक मेहनती थीं। हांगकांग में, स्त्रियों के लावण्य और शक्ति, जो कि शारीरिक श्रम के समंजन से मानवशरीर को प्राप्त होती है, को देखकर बड़े प्रभावित हुए। एक बंदरगाह पर चीनी श्रमिकों को काम करते देखकर उन्हें लगा कि उनकी अधनंगी देह रोशनी से चिलक रही है। उन्होंने लिखा, "उनकी देह जैसे किसी मशीनी पुर्जे की तरह कसी थी, पूरी तरह सांचे में ढली—उनमें कहीं किसी तरह की शिथिलता नहीं थी... उनकी देह से श्रम इस तरह छलक रहा था जैसे किसी सारंगी से स्वर फूटता है।..." इसके बाद उन्होंने चीन के बारे में और क्या कुछ लक्ष्य किया, यह भी उद्धृत करने योग्य है--"लोगों में श्रम-शक्ति, कौशल और कार्य का समन्वित आनंद एकत्रित देखकर, मुझे यह ज्ञान हो गया है कि इस महान देश में यहां से वहां तक ऊर्जा का मानो जबरदस्त ज्वार-सा फैला है। और तब जब कि यह प्रबल शक्ति अपने योग्य आधुनिक साधन पा लेगी, दूसरे शब्दों में, जब विज्ञान इसके नियंत्रण में आ जाएगा, तब भला दुनिया में ऐसी कौन-सी ताकत है जो इसका सामना करने के लिए आगे बढ़ेगी? इसके बाद साधनों के साथ कार्य करने की प्रतिभा भी साथ साथ जुड़ती चली जाएगी। ऐसे सभी राष्ट्र जो इस पृथ्वी का आनंद भोग रहे हैं, चीन के जागरण की आशंका से त्रस्त हैं और उस दिन से अपनी आंखें मुंदी रखना चाहते हैं, जो उनके लिए सुखकर नहीं हैं।"

रवीन्द्रनाथ जापान में, तीन महीने से भी कुछ ज्यादा दिनों के लिए रुके। वे वहां कई स्थानों पर भ्रमण करते रहे। जापानी जीवन और परिदृश्य ने उन्हें बहुत आकर्षित किया, विशेषकर वहां के लोगों की अनुशासन भावना से, उनके तन-मन की सहनशील प्रवृत्ति, अभिव्यक्ति पर आत्मनियंत्रण, सौंदर्य के प्रति प्रेम और वहां की स्त्रियों की सौम्यता से वे बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने इस बात का अपनी डायरी में उल्लेख करते हुए टिप्पणी की है, "मैं जब से यहां आया हूं मैंने किसी को सड़क पर गाते नहीं सुना।" इन लोगों का हृदय झरने की तरह स्पंदित नहीं है बल्कि झील की तरह प्रशांत है। मैंने अब तक उनकी जितनी भी कविताएं सुनी हैं, वे सभी चित्र-गीत हैं, गान-गीत नहीं।"

जापानी कविताओं की संक्षिप्तता के महत्वपूर्ण प्रभाव की गूंज उनके मानस में तब भी बनी रही जब कभी वे युवतियों के अनुरोध के अनुरूप उनके पंखों और हस्ताक्षर पुस्तिकाओं पर कुछ लिख रहे होते थे। ये निर्बंध मुक्तक या लघु-गीत बाद में संग्रहीत

और 'स्ट्रे वर्ड्स' में प्रकाशित हुए। इनमें से कुछ बंग्ला से अनूदित थे और कुछ सीधे अंग्रेजी में लिखे गए थे। इनको उच्च कोटि की साहित्य-सर्जना नहीं माना जा सकता लेकिन इनमें से कुछ अपने आप में प्रभावी और रोचक हैं। इनमें से कुछ नमूने के तौर पर उद्धृत हैं–

–"मैं सर्वोत्तम को चुन नहीं सकता। सर्वोत्तम मुझे चुनता है।"

–"प्रत्येक शिशु ईश्वर का संदेश लेकर आता है कि ईश्वर मनुष्य से अब तक हताश नहीं हुआ।"

–"वह जो कुछ अच्छा करने में व्यस्त है, इस बात के लिए समय नहीं निकाल पाता कि वह अच्छा दीख पड़े।"

इन्हीं में से एक में जापान के प्रति भविष्यवाणी की गई थी–

–"तुम्हारा खिलौना धूल में बिखरा है, यह साबित करने के लिए कि ईश्वर की धूल तुम्हारे खिलौने से महान है।"

हालांकि जापानियों ने बुद्ध की भूमि से आए कवि मनीषी रवीन्द्रनाथ का बड़ी गर्मजोशी से स्वागत किया था–लेकिन उनका उत्साह तब बुझ गया जैसे ही उन्होंने पश्चिमी सभ्यता के मानवीय मूल्यों को नकार कर राष्ट्र के नाम पर शक्तिलोलुपता और सामूहिक अहंमन्यता की अंधी दौड़ और अंधानुकरण के विरुद्ध व्याख्यान देना शुरू किया। "यूरोप का मुखड़ा तब तक सचमुच बड़ा हितकर जान पड़ता है जब तक उसका मुंह मानवता की तरफ मुड़ा रहता है; लेकिन अपनी महानता की तमाम शक्तियों का इस्तेमाल करते हुए जब वह मनुष्य के शाश्वत और आंतरिक भाव के विरुद्ध स्वार्थांध हो उठता है तो उसका चेहरा सर्वाधिक विद्रूप और भयंकर हो उठता है। उन्होंने जापानियों के आधुनिक होने के लिए उनकी सराहना की और साथ ही यह चेतावनी भी दी कि "सच्ची आधुनिकता मानसिक स्वतंत्रता है, स्वाद की गुलामी नहीं। यह विचारों और कार्यों की स्वतंत्रता है, यूरोपीय स्कूली शिक्षक का ट्यूशन नहीं। यह विज्ञान है, लेकिन जीवन में इसका गलत विनियोग नहीं।" लेकिन उनकी वाणी किन्हीं बहरे कानों में पड़ रही थी, क्या वे स्वयं एक पराजित और परतंत्र देश के कवि नहीं थे?

सितंबर, 1916 में रवीन्द्रनाथ सीटल के लिए समुद्री यात्रा पर रवाना हुए। तभी यूनाइटेड स्टेट्स की दूसरी यात्रा के दौरान दिए गए व्याख्यानों का संकलन 'नेशनलिज्म' और 'पर्सनेलिटी' दो खंडों में प्रकाशित हुआ। व्याख्यानों का परवर्ती खंड जिसमें निहित कला, शिक्षा, दर्शन तथा मानव के व्यक्तित्व में दैवी संभावना के समन्वय लिए रवीन्द्रनाथ के गहन चिंतन की जहां भरपूर सराहना हुई, वहीं एक शैतानी संप्रदाय के रूप में उभरे राष्ट्रीयतावाद की दो टूक भर्त्सना के चलते अमेरिकन प्रेस द्वारा उन पर तीखे हमले भी किए गए। 'द डेट्रॉयट जर्नल' ने चेतावनी देते हुए लिखा, "ऐसे मीठे सैकरिन के दिमागी जहर द्वारा रवीन्द्रनाथ इस महान यूनाइटेड स्टेट्स के युवकों का मस्तिष्क विषाक्त कर देंगे।"

इस प्रायोजित व्याख्यान-यात्रा के व्यस्त कार्यक्रम और अमेरिकन जीवन की तूफानी आपाधापी के आदी न होने के कारण तथा अपनी संवेदनशीलता पर आंच आने की वजह से रवीन्द्रनाथ के स्वास्थ्य पर प्रतिकूल असर पड़ा और सेन फ्रांसिस्को में प्रवास के दौरान अपने ही देशवासियों द्वारा उकसाई गई एक बेहूदी घटना के कारण उनकी तबियत और बिगड़ गई। एक क्रांतिकारी संगठन 'गदर' पार्टी से संबद्ध कुछ उग्र भारतीय युवक, जो प्रबुद्ध होने की अपेक्षा कहीं कट्टर देशभक्त थे, उन्होंने रवीन्द्रनाथ द्वारा राष्ट्रीयतावाद की भर्त्सना को भारतीय राष्ट्रीयतावादी आकांक्षाओं के विरुद्ध विश्वासघात समझने की भूल की। कुछ वर्ष पूर्व ब्रिटिश सरकार ने रवीन्द्रनाथ को 'नाइट' की उपाधि से सम्मानित किया था और इन मतवाले राष्ट्रभक्तों ने इन दोनों को साथ मिलाकर यह समझ लिया कि यह 'भारतीय नाइट' एक ब्रिटिश एजेंट है, जिसे यूनाइटेड स्टेट्स इसलिए भेजा गया है कि वह अपने देश को बदनाम कर सके। दूसरी तरफ ब्रिटिश अधिकारी, रवीन्द्रनाथ द्वारा युद्ध की घोर भर्त्सना किए जाने से बेचैन और उद्विग्न थे और इस बात से सशंकित हो उठे थे कि अमेरिकी दिमाग पर उनके व्याख्यानों का क्या प्रभाव पड़ सकता है? इसलिए उन्होंने इस अफवाह को फैलानेवालों के विरुद्ध कुछ नहीं कहा जो यह बता रहे थे कि इस भारतीय कवि का जर्मन प्रोपेगंडा द्वारा इस्तेमाल किया जा रहा है तथा अमेरिका की सहानुभूति को ब्रिटिश और मित्र देशों के युद्ध प्रयासों के विरुद्ध अलग-थलग करना चाह रहा है। इस तरह निर्दोष रवीन्द्रनाथ को दोनों ही शिविरों द्वारा निशाना बनाया गया और उन पर कीचड़ उछाला गया। इससे कवि ने स्वयं को बुरी तरह आहत और अपमानित महसूस किया और वापस घर लौटने की चिंता में डूब गए—ऐसा पहली बार हुआ था। अपने व्याख्यान अनुबंध को अधूरा छोड़कर वे जनवरी 1917 को जापान के लिए रवाना हो गए।

जापान में एक महीने के प्रवास के बाद, रवीन्द्रनाथ मार्च 1917 में भारत लौटे। वहां उन्होंने आक्रामक राष्ट्रीयतावाद का चेहरा नहीं देखा, बल्कि जो दिखा था वह स्वयं अपने ही देश द्वारा दमित राष्ट्रीयतावाद का मुखौटा था, जहां के युवक अपने ही राष्ट्र की रक्षा में अब किसी स्थान पर जान दे रहे थे। दूसरी तरफ भारत की ओर से जिस साहसी महिला की आवाज उस समय बड़े जोर-शोर से उठाई जा रही थी वह थीं श्रीमती ऐनी बेसेंट, जिन्होंने भारत के होमरुल की जोरदार वकालत की थी। उन्हें मद्रास सरकार के एक आदेश द्वारा नजरबंद कर रखा गया था। रवीन्द्रनाथ उनके विशिष्ट गुणों के प्रशंसक थे। सार्वजनिक तौर पर उन्होंने उनकी नजरबंदी के खिलाफ आवाज उठाई भी थी। वे एक बार फिर उस राजनीतिक रणभूमि में झोंक दिए गए थे, जिसका तूफ़ानी केंद्र अब केवल बंगाल तक सीमित नहीं रह गया था। अब वे इतने महत्वपूर्ण हो चुके थे कि अकेले ही काफी थे। लेकिन हमेशा की तरह जब उन्होंने देखा कि उनके लोग परेशान किए जा रहे हैं तो उन्होंने बड़ी उद्विग्नता से चुप्पी साध ली। कलकत्ता की एक सार्वजनिक सभा में उन्होंने अपनी नई

राष्ट्रभक्तिपूर्ण गीत-संरचना द्वारा अपने श्रोताओं का दिल जीत लिया। उस वर्ष के अंत में, जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन कलकत्ता में आयोजित हुआ तो उन्होंने इसके शुभारंभ वाले दिन अपनी लंबी कविता पढ़ी, जिसे 'भारत-प्रार्थना' (इंडियाज़ प्रेयर) के नाम से जाना जाता है। इस अवसर पर वहां उपस्थित सभी नेताओं ने उनकी भरपूर प्रशंसा की।

रवीन्द्रनाथ का स्वास्थ्य उनका साथ नहीं दे रहा था। मानसिक तनाव का भी इसमें भारी हाथ था। केवल कार्याधिक्य या व्यस्तताओं के दबाव के नाते ही नहीं बल्कि आंतरिक द्वंद्व का भी कहीं गहरा प्रभाव था—और वह था कवि और देशभक्त के बीच का शाश्वत संघर्ष। कवि बनाम मसीहा का अंतर्द्वंद्व। इसमें जब कवि का पलड़ा भारी होता तो वह सब कुछ छोड़कर गीत गाना चाहने लगता, वह प्रकृति और जीवन के हृदयपटल को निहारना चाहता था। जैसा कि वह खुद कहते हैं, "और कुछ नहीं, बल्कि खुश होने के लिए।" लेकिन जब देशभक्त या मसीहे को उत्तेजित किया जाता तो कवि यह देखता कि ईश्वर की तुरही धूल में पड़ी है और तब यह उसका कर्तव्य बन जाता कि वह इसे उठा ले और युद्ध का आह्वान करे। रवीन्द्रनाथ अपने आत्म-संघर्ष से और इस अनिश्चितता से अवगत थे और यह भी जानते थे कि उनके प्राथमिक कर्तव्य का स्वधर्म है, एक गायक की तरह गाना। वह ईश्वर के चारण हैं न कि उसके सेनानी। उन्होंने काफी पहले एंड्रयूज को अपने एक पत्र में लिखा भी था, "मुझे उपदेश देना बिल्कुल छोड़ देना चाहिए; साथ ही, दूसरों के लिए परोपकारी देवदूत की भूमिका भी छोड़ देनी चाहिए। मैं अब यह प्रार्थना कर रहा हूं कि मुझे अपने अंतर का भी प्रकाश प्राप्त हो, ऐसा न हो कि मैं केवल अपने हाथ में मशाल थामे रहूं।"

लेकिन रवीन्द्रनाथ की स्थिति ऐसी नहीं थी कि वे हाथ में केवल प्रकाश-प्रदीप थामे खड़े रहें। डाक्टरों ने उन्हें पूरे तौर पर आराम करने की सलाह दी। डाक्टरों के इस आदेश का सर्वथा उल्लंघन किया गया जो उनके पत्रों की संख्या से ही स्पष्ट है, जो रोजाना उनके हाथों से लिखे जाते थे। इनमें से एक पत्र, जो गांधी जी की जिज्ञासा के उत्तर में लिखा गया था, बहुत ही महत्वपूर्ण है क्योंकि यह भारत के भाषा विवाद से संबंधित है और आज तक कायम है। वे गांधी जी की इस बात से पूरी तरह सहमत हुए, "अंतरप्रांतीय संबंधों के लिए हिंदी ही भारत की संभावित राष्ट्रभाषा है," वे इसमें आगे जोड़ देते हैं कि "मद्रास के लोगों के लिए यह एक विदेशी भाषा है," और इसके साथ ही दूसरे कारणों से भी, "हमारे राष्ट्रीय कार्य कलापों में हिंदी की वैकल्पिक स्थिति तब तक बनी रहेगी जब तक कि राजनीतिज्ञों की नई पीढ़ी इसके महत्व से पूरी तरह परिचित हो और इस राष्ट्रीय प्रावधान को स्वेच्छया स्वीकृति प्रदान करते हुए निरंतर व्यवहार के लिए इसका पथ प्रशस्त करे।"

देश की राजनैतिक स्थिति दिन-प्रतिदिन बदतर होती चली जा रही थी। रवीन्द्रनाथ

ने जिस बात की चेतावनी दी थी वह दुर्भाग्य से सच होती जा रही थी। समुचित संरचनात्मक साधन के अभाव में, बंगाली युवकों की उद्विग्नता भूमिगत हो चुकी थी और क्रमशः उग्रवादी कार्यों में परिणत हो रही थी। ब्रिटिश सरकार जो यूरोप में अपनी विजय से आश्वस्त थी, अब बड़ी नृशंसता से प्रतिशोध लेने को तैयार थी। हिंसा को प्रबल प्रतिहिंसा द्वारा; घृणा को घोरतर घृणा से निपटा जाने लगा। शक्ति का यह सदियों पुराना दर्शन चतुर्दिक तबाही मचाने लगा। रवीन्द्रनाथ, जिन्हें आतंकवाद में कभी विश्वास नहीं रहा, यहां तक कि न्यायोचित देशभक्तिपूर्ण उद्देश्य के लिए भी नहीं, जिस विरोध के कारण उनकी प्रसिद्धि भी दांव पर लग गई थी, ब्रिटिश सरकार के बर्बरतापूर्ण दमन और बहादुर युवकों को दी जानेवाली यातना के मूकदर्शक नहीं बने रहे। निजी तौर पर उनके प्रति वह कितने सक्रिय बने रहे--अपने आवेगपूर्ण सार्वजनिक प्रतिरोध के अलावा--इसकी सूचना उनके निम्नलिखित पत्र से मिलती है, जो उन्होंने 18 फरवरी 1918 को, डाक्टरों की इस सख्त हिदायत के बावजूद कि वे पूरी तरह आराम करें मि. गौरले (बंगाल के गवर्नर के निजी सचिव) को लिखी थी--

"मैंने जब पिछली बार आपको पत्र लिखा था तो मैंने सोचा था कि इससे दुनिया में किसी का भी कोई नुकसान नहीं होगा--अगर मैं गलत ढंग से होनेवाली चीजों को ठीक करने की बजाय केवल लेखनी तक स्वयं को सीमित रखूं। लेकिन कभी कभी स्थितियां ऐसी आती हैं कि सिर्फ अपने विशिष्ट रचना-कर्म की शरण में पड़े रहना अत्यंत लज्जास्पद हो उठता है। विशेषतौर पर तब जबकि मुझे एक विश्वसनीय स्रोत द्वारा ज्ञात हुआ है कि एक राजनयिक बंदी के साथ बड़ा ही अमानवीय व्यवहार किया जा रहा है, मैं आपको दोबारा यह पत्र लिखने को बाध्य हुआ हूं।"

ऐसे बहुत-से मामले थे, जिनको रवीन्द्रनाथ ने समर्थन दिया था और इनमें से हर एक ने उनको भावात्मक स्तर पर बड़े तनाव में रखा था। इस तनाव के साथ उन्हें वह जबरदस्त मानसिक दुश्चिंता भी झेलनी पड़ रही थी, जो उनकी सबसे बड़ी और सबसे प्यारी बेटी बेला की गंभीर बीमारी से पैदा हुई थी। बेला इसी वर्ष मई माह में चल बसी। इसी वर्ष 28 फरवरी को रवीन्द्रनाथ ने पीयर्सन को, जो इन दिनों चीन में थे, पत्र में लिखा था--

"मैं एक बार फिर कलकत्ता से शांतिनिकेतन आ गया हूं, क्योंकि बेला की तबियत बहुत ही बिगड़ गई है। मृत्यु जीवन का अनिवार्य प्रतिपक्ष है, यह अपरिहार्य है और मैं इसके प्रति विशेष भयभीत नहीं होता। लेकिन रोग अवश्य ही एक बुरी बला है और जब तक हम नहीं जान पाते कि इससे कैसे जूझना है, यह किसी को भी पूरी तरह विद्रोही बना देता है।"

रवीन्द्रनाथ का हृदय क्रमशः और कैसे विद्रोही बनता जा रहा था, यह उन कहानियों और घटनाओं से स्पष्ट हो जाएगा, जिन्हें वे अपनी कविताओं में प्रस्तुत कर रहे थे और

जो कि उसी वर्ष 'पलातक' (फ्यूजिटिव/भगोड़ा) शीर्षक से प्रकाशित हुईं। दो वर्ष पूर्व प्रकाशित 'बालक' में उनकी कविताओं को जैसे कल्पनाओं के पंख लग गए थे और वे आकाश की ओर उड़ान भरती दिखती थीं--परिवर्तनशील विश्व में शाश्वत सौंदर्य से और एक गंभीर आत्मविश्वास से भरी--जिसमें हर वस्तु अपनी शाश्वत गति में तरंगित है और किसी अनंतर सत्ता के चारों ओर घूम रही है। कोई नहीं जानता कि कैसे और कहां? लेकिन यह गति ही आनंद है और अपने आप में संपूर्ण। 'पलातक' में कवि रवीन्द्र धरती पर उतर आते हैं, जीवन की वेदना और विडंबना के साथ इसके अस्थायी आनंद और दुर्बल संकल्पों पर पुनर्विचार करते हैं।

ये कहानियां जहां बड़ी सादगी से कही गई हैं, वहां कविताएं स्वच्छंद और सुनम्य हैं, इनमें निहित छंद आख्यानों की गति के साथ बड़ी सहजता से तालमेल बनाए रखते हैं, जबकि इनकी भाषा आम बोलचाल की और सजीव है। संकलित कहानियां दैनंदिन जीवन से जुड़ी हैं और तनिक अवसादपूर्ण हैं जो हिंदू परिवारों में स्त्रियों के जीवन के इर्दगिर्द घूमती हैं और उनकी हताशा, उनकी शालीनता और पीड़ा को झेलने की उनकी शक्ति से जुड़ी हैं। ये कहानियां बड़ी सुरुचि, सौम्यता और भावात्मक कमनीयता से प्रस्तुत की गई हैं और कोरी भावुकता से कोसों दूर हैं। ये कहानियां चूंकि तभी लिखी गई थीं, जिस वर्ष उन्होंने अपनी सबसे बड़ी बेटी की तकलीफ और उसकी अकाल मौत को देखा था। इसलिए इन कहानियों में उनकी व्यक्तिगत पीड़ा स्पष्ट रूप से झलकती है--वह पीड़ा जिसे उन्होंने बड़े धैर्य और नम्रभाव से झेला था। इसलिए उनकी सहानुभूति उन सबके साथ प्रगाढ़ हो चली थी जो जीवित रहते हैं, आजीवन कष्ट झेलते रहते हैं।

इन कहानियों में संयुक्त हिंदू परिवार के प्रति सर्वनाशी अभियोग-पत्र देखा जा सकता है जो अन्यत्र मुश्किल है। ऐसा इसलिए है कि यह किसी प्रकार के विद्वेष से परे है। ऐसी ही एक कहानी में मृत्यु शय्या पर घर की पुत्रवधू द्वारा किया गया आत्मालाप है--जो उसके होठों पर आकर ठहर गया है, बताता है कि वह कैसे लगातार बाईस साल तक कोल्हू के बैल की तरह अपने पति और परिवार की सेवा में निरस भाव से जुती रही। चूंकि अब वह मर रही है इसलिए वह कोई भी दवाई लेने से इनकार करती है क्योंकि उसका जीवन ही रोग बन गया है और केवल मौत ही इससे उसकी रक्षा कर सकती है। वह चाहती है कि उसके घर की सारी खिड़कियां खोल दी जाएं और ताजी हवा अंदर आ सके क्योंकि महानतर स्वतंत्रता का देवदूत उसके सामने खड़ा है। यह मृत्यु शय्या उसके लिए सुहाग-शय्या बन गई है और वह मृत्यु की प्रतीक्षा कर रही है ताकि उसकी बांहों में सिमटकर वह उस आनंद का आलिंगन पा सके, जो उसने अपने जीवन में कभी नहीं पाया।

यहां एक नन्हीं-सी मंजुली भी है, जिसका विवाह एक ऐसे आदमी से किया गया है जो 'उससे उम्र में पांच गुना' ज्यादा है। इस विवाह को स्वीकृति देने वाले और कोई नहीं,

स्वयं उसके पिता हैं–जो बड़े आत्मसजग हैं, शास्त्रों से निरंतर श्लोक उद्धृत करते रहते हैं और हमेशा हुक्का गुड़गुड़ाते रहते हैं। मंजुली को जल्द ही वैधव्य प्राप्त होता है और वह एक आकर्षक युवती के रूप में अपने घर लौटती है। अपनी पुत्री के अभिशप्त यौवन को देखकर उसकी मां का कलेजा टूक टूक हो जाता है और वह दम तोड़ देती है। मंजुली दिन-रात अपने पिता की सेवा में जुटी रहती है। लेकिन गठियाग्रस्त वृद्ध और विधुर पत्नी के बिना अकेले रह नहीं सकते और एक युवती को ब्याह कर घर लिवा लाते हैं क्योंकि शास्त्र ने उन्हें इस बात की अनुमति दी है। जब वह घर लौटते हैं तो पाते हैं कि घर सूना पड़ा है और मोहमुक्त और सयानी मंजुली उस पड़ोसी डाक्टर के साथ गायब हो चुकी है, जिसने सदैव उसे हृदय से चाहा था और बदले में उसने भी उसे प्यार किया था। क्रुद्ध पिता अपनी बेटी की करतूत पर हैरान है और उसे शाप देते हैं। ये दोनों कथाएं 'मुक्ति' और 'निष्कृति' शीर्षक के अंतर्गत लिखी गईं–बाद में जिन्होंने 'डेलिवेरेंस' (बंधनमुक्ति) की राह प्रशस्त की।

एक दूसरी मार्मिक कहानी है 'फांकी', जिसका अर्थ है धोखा या छल। यह पुरुष के अहंकार के विरुद्ध नारी की मानवीय संवेदना से पूर्ण कहानी है जिसे स्वयं पति सुनता है। उसकी तेईस वर्षीया पत्नी बीनू बहुत अधिक अस्वस्थ है और डाक्टर उसे किसी स्वास्थ्यवर्धक स्थान पर ले जाने की सलाह देते हैं। बीनू, जीवन में पहली बार, अपनी संयुक्त परिवार वाली ससुराल से, जहां उसकी उपस्थिति काफी जटिल और कष्टकर बनी हुई है, निकल कर ताजी हवा का झोंका महसूस करती है। ससुराल में उसे अपने पति से जो कुछ भी प्राप्त होता रहा है, वह बहुत ही लुके-छिपे–'किसी टूटे-फूटे दिलासे के चीथड़े जैसा।' अपने पति के साथ ट्रेन पर पश्चिम की ओर यात्रा करते समय उसके निस्तेज चेहरे पर पहली बार उसकी बड़ी बड़ी आंखों की चमक देखी जा सकती थी। रास्ते पर पड़ने वाले एक स्टेशन पर, जहां उन्हें गाड़ी बदलनी है, बीनू की मुलाकात रुक्मिणी नाम की एक औरत से होती है। वह एक कुली की घरवाली है जिसकी दुखभरी कहानी सुनकर बीनू मर्माहत हो उठती है और अपने पति से अनुरोध करती है कि वह उसकी बेटी की शादी के लिए उसे पच्चीस रुपये दे दे। पति अपनी बीमार पत्नी को यह बताकर उसके साथ छल करता है कि उसके कहे अनुसार पैसे दे दिए हैं, जबकि उसने रुक्मिणी को सिर्फ दो रुपये दिए थे, और वह भी उसे बुरी तरह फटकारते हुए इस धमकी के साथ कि अगर उसने दोबारा बीनू के सामने आने की कोशिश की और मुसाफिरों को तंग करने की हिमाकत की तो वह स्टेशन मास्टर से उसके बारे में शिकायत कर देगा। दो महीने के बाद बीनू मर जाती है। मरते वक्त वह पति के प्रति इस बात के लिए कृतज्ञता व्यक्त करती है कि उसने उसके जीवन के अंतिम दिनों को भरपूर खुशी से भर दिया। उद्विग्न पति इस बात को भूल नहीं पाता कि उसने अपनी उस विश्वस्त और प्रिय पत्नी के साथ कैसा धोखा किया

है, जो हर किसी प्राणी के साथ अपनी खुशियां बांट लिया करती थी। अपनी वापसी यात्रा में उसी स्टेशन पर पड़ाव के दौरान वह बड़ी अधीरता से रुक्मिणी की तलाश करता है ताकि वह अपनी भूल सुधार सके। लेकिन वह नहीं मिलती।

13 अप्रैल 1919 को अमृतसर में जालियांवाला बाग में नृशंस हत्याकांड की घटना घटी। इसके साथ मार्शल ला का आतंक भी फैल गया था। प्रेस पर लगी कड़ी पाबंदी, तथा भारी सेंसरशिप के चलते कई सप्ताह तक लोगों को इस त्रासदी और इससे जुड़े आतंक के बारे में कुछ पता नहीं चला। जब यह समाचार फैला और अंततः रवीन्द्रनाथ तक पहुंचा तो वे बहुत बेचैन हुए और उन्होंने शांतिनिकेतन में आयोजित होने वाले एक महत्वपूर्ण आयोजन को रद्द कर दिया। वे वहां से सीधे कलकत्ता गए जहां उन्होंने राजनैतिक नेताओं को एक सार्वजनिक सभा के लिए आमंत्रित किया और इसकी अध्यक्षता करने का भार स्वीकार किया। लेकिन ये नेतागण तब कुछ ऐसे सशंकित और हतोत्साहित थे कि इस आमंत्रण पर उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया। इसके बाद रवीन्द्रनाथ ने वैसा ही करने की ठानी, जैसा कि उनके विवेक ने निर्देशित किया। वे अपने उस गीत के अनुरूप सक्रिय हुए, जो उन्होंने वर्षों पूर्व लिखा था, "अगर वे डरे हुए हैं और चुप्पी साधे दीवार की ओर मुंह किए हुए हैं तब ओ रे अभागे अपने हृदय को खोलो और अकेले, जो कुछ कहना है कहो।"

रवीन्द्रनाथ ने बिना किसी को बताए और अपने पुत्र (रथीन्द्रनाथ) को बगैर कोई संकेत दिए लार्ड चेम्सफोर्ड, तत्कालीन वायसराय को 29 मई की रात को एक पत्र लिखा और अपना 'नाइट हुड' लौटाते हुए इस पत्र को अगली सुबह प्रकाशित कराया। उन्होंने वायसराय को सावधान किया कि इस हद तक की गई नृशंसता "किसी भी सभ्य सरकारी शासन के इतिहास में बिरली है।" आगे उन्होंने लिखा है, "मैं अपने देश के लिए जितना कुछ कर सकता हूं उसकी सारी जिम्मेदारी अपने पर लेते हुए अपने करोड़ों देशवासियों के विरोध को स्वर दे रहा हूं, जो इस आतंकपूर्ण वेदना से मूक, स्तब्ध एवं चकित हैं। अब वह घड़ी आ गई है जब सम्मान सूचक पदक और तमगे अवमानना के बेतुके संदर्भ में हमारी शर्म को और भी फूहड़ बनाते हैं। और जहां तक मेरी बात है, मैं अपनी समस्त विशेषताओं को एक ओर रखकर, अपने उन तमाम देशवासियों के साथ खड़ा हो गया हूं—जो अपनी कथित सामान्यता के कारण इस योग्य भी नहीं कि उन्हें जीवित मनुष्य समझा जाए।"

यह उस 'नाइट हुड' का परित्याग नहीं था, जिससे उनके व्यक्तित्व में खास कुछ जुड़ गया था—बल्कि यह ऐसा साहस था, जिसके माध्यम से उन्होंने उन लोगों की पीड़ा को स्वर दिया था और जिसके चलते लोगों के दिलों में कोई आतंक भरी चुप्पी कुंडली मारे बैठी थी, यह एक ऐतिहासिक महत्व का पत्र था। यह एक ऐसी प्रतिक्रिया थी जिसने राष्ट्र के स्वाभिमान की रक्षा की और यहां के लोगों के साहस और विश्वास को ऐसे समय में

बनाए रखा जिनकी इस समय बेहदत जरूरत थी। ब्रिटिश शासन अधिकारी इस बात को कभी माफ नहीं कर पाए क्योंकि उन्होंने ऐसी असंबद्धता के बारे में कभी सुना या सोचा तक नहीं था।

12

गरुड़ाकार मैना

तुम्हीं हो मुक्त आकाश
और तुम्हीं हो नीड़ !

वह मधुर गायक जो अपने नीड़ और आकाश की एकांत यात्रा से ही परितुष्ट रहा करता था अब सारे विश्व के जाल में फंस कर रह गया था। स्वतंत्रता का संदेशवाहक अब स्वयं स्वतंत्र नहीं रह गया था। अब सिर्फ बेहतर बने रहना ही काफी नहीं था बल्कि बेहतर काम कर दिखाना भी जरूरी था। उन्होंने सारे विश्व को जीत रखा था और बदले में विश्व ने उन्हें जीत लिया था। अब उनकी यह इच्छा थी कि सारे विश्व में वह अपने घर को पा सकें और सारे विश्व को अपने घर में पा सकें। और इसीलिए शांतिनिकेतन का वह छोटा-सा विद्यालय, एक विश्वविद्यालय बन गया, विश्वभारती—भारतीय संस्कृति का एक केंद्र, प्राच्य-अध्ययन का एक प्रतिष्ठान और पूर्व-पश्चिम का संगम स्थल। कवि ने इसके संकल्प के रूप में एक संस्कृत पद चुना–'यत्र विश्वम् भवति एक नीडम—जहां सारा विश्व एक नीड़ में एकत्रित होता है।'

रवीन्द्रनाथ के दिमाग में विश्वविद्यालय का विचार पिछली जापान और अमेरिका यात्रा के दौरान ही उपजा था और उन्होंने इस योजना की घोषणा 22 सितंबर 1918 को शांतिनिकेतन में एक सार्वजनिक सभा के दौरान की। तीन साल बाद लगभग इसी दिन इस विश्वविद्यालय का औपचारिक उद्घाटन हुआ। तीन सालों के अंतराल में कला और ज्ञान सीखने की कई शाखाएं बनाई गईं जो कि समय के साथ बढ़ती और अन्यान्य कई जुड़ती चली गईं। विश्वविद्यालय अपने पूर्ववर्ती विद्यालय की तरह ही एक कवि के दिमाग की उपज था। और एक स्वप्न की तरह जब उसे साकार किया गया तो वह भविष्य का संकेत बन गया। रवीन्द्रनाथ का यह विश्वास था 'हर जाति का यह कर्तव्य है कि वह अपने मानस प्रदीप को हमेशा प्रज्ज्वलित रखे ताकि विश्व के प्रकाश में वह अपना योग दे सके। किसी व्यक्ति के दीप को तोड़ना उसे विश्व के उत्सव में उसके यथोचित स्थान से हटाना है।' एक समय भारत के पास भी मस्तिष्क था जो अपने प्रकाश से दीप्त था

और भारतीय स्नेह (तेल) से जलता था। आजकल विश्वविद्यालय के स्नातक 'दूसरे के कूड़ादानों से चीथड़े बीनने वालों' से कुछ ही बेहतर कहे जा सकते हैं।

जैसा कि रवीन्द्रनाथ कहते हैं, "विडंबना यह है कि जब भी हम किसी विश्वविद्यालय के बारे में सोचते हैं, कैंब्रिज, ऑक्सफोर्ड और कई अन्यान्य यूरोपीय विश्वविद्यालयों के विचार हमारे दिमाग पर पूरी तरह छा जाते हैं। फिर हम यह कल्पना कर छुटकारा पा लेते हैं कि हम इनके सभी अच्छे गुणों को एकत्रित कर उसे एक परिष्कृत रूप दें। हम यह भूल जाते हैं कि यूरोपीय विश्वविद्यालय यूरोप के जीवंत जीवन के अनुषंग हैं। इनमें से सभी वहीं जन्मे और पले बढ़े। ऊपर से नाक चिपकाये लेकिन अपने कद-काठी से नदारद। अन्यान्य छोटे-मोटे अंगों को विदेशी अवयवों की त्वचा लगाकर जोड़ना आधुनिक शल्य विज्ञान में स्वीकृत है। लेकिन विदेशी टुकड़ों को जोड़कर एक संपूर्ण मनुष्य का निर्माण विज्ञान के बूते के बाहर है। और वर्तमान समय में ही नहीं, भविष्य के लिए भी यह एक प्रत्याशा भर ही होगी।

रवीन्द्रनाथ के लिए अब यात्रा करने की एक अतिरिक्त प्रेरणा की जरूरत थी। वे बड़े बेचैन हो उठे थे। सारी दुनिया की कुठरसुहाती एक नशे की तरह लुभाने लगी थी। वे और अधिक भ्रमण करना चाहते थे। यह सही है कि उनके लिए यह जरूरी था कि अपनी योजना के कार्यान्वयन के लिए वे विज्ञापन और संसाधन--दोनों ही जुटाएं, लेकिन इससे कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण उनकी अंतरंग और निजी आवश्यकताएं थीं। 15 अप्रैल 1918 को लिखित एक पत्र में वे इस बारे में स्पष्ट तौर पर लिखते हैं, "तुमने किताबों में पढ़ा ही होगा कि कुछ पक्षी किसी खास समय में अपने घोंसलों में रहते हैं और फिर सागर-पार उड़ जाते हैं। मैं वैसा ही पक्षी हूं। समय समय पर महासागर पार से मुझे कोई पुकार उठता है और मेरे पंख उड़ान भरने को आतुर हो उठते हैं। इसीलिए मैंने मई के शुरू में एक जहाज पर प्रशांत महासागर के पार की यात्रा करने की सारी तैयारियां कर ली हैं।"

लेकिन कुछ कारणों से उनकी यह विदेश-यात्रा हो नहीं पाई। और उन्हें अपने ही देश की यात्राओं से संतोष करना पड़ा। उन्होंने दक्षिण भारत के कई नगरों का भरपूर दौरा किया जहां अपने शिक्षा संबंधी आदर्शों के बारे में व्याख्यान दिए। इसके साथ ही उन्होंने पश्चिमी भारत की भी यात्रा की, और हैदराबाद में आयोजित गुजराती साहित्य अधिवेशन की अध्यक्षता की एवं साबरमती के किनारे बने महात्मा गांधी के नए आश्रम में भी कुछ समय के लिए रुके।

वर्ष 1917 से 1919 के दौरान, राजनैतिक और शैक्षणिक गतिविधियों के चलते, उनकी साहित्यिक सर्जना अपेक्षतया कम रही। इन वर्षों के दौरान बंग्ला में केवल दो मौलिक और महत्वपूर्ण कृतियां लिखी जा सकीं--इनमें से एक थी--1918 में प्रकाशित 'पलातक' (भगोड़ा) और दूसरी 'लिपिका' जो काफी दिनों बाद 1922 में प्रकाशित हुई। वर्ष 1917 में उनकी

दूसरी प्रकाशित कृतियां या तो बंग्ला में अनूदित रचनाएं या कुछ ऐसे व्याख्यान हैं–जो सीधे अंग्रेजी में लिखे गए हैं–'माई रेम्निसेंसेज़', 'सैक्रिफाइस एंड अदर प्लेज़', 'द साइकिल आफ स्प्रिंग', 'पर्सनैलिटी एंड नेशेनलिज्म'। अपने आकार एवं आयतन में अपेक्षाकृत कम होने के बावजूद, इस दौर की लिखी गई उनकी बंग्ला रचनाओं का स्वर, निहित वैचारिक आधार के साथ कल्पना और भावना के विशिष्ट तालमेल, शिल्प एवं शैलीगत प्रयोगों की दृष्टि से भी अनुपम कहा जा सकता है।

'पलातक' के बारे में ऊपर उल्लेख किया गया है। दूसरी पुस्तक 'लिपिका' (1919 में लिखित) एक दूसरी तरह की रचना है। इसमें छोटे छोटे रेखाचित्र हैं। कुछ विवरणात्मक हैं तो कुछ कथापरक, कुछ व्यक्तिपरक हैं तो कुछ व्यंग्यात्मक और कुछ स्मृतिगत। ये गद्य में लिखित हैं, लेकिन यह गद्य ऐसा है जिसमें लय और संगीत के साथ कविता का निगूढ़ सौंदर्य भी विद्यमान है। यह संभव है कि लेखक ने जानबूझकर बंग्ला गद्य की लय एवं अभिव्यक्ति के अनगढ़ सौंदर्य को बांधने का सायास प्रयास किया था जैसा कि 'गीतांजलि' के अंग्रेजी अनुवाद के समय अनायास ही प्राप्त हो गया था। दूसरी तरफ, ये रचनाएं आश्चर्यजनक रूप से उन गद्य कविताओं की याद दिलाती थीं, जो पैंतीस साल पहले वर्ष 1884 में अपनी दिवंगत भाभी की दुखद और आकस्मिक मृत्यु के बाद उनकी स्मृति में लिखी गई थीं और जो 'पुष्पांजलि' शीर्षक से प्रकाशित हुई थीं। इन गद्य खंडों में उनकी सुकोमल और उत्कंठातुर स्मृतियां निश्चित रूप से विद्यमान हैं, और जब वे अतीत की ओर देखते हैं तो जान पड़ता है कि वे अब किसी भूली-बिसरी धुन की तरह बिखरी हुई हैं। इनमें किसी तरह की आत्मकरुणा नहीं, इन पूर्व स्मृतियों में किसी अवसाद की अंतर्धारा नहीं और इनमें प्रवृत्ति के साथ उस मनीषा की भी झलक है, जिसमें "विषाद प्रशांति में परिणत हो गया है।"

वस्तुतया इसमें सामान्य और प्रभावी मनोदशा भावात्मक से कहीं अधिक स्मृति-केंद्रित हो गई है जिसमें एक बौद्धिक निस्संगता और विचारों की विनोदपूर्ण विलक्षणता भी है जो कभी कभी अहंमन्यता में ढलती प्रतीत होती है। इनमें जो व्यंग्यात्मक प्रसंग हैं वे किसी तिक्तता के बिना विडंबना और बौद्धिकता से परिपूर्ण हैं। इनमें से एक 'तोता काहिनी', उस पाठ्य-पुस्तक वाली यांत्रिक शिक्षा पद्धति की मूर्खता का पर्दाफाश करती है, जिसके विरुद्ध वे जीवन भर लड़ते रहे। इस कहानी में एक भोली-सी चिड़िया को लिखना-पढ़ना सिखाया जाता है क्योंकि एक सभ्य समाज में यह बड़ा ही अपमानजनक है कि वह यहां से वहां फुदकती फिरे, चहचहाए और खुश रहे। उसे एक सोने के पिंजरे में डालकर उसके लिए सुयोग्य पंडितों को नियुक्त किया जाता है, ताकि वे उसके लिए उपयुक्त शिक्षा-पद्धति की व्यवस्था कर सकें। सारी औपचारिकताएं ऐसी धूमधाम के साथ पूरी की गईं कि वे लोग भी गौरवान्वित हो उठे जिनका उस पिंजरे से दूर दूर तक संबंध नहीं था। लेकिन

वह बेचारी चिड़िया मर गई। "जब राजा ने उसकी देह को उंगली से टोहा तो उसके अंदर से किताबों के पन्नों की सरसराहट सुनाई पड़ी।"

इसी क्रम में अन्य दो व्यंग्य शीर्षकों का उल्लेख किया जा सकता है–वे हैं–'ट्रायल आफ द हार्स', और 'ओल्डमैन्स घोस्ट'। इनमें से पहला मनुष्य की विपत्ति से संबंधित है, जिसमें उसकी अर्थलिप्सा और धूर्तता सजीव और निर्जीव–हर वस्तु का दोहन कर अपना स्वार्थ सिद्ध करती है। और इस प्रकार प्रकृति के स्वभाव की अनदेखी करती है। जब देवतागण अपनी सावधिक निद्रावस्था से जागते हैं तो पाते हैं कि मनुष्य उन कई प्राणियों का समाहार हो गया है, जो अन्यान्य उद्देश्यों के लिए बनाए गए थे। यह देखकर वे क्रोध से भड़क उठते हैं। देवताओं के प्रधान ब्रह्मा, जिन पर इस विशेष कार्य का भार है, मनुष्य को सावधान करते हुए कहते हैं, "अगर तुम मेरे घोड़े को छोड़ नहीं देते तो मैं यही चाहूंगा कि तुम्हारे दांत और पंजे शेर की तरह हो जाएं!" मनुष्य उनकी बात का विरोध करता है, "फिर यह देवताओं जैसा कार्य नहीं होगा, और इस उग्रता को बढ़ावा मिलेगा।" तर्क और वैज्ञानिक दृष्टांत देते हुए मनुष्य ने ब्रह्मा को बताया कि घोड़ा आजादी के योग्य नहीं और मोटे तौर पर यह घुड़सवार के हक में है कि वह इस बात का पता लगाए कि इसे कैसे काम में लाया जाय? इस बूढ़े आदमी का भूत और कुछ नहीं, अतीत के प्रति उसका ऐसा मोह है–जो वर्तमान के कंधे पर सवार है, किसी के कल्याण का दमन करते हुए, राष्ट्रीय संस्कृति और अकारण परिवर्तन की आशंका से उसे अन्यथा गौरवान्वित करता है।

रवीन्द्रनाथ के लिए, सर्वथा अपरिचित पश्चिम के एक उदार व्यक्तित्व ने युद्ध और मानवतावाद के बारे में ठीक ऐसा ही महसूस किया और शायद उनसे भी अधिक उत्साह के साथ कहा था। ऐसा कहने वाले–रोम्यां रोलां स्वयं इस अग्निकांड से जूझ रहे थे और उनका अपना देश इसमें बुरी तरह झुलस रहा था। उन्होंने कहा भी था, "सत्य सभी राष्ट्रों के लिए एक समान है, लेकिन हर राष्ट्र के पास अपने अपने झूठ भी होते हैं, जिसे वह अपने आदर्शवाद के तौर पर बघारते हैं।" रवीन्द्रनाथ द्वारा जापान में वर्ष 1916 में 'राष्ट्रीयतावाद' के ऊपर दिए गए व्याख्यान से रोलां बहुत प्रभावित हुए थे और उन्होंने उनमें उस चेतना को पहचान लिया था जो उनके आत्मसदृश थी, उनके अनुरूप उस 'युद्ध से परे' थी–जहां घृणा और विद्रोह एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र के विरुद्ध नरसंहार के लिए उकसाते तो हैं लेकिन उस युद्ध के परे नहीं सोच सकते जहां अयुक्ति और आवेग के विरुद्ध मनुष्य की चेतना अपने ध्वज को बनाए रखने में लगी रहती है। उन्होंने उन व्याख्यानों के अंशों को फ्रांसीसी में अनूदित किया था और युद्ध के दौरान लिखे गए आलेखों में इनका उपयोग भी किया था। जब युद्ध समाप्त हुआ तो उन्होंने जून 1919 में रवीन्द्रनाथ से इस बात का अनुरोध किया कि वे 'स्वतंत्रता के घोषणा पत्र' पर अपने हस्ताक्षर करें, जिसका

प्रारूप यूरोपीय कलाकारों और बुद्धिजीवियों के निमित्त स्वयं रोम्यां रोलां ने तैयार किया था।

रवीन्द्रनाथ ने इस घोषणा पत्र पर 26 जून को अपने हस्ताक्षर किए और इसके ठीक दो महीने बाद रोलां ने उन्हें लिखा–

" 'राष्ट्रीयतावाद' पर आपका लेख पढ़कर मुझे सचमुच बहुत अच्छा लगा। मैं आपके विचारों से वैसे भी पूरी सहमत हूं और मैं उन्हें पहले से भी अधिक चाहने लगा हूं जबकि मैंने उन्हें आपके द्वारा उस उदात्त और सामंजस्यपूर्ण प्रज्ञा के साथ अभिव्यक्त होते हुए सुना भी है–हालांकि वे विचार आपके हैं लेकिन मुझे भी उतने ही प्रिय हैं।... इस शर्मनाक विश्वयुद्ध और इससे हुई तबाही ने यूरोप की विफलता को अच्छी तरह रेखांकित कर दिया है और इससे यह स्पष्ट हो गया है कि अकेला यूरोप खुद अपनी रक्षा कर पाने में असमर्थ है। उसके विचार को एशिया के विचार की जरूरत है, ठीक उसी तरह जिस तरह एशिया ने यूरोपीय विचारों से स्वयं को समृद्ध किया है। मानवता के मस्तिष्क के ये गोलार्ध हैं, अगर इनमें से एक को भी लकवा मार जाता है तो सारा शरीर अपंग हो जाएगा।"

15 मई 1920 को, रवीन्द्रनाथ यूरोप की यात्रा पर रवाना हो गए। उनके साथ थे उनके पुत्र और पुत्रवधू। इंगलैंड में वे अपने पुराने मित्रों और नए साथियों से मिलकर बहुत खुश थे। हालांकि वे यह अच्छी तरह समझ रहे थे कि युद्ध के बाद यहां का वातावरण पहले की यात्राओं जैसा सौहार्दपूर्ण नहीं है। इसके बाद काफी कुछ घटित हो चुका था। रवीन्द्रनाथ द्वारा युद्ध की भर्त्सना, भारत में ब्रिटिश शासन के बारे में उनकी दो-टूक टिप्पणियां और इन सबसे कहीं अधिक महत्वपूर्ण कारण था 'नाइट' की उपाधि का परित्याग–जिसने पुराने संबंध की ऊष्मा को ठंडा कर दिया था। इसके पहले कि उनका जहाज अंग्रेजी समुद्र तट तक पहुंचे उन्होंने ब्रिटिश लोगों के उदासीनतापूर्ण अलगाव और अक्खड़पन को जहाज पर ही अच्छी तरह भांप लिया था और उन्होंने अपने एक पत्र में उस बारे में लिखा भी था–

"यहां के लोग चाहते हैं कि हम लोग उनकी लड़ाई लड़ें और उन्हें अपने क़च्चे माल भेजते रहें लेकिन वे हमें अपने उस दरवाजे के बाहर खड़ा किए रखें–जिस पर लिखा हो, 'एशियाई लोगों के लिए प्रवेश निषेध। पकड़े जाने पर कानूनी कार्रवाई की जाएगी।' मैं जब यह इन सबके बारे में सोचता हूं तो मेरी भावनाएं कांपने लगती हैं और मुझे अपने देश की याद सताने लगती है और धूप में नहाया शांतिनिकेतन का वह कोना याद आ जाता है।"...

वे इसी बात को आगे बढ़ाते हुए लिखते हैं, "मैं उंगलियों पर अपनी वापसी के दिन गिन रहा हूं।" हालांकि उनकी यह विदेश यात्रा सालभर से भी ज्यादा खिंच गई। इस जहाज पर उनके एक सहयात्री थे–आगा ख़ान, जो उन्हें हाफ़िज़ और दूसरे फारसी शायरों की

रचनाएं पढ़कर सुनाते रहे। यही वजह थी कि उन्होंने लंदन से लिखी गई एक चिट्ठी में मजाकिया मिजाज के साथ लिखा था :

"शायर हाफ़िज़ ने समरकंद और बुखारा की तमाम दौलत को अपनी महबूबा के गाल के काले तिल पर लुटा देना चाहा था। मैं भी शांतिनिकेतन के उस छोटे-से कोने पर सारा लंदन शहर लुटा देना चाहता हूं। हालांकि लंदन कोई मेरी जागीर नहीं कि मैं उसे इस तरह लुटा सकूं और ना ही मेरे पास उन फारसी शायर की तरह समरकंद और बुखारा की जायदाद ही है।"

जलियांवाला बाग की त्रासदी पर ब्रिटिश संसद में हुई बहस में निर्दोष लोगों के नरसंहार के लिए जिम्मेदार जनरल डायर को आम माफी दिए जाने पर न्याय और मानवतावाद का दम भरनेवाली ब्रिटिश सरकार के प्रति रवीन्द्रनाथ का रहा-सहा विश्वास भी डगमगा उठा। "सांसदों द्वारा दिए गए भाषणों में इस बर्बरतापूर्ण कृत्य के लिए दिया गया क्षमादान जो कि वहां के समाचार-पत्रों से भी उजागर हुआ है, अपने स्वर और स्वरूप में बेहद घिनौना और बेहूदा है।"—रवीन्द्रनाथ ने टिप्पणी की थी और इस संबंध में वे महात्मा गांधी के इस विचार से पूरी तरह सहमत थे कि "हमारी सच्ची मुक्ति हमारे ही हाथों में है।" लेकिन जैसे ही वे कुछ विवेकवान ब्रिटिश लोगों से—जिनकी कोई कमी नहीं थी—मिले तो उनके मनोभाव में परिवर्तन आया और उनमें थोड़ी-बहुत आस्था और उल्लास का संचार हुआ। कुछ ही दिन पहले उन्होंने एंड्रयूज को लिखा था—

"पश्चिमी देशों में आकर मैं अपने को पहले से कहीं बेहतर स्थिति में पाता हूं क्योंकि तब एक सक्रिय मस्तिष्क के संसार में मेरा स्वागत होता है। हालांकि यहां आकर मैं अपना आकाश, प्रकाश और अवकाश खो देता हूं लेकिन मेरा संपर्क उन लोगों से होता है जो मुझे यह बताते हैं कि वे क्या कहने की जरूरत महसूस करते हैं और मैं उन्हें अपना क्या कुछ निवेदित कर सकता हूं।"

इस आत्म-समाहित मनोदशा को एक संदेह अवश्य तंग करता रहा था इसीलिए उन्होंने तत्काल यह भी जोड़ दिया था, "वैसे इस बात की संभावना है कि अब से कुछ दिनों बाद उनके लिए मेरे विचारों का जानना बहुत जरूरी न हो और मेरा व्यक्तित्व अपनी विशिष्टता खो दे : लेकिन मुझे इसकी परवाह नहीं।" हालांकि आत्म-उल्लास की ये लहरें उन्हें अपने साथ बहा ले गईं—जबकि बहुधा ऐसा होता नहीं था। वे इस मामले में बहुत सावधान थे और उनका हृदय यह जानता था कि अंततः मानवीय गरिमा ही हृदयों में विराजती है और बाकी चीजें आती-जाती रहती हैं।

अपने लंदन-प्रवास के दौरान उनकी पहचान लारेंस आफ अरेबिया, एक स्वच्छंद सेनानी से हुई, जिसने उन्हें बताया कि वह अपने देश वापस जाने से कतरा रहा है क्योंकि उसने अरब के लोगों की तरफ से ब्रिटिश सरकार के साथ एक समझौता किया था और इस

वचन को निभाने से अब यह सरकार कतरा रही है। भारत की समस्याओं पर विचार करते हुए लारेंस ने रवीन्द्रनाथ से कहा कि किसी अंग्रेज से सम्मान पाने के लिए यह जरूरी है कि वह जितनी जोर से हमला करता है--उससे कहीं ज्यादा जोर से हमला किया जाए क्योंकि तभी इसमें चेतना जागेगी और वह दूसरों को अपने भाई के रूप में पहचान पाएगा। इस यात्रा के दौरान सी.एफ. एंड्रयूज को लिखे गए पत्रों से पता चलता है कि रवीन्द्रनाथ की मनोदशा उल्लास के अवसाद की ओर कितनी त्वरा से बढ़ रही थी और वे अंतरार्ष्ट्रीय समझ की दिशा में कितनी तेजी से कभी कवि, कभी देशभक्त तो कभी मसीहा के रूप में अपने अंदर के सोपानों को पार किया करते थे।

पेरिस में, रवीन्द्रनाथ का म्यूजी सीमेत में नागरिक अभिनंदन किया गया। जहां उन्हें प्रसिद्ध दार्शनिक बर्गसां से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ। वे वहां सुविख्यात प्राच्यविद सिल्वां लेवी से भी मिले, जो बाद में विश्वभारती के प्रथम विदेशी विजिटिंग प्रोफेसर की हैसियत से शांतिनिकेतन भी पधारे। पेरिस से रवीन्द्रनाथ हालैंड गए जहां उन्होंने कई दर्शनीय स्थलों का परिदर्शन किया। उनके व्याख्यानों में काफी बड़ी संख्या में श्रोता आते थे। बेल्जियम की यात्रा में उनका स्वागत स्वयं वहां के राजा ने किया। वहां से रवीन्द्रनाथ लंदन लौटे और यहां पहुंचकर उन्होंने अचानक यह निर्णय लिया कि उन्हें यूनाइटेड स्टेट्स की यात्रा पर जाना है। उनका कहना था कि अमेरिकियों को "पूरब की अपील अवश्य सुननी चाहिए।"

वे न्यूयार्क पहुंचे और उन्होंने वहां कई सभाओं में व्याख्यान दिए--शहर में और दूसरे शहरों में भी। न्यूयार्क के एक पत्र ने ब्रुकलिन सिविके फोरम में उनके व्याख्यान 'द पोयट्स रेलिजन' के बारे में लिखा, "इसके पूर्व फोरम की किसी सभा में इतनी बड़ी संख्या में श्रोता कभी नहीं आए, जितने कि पूर्व से पधारे इस कवि को सुनने के लिए उपस्थित हुए। सैकड़ों की संख्या में लोग, स्थानाभाव के कारण वापस लौट गए।" लेकिन रवीन्द्रनाथ के मन में अगर विश्वभारती के लिए कोई कोष इकट्ठा करने की कोई चाह थी भी तो वह पूरी नहीं हो पाई।

इस बारे में आरंभ में रवीन्द्रनाथ बड़े आशावान थे। उन्होंने यह सोचा था कि एक युवा और नया राष्ट्र, जिसने अभी अभी युद्धरत राष्ट्रवादियों को आत्मघाती युद्ध से मुक्ति दिलाई है, मानवीय विवेक के उन्नयन के लिए शांतिनिकेतन में एक सक्रिय केंद्र के रूप में कार्यरत एक अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की स्थापना में सहयोग देने के लिए उनकी अपील पर ध्यान देगा। उन्होंने कहा भी, "हमें अपनी निष्ठा किसी नपी-तुली भौगोलिक जमीन तक ही सीमित नहीं रखनी चाहिए, यह सामान्य विचारों की राष्ट्रीयता वालों के लिए होनी चाहिए, जो एक से अधिक राष्ट्रों के जन्म-जात व्यक्तिवादी हैं और जो मानवता के इस महान मंदिर में अपने अपने त्याग का उपहार लेकर आ रहे हैं।" यह जानते हुए भी कि "अतीत बहुत-से लोगों का था और भविष्य मनुष्य का है।" इस आस्था के प्रति वे परम

निष्ठावान रहे। उनकी यह निष्ठा दृढ़ और अटल थी और इसे तब या बाद में कोई झिंझोड़ नहीं पाया। अमेरिका में उनकी विफलता और उनकी अनदेखी का परिणाम आर्थिक संसाधनों को जुटाने से जुड़ा था, निस्संदेह अमेरिकी जीवन की भागदौड़ और शोर ने उनके स्नायु तंत्र को झिंझोड़ डाला और उनकी सेहत की हालत और भी बदतर हो गई।

दरअसल, इस सामान्य पूर्वानुमान के आरंभिक प्रयासों (दुर्भाग्य से कुछ नजदीकी और प्रियजनों के उत्साह के कारण) में ही कुछ चूक हो गई थी कि उनके आदर्श को मूर्त करने के लिए अमेरिकी डॉलरों की जरूरत है–रवीन्द्रनाथ इस बात की गहरी पीड़ा भरी कसक और शर्म के साथ लगातार महसूस करते रहे थे। 13 दिसंबर को एंड्रयूज को लिखे गए एक पत्र में उन्होंने स्वीकार किया-"मैं अपने आपको इस बात से आश्वस्त करता रहता हूं कि मेरे प्रयासों से कोई बड़ी और महान योजना आकार ग्रहण करने वाली है, लेकिन मैं अपने हृदय की गहराइयों से यह जानता हूं कि जीवन की सादगी और उद्यम ही सच्ची प्रसन्नता प्रदान करते हैं। हम जब यह महसूस करते हैं कि हमारे कार्य में आदर्श परिपूर्णता के लिए कुछ मानदंड हों तो इस बात के दूसरे पहलुओं पर हमारा ध्यान बहुत कम जाता है। अक्सर हम इसके बड़प्पन पर इतना विश्वास कर लेते हैं कि यह सत्य के प्रति हमारी आस्था को झकझोर देता है।"

चार दिनों के बाद ही, रवीन्द्रनाथ ने उन्हें दोबारा लिखा, "जब मेरे विचार कोष उगाहने की चाह में झंझा में सूखे पत्तों की तरह तेज हवा में प्रचंड गति से चक्कर खा रहे थे, तब एक तस्वीर मेरे हाथ लगी थी–जिसमें सुजाता महात्मा बुद्ध को एक पात्र में दूध दे रही थी। यह संदेश सीधे मेरे हृदय में उतर गया। इसने मुझसे कहा : 'दूध का पात्र तुम्हें बिना मांगे ही मिल जाएगा–जिस दिन तुम अपनी तपस्या पूरी कर लोगे।'... हर रोज, सुबह के समय मैं अपनी खिड़की के पास बैठकर अपने आपसे कहता हूं–"मुझे उसे वीभत्स मूर्ति के आगे कभी अपने घुटने टेकने नहीं चाहिए जिसकी पूजा पश्चिम के लोग नरबलि चढ़ाकर कर रहे हैं।" मुझे सिलाईदह की वह भोर याद है जब एक वैष्णवी वृद्धा ने मुझसे आकर पूछा था–'तुम अपनी तीनतल्ले वाली हवेली से नीचे उतरकर पेड़ों की छांह में बैठे अपने प्रियजन से मिलने कब आओगे?' अभी मैं एक गगनचुंबी इमारत की सबसे ऊंची मंजिल पर हूं–जहां ऊंचे से ऊंचे पेड़ की कोई फुसफुसाहट तक सुनाई नहीं देती : लेकिन यह प्रेम ही है जो दबे पांव मुझसे यह कहने के लिए आ गया है, "तुम मुझसे मिलने के लिए कब नीचे उतरकर आ रहे हो–सरसराहट भरते पत्तों के नीचे हरी घास पर, जहां तुम्हें आकाश की उन्मुक्तता और धूप की आंच के साथ सादगी भरे जीवन का स्निग्ध स्पर्श प्राप्त होगा। ऐसे में मैं रुपये-पैसे के बारे में भी कुछ कहना चाहता हूं, लेकिन बेतुका होने के बावजूद यह सब इतना दुखदायी जान पड़ता है कि मेरे शब्द अपने आप पर शर्मिंदा हो उठते हैं और वे वहीं रुक जाते हैं।"

उनकी यह तीसरी अमेरिका यात्रा व्यक्तिगत एवं मानवीय संबंधों की दृष्टि से, बहुत ही सफल रही और इन्हें उन लाखों डॉलरों के मुकाबले कुछ कम करके नहीं आंका जाना चाहिए, जिन्हें उगाहने में वे असफल रहे। वहां उनके पूर्व परिचित तो मिले ही लेकिन कुछ के साथ नई मित्रता कायम भी हुई--उनमें से उल्लेखनीय दो महिलाओं के नाम हैं--हेलन केलर और जेन ऐडम्स। उनमें से भी अधिक महत्वपूर्ण थी डोरोथी स्ट्रेट और लियोनार्ड के. एलम्हर्स्ट, जिनके साथ यहीं उनकी आजीवन मित्रता की मजबूत नींव पड़ी। डोरोथी उस समय कॉर्नेल में कृषि विज्ञान की छात्रा थी और बाद में उसने एलम्हर्स्ट से विवाह कर लिया था। रवीन्द्रनाथ ने अपने एक युवा मित्र से इस आदर्शवादी अंग्रेज के बारे में सुना था और उसे तार देकर न्यूयॉर्क में मिलने का आमंत्रण दिया। इस तरह यह मित्रता शुरू हुई और समय के साथ साथ लगातार गहरी होती चली गई। ग्रामीण शिक्षा और अर्थव्यवस्था के क्षेत्रीय विकास संबंधी प्रयोगों के लिए शांतिनिकेतन के पास ही श्रीनिकेतन में एक विशिष्ट केंद्र, एक अंतर्राष्ट्रीय और सांस्कृतिक केंद्र के प्रतिरूप बनाने की दिशा में एलम्हर्स्ट रवीन्द्रनाथ के प्रमुख सहायक रहे। एलम्हर्स्ट और उनकी पत्नी ने अपने देश लौटने के बाद भी इस केंद्र की बड़ी उदारता से वित्तीय सहायता की।

मार्च 1921 में रवीन्द्रनाथ लंदन लौटे जहां से वे पहली हवाई यात्रा से पेरिस पहुंचे। वहां वे रोम्यां रोलां से मिले जिनसे मिलने की उन्हें बहुत उत्कंठा थी। पेरिस से फिर वे स्ट्रॉसबर्ग स्थित नए स्थापित फ्रेंच विश्वविद्यालय में 'अरण्य का संदेश' पर भाषण दिया। जेनेवा की तरफ बढ़ते हुए उन्होंने रूसो संस्थान में 'शिक्षा' पर व्याख्यान दिया। लूरीरने में छुट्टियां बिताते हुए उन्हें खबर मिली कि जर्मनी में लेखकों और विद्वानों की नई स्थापित समिति ने उनकी साठवीं वर्षगांठ मनाई है और इस अवसर के लिए उत्कृष्ट जर्मन साहित्य का एक विशद संकलन विश्वभारती के पुस्तकालय को भेंट किया है।

हैम्बर्ग और कॉपनहेगेन की इन लघु यात्राओं के दौरान व्याख्यान देना भी शामिल था। इसके बाद रवीन्द्रनाथ स्वीडिश अकादमी के आमंत्रण पर स्वीडेन गए। अकादमी में व्याख्यान देने के बाद उपसाला के आर्कबिशॅप ने कहा, "साहित्य का नोबेल पुरस्कार उस व्यक्ति के लिए है जो अपने अंदर सर्जक और पैगंबर दोनों का समावेश करता है। रवीन्द्रनाथ के अलावा किसी और ने इस शर्त का उतनी अच्छी तरह पालन नहीं किया है।" स्टॉकहोम से रवीन्द्रनाथ बर्लिन आए, जहां उन्होंने 2 जून को विश्वविद्यालय में व्याख्यान दिया। एक स्थानीय अखबार ने उन्मुक्त नायक-पूजन के दृश्य का समाचार दिया कि रवीन्द्रनाथ के व्याख्यान में उपयुक्त जगह पाने की अफरा-तफरी में कई लड़कियां बेहोश हो गईं और वापस लौटने वालों की संख्या इतनी ज्यादा थी कि उन्हें अगले दिन दोबारा व्याख्यान देना पड़ा। म्यूनिख में रवीन्द्रनाथ टामस मान सहित कई अन्य विद्वानों और शिक्षाविदों से मिले। युद्ध विराम के चलते जर्मनों की दुर्दशा देखकर उन्होंने अपने व्याख्यान से मिली सारी रकम

म्यूनिख के मुसीबतज़दा और सूखाग्रस्त बच्चों के लिए दान स्वरूप दे दी।

अपनी जर्मनी यात्रा के शारीरिक और मानसिक दबाव के कारण रवीन्द्रनाथ की सेहत पर बुरा असर पड़ा और वे शांतिनिकेतन वापस लौटना चाहते थे। ढेर सारे आमंत्रणों एवं प्रस्तावों को तो उन्होंने ठुकरा दिया लेकिन डर्मस्ट के हेरूस के ग्रैंड ड्यूक के मेहमान बनने के आमंत्रण को वे अस्वीकार नहीं कर सके। रवीन्द्रनाथ वहां जर्मन विचारक काउंट हर्मन कैसरलिंग से भी मिलना चाहते थे जिनसे रवीन्द्रनाथ की पिछली मुलाकात 1911 में उनकी भारत यात्रा के दौरान हुई थी। कैसरलिंग शायद पहले ऐसे विदेशी थे जिन्होंने रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा को पहचाना और सराहा था। उनकी यह पहचान सहजानुभूत ही थी क्योंकि इसके पूर्व वे रवीन्द्रनाथ से मिले तो थे पर उन्होंने उनकी कृतियों को नहीं पढ़ा था। जैसे जैसे यह पहचान बढ़ती गई, रवीन्द्रनाथ के लिए उनकी प्रशंसा सीमाएं लांघती चली गई। 1930 में उन्होंने लिखा, "आज तक मुझे जिनसे मिलने का अवसर मिला है रवीन्द्रनाथ उनमें से सबसे बड़े आदमी हैं। वे विश्व में अपनी प्रसिद्धि और भारत में अपने स्थान से भी अधिक बड़े हैं। उनकी तरह पूरे विश्व में पिछली कई शताब्दियों तक दूसरा नहीं है। मैंने अब तक जितने लोगों को जाना है उनमें से वे सर्वाधिक वैश्विक और एक परिपूर्ण मनुष्य हैं।

डर्मस्ट के एक सप्ताह के प्रवास में कई औपचारिक व्याख्यान, स्वागत समारोह या जुड़े परिसर में सुबह शाम भीड़ इकट्ठी होती थी, रवीन्द्रनाथ से कुछ प्रश्न पूछे जाते थे और रवीन्द्रनाथ उन्हें जवाब देते थे जिसमें कैसरलिंग एक दुभाषिये का काम करते थे। रवीन्द्रनाथ न केवल आम नागरिकों के सौहार्दपूर्ण स्वागत और सम्मान से बल्कि उनके दार्शनिक तथा तात्विक प्रश्नों से भी काफी प्रभावित हुए।

रवीन्द्रनाथ जर्मनी से दो व्याख्यान देने के लिए वियेना पहुंचे और फिर वहां से प्राग आए जहां उनकी मित्रता प्राच्यविद, एम. विन्टरनित्स और वी. लेसनी से हुई, जिन्हें बाद में विश्वभारती में अतिथि प्रोफेसर के रूप में आमंत्रित किया गया। प्रो. लेसनी पहले विदेशी विद्वान थे—जिन्होंने रवीन्द्रनाथ की कृतियों का मूल बंग्ला से अनुवाद किया था। उन्होंने कवि रवीन्द्रनाथ की जीवनी भी लिखी जिसे बाद में अंग्रेजी में अनूदित और प्रकाशित किया गया। इन मुलाकातों और मित्रता के फलस्वरूप रवीन्द्रनाथ ने चेकोस्लोवाकिया का भरपूर स्नेह अर्जित किया। हालांकि उनकी यह यात्रा काफी प्रेरक थी पर उन्हें अपने घर की याद आ रही थी और वे चौदह महीने के अंतराल के बाद जुलाई 1921 में भारत लौट आए।

अगर उन्होंने भारत लौटकर शांति और एकांत की कामना की थी तो वे संभवतया भ्रम में थे। भारत की जनता महात्मा गांधी के जादुई डंडे के प्रभाव से जगकर एक आंदोलन के लिए तैयार थी। महात्मा ने पूरे देश में अंग्रेजों के खिलाफ असहयोग आंदोलन का आह्वान किया था। रवीन्द्रनाथ ने अपने नाटकों, कविताओं और गानों से लोगों का आह्वान किया, जिससे मूक को वाकशक्ति मिली और निहत्थे में शक्ति का संचार हुआ और उन्होंने पूरी

तरह गांधी जी के नेतृत्व में आंदोलन का समर्थन किया। पर वास्तविकता शायद ही विचार को साथ लिये होती है और कोई कितना भी आंधी का स्वागत कर ले पर जब आंख में धूल चली जाती है तो हर कोई उद्विग्न हो उठता है।

हालांकि गांधी रवीन्द्रनाथ से कहीं अधिक सुधारातीत आदर्शवादी थे लेकिन वे जनता के बीच एक आंदोलनकारी नेता थे और किसी भी अवसर को नाटकीय मोड़ देते और कुछ अन्य को वे काफी बढ़ा-चढ़ा कर बताते ताकि अपने लिए आम जनता की सहानुभूति और उनका समर्थन प्राप्त हो सके। नेल्सन की तरह ही वे भी अपनी अंधी आंख पर दूरबीन लगाकर देखते और फिर कहते कि सचमुच कुछ नहीं दीख रहा है लेकिन रवीन्द्रनाथ सब कुछ देख रहे थे, वह भी चील की नजर से, यह सब उनको परेशान कर रहा था। जनता में अचानक देशभक्ति जागृत होना, जिन्होंने लंबे समय से इसे कभी समझा नहीं और ना ही उसकी कोई ऐतिहासिक स्मृति रखी थी, जिससे जनता में एक ऐसी आत्यंतिक भावना आ गई कि वे सब कुछ सही कर रहे हैं और उन्हें हर विदेशी वस्तु का तिरस्कार करना है। रवीन्द्रनाथ जो इस भावना की दूसरे देशों में भर्त्सना करते थे स्वयं अपने देश में ऐसा देखकर बहुत दुखी हुए। केवल कुछ ही महीने पहले उन्होंने न्यूयार्क से एंड्रयूज को लिखा था, "किसी भी देशभक्त के लिए एक संपूर्ण व्यक्ति की बलि नहीं चढ़ाई जानी चाहिए। यहां तक कि एक नैतिक आदमी के लिए भी। मेरे लिए मानवता बहुत ही समृद्ध, विराट और बहुआयामी है।"

ऐसा नहीं था कि महात्मा गांधी इसमें विश्वास नहीं करते थे। वे भी कहते थे, "मेरे लिए देशभक्ति मानवता की तरह ही है। मैं देशभक्त हूं क्योंकि मैं एक मानव और मानववादी हूं। मेरी देशभक्ति कुछ अलग नहीं है। मैं भारत की सेवा के लिए इंग्लैंड या जर्मनी को चोट नहीं पहुंचाऊंगा...एक देशभक्त कमोबेश उतना ही देशभक्त है अगर वह थोड़ा भी मानवतावादी है।" लेकिन यह वह ज्योति नहीं थी कि जिसे देखकर उन्हें कई मानने वाले देशभक्त बने थे। शिष्य अपने प्राध्यापक से वह नहीं लेते जो वह देना चाहता है बल्कि वही लेते हैं जो वे ग्रहण करना चाहते हैं। .

कई और मुद्दे भी थे जैसे कि असहयोग आंदोलन जिसने कि रवीन्द्रनाथ की मानसिकता को झकझोर दिया था। उत्तेजित भीड़ द्वारा विदेशी कपड़ों की होली जलाना और उस पर खुश होने से उन्हें नफरत थी। विद्यार्थियों का स्कूल और कालेज छोड़कर राजनीतिज्ञों के हाथ का खिलौने बनने पर भी वे बहुत दुखी थे। वे यह बिल्कुल मानने को तैयार नहीं थे कि सूत कातना ही भारत की आर्थिक स्थिति को बेहतर करने का अचूक नुस्खा है। लेकिन उन्होंने लघु उद्योगों, जिनमें सूत कातना भी शामिल था, को हमेशा दुबारा शुरू करने की मांग की थी। उन्होंने यह भी देखा कि कांग्रेस ने इस कताई के द्वारा भरपूर राजनैतिक प्रचार और प्रभाव बढ़ा लिया है। उन्होंने एक बार मजाक में कहा भी था कि वे सूत कातने

के मुकाबले कहीं अधिक आसानी से किस्सा कात सकते हैं।

कलकत्ता के एक आम व्याख्यान 'शिक्षार मिलन' में रवीन्द्रनाथ ने महात्मा का सीधा जिक्र किए बिना उनके नेतृत्व की आलोचना की। रवीन्द्रनाथ ने वाग्मितापूर्ण भावों से भारत और पश्चिम के बीच बौद्धिक और नैतिक शिक्षा के आदान-प्रदान को आवश्यक बताया। वे अपने ही बंगाल के लोगों के बीच इतना अलग महसूस कर रहे थे कि उनके इस भाषण से ख्याति प्राप्त बंगाली कथाकार शरत्चंद्र चटर्जी से प्रत्युत्तर के रूप में एक लेख 'शिक्षार विरोध' प्राप्त हुआ। महात्मा जब सितंबर 1921 को बंगाल आए तो कवि के जोड़ासांको स्थित आवास के बंद दरवाजों के पीछे लंबी वार्ता हुई। इसमें एंड्रयूज भी शामिल थे। वैसे इस संवाद की कोई अधिकारिक रिपोर्ट प्राप्त नहीं है और ना ही यह पता है कि क्या कुछ घटित हुआ लेकिन यह समझा जाता है कि गांधी जी ने रवीन्द्रनाथ से अपने राजनीतिक कार्यक्रम के लिए खुले और सक्रिय समर्थन की मांग की थी। यह भी अच्छी तरह समझ लिया गया कि दोनों सच्चे दोस्त की तरह इस रजामंदी के साथ विदा हुए कि वे एक-दूसरे से असहमति रखते हैं।

जब गांधी जी और रवीन्द्रनाथ की वार्ता चल रही थी तब एक भारी भीड़ घर के बाहर जमा होकर महात्मा के प्रति सहानुभूति जताते हुए विश्ववंद्य कवि को कोई सबक देना चाहती थी। भीड़ नें पास की दुकानों से विदेशी कपड़ों के कई थान इकट्ठे कर लिए और रवीन्द्रनाथ के घर के आंगन के बीचों-बीच आग लगा दी। उस स्मरणीय दिन की वार्ता का सारांश खुद रवीन्द्रनाथ ने कुछ समय बाद लियोनॉर्ड एलम्हर्स्ट को भेज दिया था। गांधी ने इस पर जोर दिया कि उनका आंदोलन अहिंसा के सिद्धांतों के अनुरूप था। तब रवीन्द्रनाथ ने कहा था, "आप स्वयं मेरे घर के बरामदे के छोर से देखिए कि आपके अहिंसक समर्थक किस ओर जा रहे हैं। वे चितपुर सड़क की दुकानों से कपड़े चुराकर, मेरे घर के आंगन में उसमें आग लगाकर उसके चारों तरफ पागल कलंदर की तरह चिल्ला रहे हैं। क्या यही अहिंसा है?"

आधुनिक भारत के इन दोनों महान विभूतियों के दृष्टिकोण के अंतर को रोम्यां रोलां ने स्पष्ट किया है जो कि दोनों के मानस अच्छी तरह समझते और उनकी प्रशंसा कर सकते थे। उनके ही शब्द हैं, "रवीन्द्रनाथ और गांधी के बीच विवाद दो महान मनीषियों का अंतर्द्वंद्व है जो कि परस्पर सम्मान और प्रशंसा से ओतप्रोत है। लेकिन वे अपनी भावनाओं में ऐसे अलग थे जैसे कि एक दार्शनिक किसी धर्म-प्रचारक से; सेंट पाल का किसी अफलातून से अलग रहना जरूरी है। एक तरफ हमारे पास धार्मिक विश्वास और नई मानवजाति स्थापित करने के लिए भिक्षादान चाहता हुआ व्यक्तित्व है तो दूसरी ओर प्रज्ञा, स्वतंत्र चेतना, शांत और उदार व्यक्तित्व है, जो सारी मानवता की समस्त आशाओं और आकांक्षाओं को सहानुभूति और सद्भाव से एकता के सूत्र में बांधना चाहता है।" रवीन्द्रनाथ गांधी को

हमेशा संत मानते रहे थे और मैंने कई बार उनके बारे में पूरी श्रद्धा से बात करते हुए सुना है। जब मैंने महात्मा के बारे में बताते हुए टाल्सटाय का नाम लिया तो रवीन्द्रनाथ ने मुझे टोका और तब मुझे एहसास हुआ कि मैं गांधी को ज्यादा अच्छी तरह जानता था—कांति और तेज के आवरण से आच्छन्न आत्मा—टाल्सटाय की आत्मा से गांधी के हर साधन का जुड़ाव है। उनका स्वभाव उनकी प्रकृति है—विनम्रता, सादगी और पवित्रता जबकि उनके सारे संघर्ष धार्मिक प्रशांति से मंडित थे जबकि मानवीय मनोभाव के विरुद्ध संघर्ष करनेवाले उग्र योद्धा टालस्टाय में हर चीज हिंसक थी यहां तक कि उनका अहिंसात्मक सिद्धांत भी।

"फिर भी, उन दोनों व्यक्तित्वों के बीच की दूरी को बढ़ाना उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। उस समय रवीन्द्रनाथ सिर्फ 'कवि' ही नहीं, यूरोप में एशिया के आध्यात्मिक दूत थे। जहां उन्होंने शांतिनिकेतन में विश्वविद्यालय बनाने के लिए लोगों की सहायता मांगी थी। यह नियति की विडंबना ही थी कि रवीन्द्रनाथ दुनिया को एक तरफ जहां प्राच्य और पाश्चात्य के बीच आपसी सहयोग का पाठ सिखा रहे थे वहीं दूसरी ओर उसी समय असहयोग का पाठ सिखाया जा रहा था।"

असहयोग उनके सोचने के तरीके से टकराता था, क्योंकि उनकी मनोवृत्ति और उनकी गहरी समझ को विश्व की तमाम संस्कृतियों से पाला-पोसा गया था।

रवीन्द्रनाथ गांधी के अंदर बहिष्कार की भावना से भयभीत नहीं थे—वे जानते थे कि गांधी इस बात से परे थे—लेकिन वे यह भी जानते थे कि उनके समर्थक राष्ट्रीयता का बुखार चढ़ाने के लिए अपने पूर्वाग्रह और आवेश भड़काने में कोई भी नैतिक संकोच नहीं करेंगे। उन्होंने शांतिनिकेतन में अपने शिष्यों, जिनमें से कुछ महात्मा द्वारा असहयोग की अपील में बह गए थे, से पूछा था कि स्कूल और कालेजों का बहिष्कार करने से क्या होगा? छात्रों से यह कैसा बलिदान मांगा जा रहा है? बलिदान भी शिक्षा छोड़ने के लिए न कि पूर्ण शिक्षा के लिए। रवीन्द्रनाथ विद्यार्थियों को राजनीति के गंदे कीचड़ में धकेलने के कट्टर विरोधी थे। कोई एक दशक पहले तक जब वे स्वयं बंगाल में स्वदेशी आंदोलन के नेता थे, युवा विद्यार्थियों के एक दल ने उनसे कहा कि अगर वे कहें तो वे पढ़ाई छोड़ने को तैयार थे। जब उन्होंने इसके लिए मना किया तो वह दल उनकी देशभक्ति पर शक करता और गुस्से से तमतमाता बाहर चला गया था।

निरंकुश स्वच्छंदता के नाम पर आत्मा की स्वतंत्रता को कुचल डालने वाली अन्यनिष्ठा के प्रति आशंकित रवीन्द्रनाथ ने अपने संदेह और विरोध को कलकत्ता की एक सार्वजनिक सभा में बड़े प्रभावी ढंग से व्यक्त किया था। बाद में इसका अंग्रेजी रूपांतर 'द काल आफ द ट्रुथ' शीर्षक से 'माडर्न रिव्यू' में प्रकाशित हुआ था।

इस बारे में रोलां ने टिप्पणी करते हुए कहा, "रवीन्द्रनाथ के ये प्रभावशाली शब्द उन सर्वोत्तम शब्दों में से हैं जो किसी राष्ट्र को संबोधित हैं। तमाम मानवीय संघर्षों से परे की

योजना और धूप की कविता है। अगर कोई आलोचना कर सकता है तो यह कि इसका स्तर काफी ऊंचा है। रवीन्द्रनाथ शाश्वतता की दृष्टि से सही हैं। वे एक विहग कवि हैं--जैसे चील के समान सारस। हीने ने उन्हें हमारे संगीत का ऐसा साधक बताया जो काल के खंडहरों पर बैठा गीत गाता है। वह काल की अनंतता में जीता है। लेकिन जिसके लिए वर्तमान की आकांक्षा को भी बहुत आवश्यक समझता है।"

गांधी ने कवि की चुनौती का 'यंग इंडिया' में एक लेख प्रकाशित कर सशक्त प्रत्युत्तर दिया। उन्होंने कवि को एक 'महान संतरी' बताया जिसके नैतिक कूटावघात के विरोध में चेतावनियों को ससम्मान सुनना चाहिए; लेकिन--महात्मा आगे कहते हैं कि उनकी आशंकाएं निराधार नहीं हैं। अंततः नैतिक आक्रोश तक जाते हुए वे घर में आग लगने के समय चौकड़ी भरने के लिए कवि की भर्त्सना करते हैं।

"कवि कल के लिए रहते हैं और हमसे भी ऐसा ही करवाना चाहते हैं। वह हमारी प्रशंसक नजर के सामने सुबह सुबह प्रशंसा के भजन गाते और आकाश की ओर उड़ती चिड़ियों की सुंदर तस्वीरें उतार देते हैं। इन पक्षियों ने दिन का खाना लिया होगा और विश्राम के बाद तरो-ताजा होकर पंखों से उड़ान भरी होगी जिनकी नसों में पिछली रात नया खून दौड़ता होगा। लेकिन मुझे ऐसे पक्षियों को देखना कष्टकर प्रतीत होता है जो शक्ति के अभाव में अपने पंख तक नहीं हिला सकते। भारतीय आकाश में मनुष्य रूपी पक्षी तब धीरे धीरे ऊपर उठता है जिस समय वह सेवा निवृत्त होता दिखाना चाहता है। करोड़ों के लिए वह एक आंतरिक वीक्षा या अनंत आत्मविस्मृति है। मैंने यह देखा है कि कबीर के पद गाने से कष्ट भोगते रोगियों को राहत पहुंचाना मुश्किल है।

"उनको काम दो ताकि वे खाना खा सकें। यह सवाल पूछा जा सकता है कि मैं, जिसे खाने के लिए काम करने की जरूरत नहीं; चरखा क्यों कातूं? मैं वह खा रहा हूं जो मेरा अपना नहीं है। मैं अपने देशवासियों से लूट मार कर उस पर जी रहा हूं। तुम्हारी जेब में जो भी सिक्का आता है, उसका स्रोत ढूंढ़ों तब तुम्हें यह अहसास होगा कि मैं जो लिख रहा हूं, वह सच है। हर किसी को चरखा नहीं चाहिए। रवीन्द्रनाथ को दूसरों की तरह चरखा चलाने दो। उसे अपने विदेशी कपड़े जलाने दो, यही आज का कर्तव्य है। कल का ध्यान भगवान रखेगा।"

"ये कितने निराशा भरे और दुखद शब्द हैं"--रोम्यां रोलां ने टिप्पणी की थी--"हमारे साथ यही त्रासदी है कि दुनिया कलापूर्ण सपने देखने से पहले उठकर चिल्ला रही है कि खबरदार मेरे अस्तित्व की अनदेखी मत करो। ऐसा कौन है जो गांधी जी के भावप्रवण मनोभाव से सहानुभूति न रखता हो और बांटता न हो? फिर भी इस गर्वित और मर्मस्पर्शी उत्तर में कुछ न कुछ ऐसा था जो रवीन्द्रनाथ की आशंकाओं को उपयुक्त या उचित सिद्ध करता था *(Sileat Poeta)* उस आदमी को जबरदस्ती खामोश खड़े रखने के लिए, जिसे

अनिवार्य अनुशासन में रहने के लिए बुलाया गया हो। बिना किसी विमर्श के स्वदेशी के कानून को मानो, जिसका पहला नियम चरखा कातना है।"

रवीन्द्रनाथ एक ऐसे व्यक्ति की, और जिसके आचरणों को वे बहुत सम्मान देते थे और जिनके हृदय में आने की कामना और परिकल्पना की थी, उनके साथ वे अनिर्णायक वाद-विवाद को खींचना नहीं चाहते थे, इसलिए रवीन्द्रनाथ विश्राम के लिए अपनी मनपसंद जगह शांतिनिकेतन वापस चले गए। अगर उसने पहले से अपने को याद दिलाया होता, "यदि तुम अपने साथियों के साथ इतिहास के बड़े संकट में उनके साथ कदम से कदम नहीं मिलाते तो सावधान हो जाओ और यह मत कहो कि वे गलत हैं और तुम सही हो। उस स्थिति में अपना स्थान छोड़ दो और तब अपने कवि के कोने में जाओ और उपहास और जनता में अपयश के पात्र बन जाओ।" और इसलिए वे वापस चले आए रूठ कर नहीं बल्कि गाने के लिए। हार के अंधेरे में उन्हें एक आवाज सुनाई दी। तुम्हारी जगह बच्चों के साथ है जो कि दुनिया के नदी किनारों पर खेल रहे हैं और मैं वहां तुम्हारे साथ हूं। परिणामस्वरूप बच्चों की कविताओं की एक सुंदर रचनावली जिसमें बच्चे के दिमाग की गीतात्मक व्याख्या लिखी गई, जो कि 1922 में 'शिशु भोलानाथ' में प्रकाशित हुई। इसे पढ़ते हुए दो दशक पहले प्रकाशित हुई 'क्रिसेंट मून' की याद आना स्वाभाविक है।

जिस उदासी से वे इन कविताओं में राहत चाहते थे वह न्यूयार्क में पहले ही शुरू हो चुकी थी जहां वे 'कैसल आफ बिगनेस' की काल कोठरी में अपने को कैदी की तरह देखते थे। वे विलाप कर रहे थे, "मेरा दिल तड़प रहा है। मैं दिन-रात शांतिनिकेतन के स्वप्न देखता हूं जो कि सादगी भरे उन्मुक्त वातावरण में एक फूल की तरह खिल रहा है। मैं यह महसूस कर सकता हूं कि आत्मा के लिए गणित के दैत्य का भार सहना एक भयावह स्वप्न की तरह है। वह निरंतर अपने शिकार को खदेड़ता रहता है लेकिन उन्हें कोई दिशा नहीं देता।" दो वर्ष बाद, साउथ अमेरिका की यात्रा के दौरान जब उन्होंने अपनी डायरी लिखनी शुरू की तो उसमें उन्होंने उल्लेख किया कि अमेरिका में तो उनका दम घुट रहा है। उसका उनके मन पर क्या प्रभाव पड़ा जिसमें ये कविताएं रची गईं। बेशुमार धन-दौलत, आराम और ताकत को जमा करने का दृश्य और आदमी का यह अंधा और असंतुष्ट विश्वास कि जमा-पूंजी हमेशा बढ़ती जाएगी, ने उसके मानस में विद्यमान भोलेनाथ शिव अनासक्ति और निश्चिंतता के सर्वोच्च देवता, जिनका अलौकिक नृत्य ब्रह्मांड का निर्माण और संहार करता है, मनुष्य के अभिमान का उपहास उड़ाता है। इस कृति की पहली कविता ऐसे ही एक अलौकिक शिशु भोलानाथ को संबोधित है। भोलानाथ—जो शाश्वत बालक है और शाश्वत भोलानाथ जो हर बालक में है।

ये कविताएं उतनी ही उत्कृष्ट हैं जैसे शिशु की कविताएं (द क्रिसेंट मून) उन्नीस साल पहले लिखी गई थीं और उनमें वही भावधारा थी—बच्चे की मां से निरर्थक बक बक में

अंतर्ज्ञानी बुद्धिमत्ता की निर्मल अंतर्धारा।

"मैं सोया और जगा हूं, सोता हूं और फिर जागता हूं। मैं कई बार सोचता हूं क्योंकि मां, तुम जब मुझे गोद में सुलाती हो, मुझे खो देती हो, लेकिन शायद नहीं भी खोती हो--ठीक वैसे जैसे कि रात में सूरज और दिन में तारे खो जाते हैं।"

"अगर तुम मेरी नहीं बल्कि किसी और की मां होतीं तो क्या तुम सोचती हो मां कि मैं तुम्हें नहीं जानता? क्या मैं तब भी तुम्हारी गोद में नहीं छुपता? कितना मजा आता यदि मेरे पास दो घर होते एक दिन के लिए और एक रात के लिए। फिर जैसे ही शाम होती मैं धीरे-से तुम्हारे पीछे सरक कर आता तुम्हारी आंखों को हथेली में छुपाकर पूछता 'मैं कौन हूं?' और तुम कहतीं 'जरूर कोई ऐसा जिसे मैं जानती हूं और फिर भी मैं नहीं जानती कौन'।....."

"मां तुम जानना चाहती हो कि मैं कहां जाना चाहता हूं? जहां से मैं आया हूं, मैं वहीं जाना चाहता हूं। पर वह है कहां, मैं यह खोजता रहता हूं। मुझे नहीं लगता कि मुझे कुछ याद है। मुझे हैरान देखकर, पिताजी ने एक दिन हंसते हुए कहा था, 'वह जगह बादलों के पार है जहां संध्या तारा रहता है', और तुम कहती हो, 'वह जगह धरती के नीचे है, जहां से फूल निकलते हैं।' और चाची कहती है 'अरे पगले वह जगह तो हवा में गायब हो गई है--तुम भला उसे कैसे देख सकते हो?' तब मुझे लगता है कि वह तो हर जगह है। सिर्फ हमारे शिक्षक कहते हैं कि वह कहीं भी नहीं है।"

"सोम, मंगल, बुध ये सब इतनी जल्दी आ जाते हैं इनके घर जरूर हवाई जहाज होंगे। लेकिन रविवार इतनी देर से क्यों आता है मां? ऐसा लगता है कि वह सबसे पीछे रह जाता है। क्या वह सबसे दूर रहता है जितना दूर आसमान है और क्या वह तुम्हारी तरह गरीब मां-बाप का बच्चा है मां?"

और कविताओं की यात्रा से जैसे जैसे खुशी के रास्ते बढ़ते जाते हैं वैसे हम एक दुनिया में आ जाते हैं जो कि बहुत सुंदर और स्वच्छ है और यही ख्याल आता है कि बड़े लोगों ने इसे क्यों नरक बना दिया है। अपनी भानजी इंदिरा को पत्र में उन्होंने यहां तक कहा, "ये कविताएं मैंने अपनी बड़े होने की जिम्मेदारियों से जूझते दिमाग को राहत देने के लिए लिखी थीं। मैंने इन कविताओं में उन अभिव्यक्तियों को स्थान दिया है जो बहुत दिनों से मेरे दिमाग में कुलबुला रही थीं। जैसे कि--मेरे जीवन का अर्थ क्या है--यह इसकी भूमिका में ही लिखा है--जिसमें यह बताया गया है कि धरती एक खेल का मैदान है--जहां एक शिशु के रूप में मेरा जन्म हुआ। अपनी बढ़ती वय के साथ हममें जिम्मेदारियों का ज्वर या ज्वार भी बढ़ता चला गया। हम खेल को तुच्छ दृष्टि से देखने के आदी हो गए और कार्य तथा क्रीड़ा के बीच विरोधाभास पैदा करने की कोशिश को अधिक समझदारी का काम समझने लगे। हम यह भूल गए कि उससे विश्व-निर्माता की अवहेलना हो रही है,

जो पसीना बहाए बिना कार्य करता है और सर्वोच्च वरदान के रूप में उपस्थित होता हुआ भी समस्त दायित्वों से मुक्त है।"

लेकिन यह राहत सविराम और बहुत छोटी थी। शांतिनिकेतन भी उनका ध्यान आकर्षित कर रहा था। पीयर्सन पांच वर्ष के अंतराल के बाद 26 सितंबर को आश्रम लौट आए। उनके साथ युवा अंग्रेज लियोनार्ड एलम्हर्स्ट भी आए थे जिनसे रवीन्द्रनाथ न्यूयार्क में मिल चुके थे। उन्होंने रवीन्द्रनाथ का श्रीनिकेतन में ग्रामीण विकास केंद्र में सहायता देने का न्यौता स्वीकार किया। वे इस काम के लिए डोरोथी स्ट्रेट की उदारता से काफी राशि जुटा लाए थे। कुछ ही समय बाद फ्रेंच विद्वान सिल्वां लेवी विश्वभारती में प्रोफेसर की हैसियत से आए और इस तरह किसी भी भारतीय विश्वविद्यालय में तिब्बती और चीनी विषय का पहला विभाग खुला। रवीन्द्रनाथ खुद लेवी की कक्षाओं में जाते थे। 23 सितंबर 1921 को विश्वभारती का औपचरिक उद्घाटन हुआ और एक ट्रस्ट द्वारा जमीन, इमारतें और शांतिनिकेतन की जायदाद सब कुछ उनके नाम कर दिया गया। रवीन्द्रनाथ ने भेंट स्वरूप तब तक प्रकाशित अपनी मूल बंग्ला रचनाओं का कापीराइट अधिकार दिया। नोबेल पुरस्कार की राशि पहले ही स्कूल को दान दी जा चुकी थी।

इन सारी उत्तेजनाओं के बीच वे देश के राजनैतिक दृश्य पर चिंतन करते रहे जब तक उनके दिमाग के अवचेतन मंथन में उन्होंने प्रतीकात्मक नाटक जो कि जनवरी 1922 में लिखा गया, में एक नाटकीय अभिव्यक्ति नहीं ढूंढ़ ली। नाटक जो कि एक तरह से गांधी जी के व्यक्तित्व और अहिंसा के आंदोलन से प्रेरित था--जिसे 'मुक्तधारा' नाम दिया गया, उन्हें एक श्रद्धांजलि है। नाटक की पृष्ठभूमि उत्तराकट राज्य के पड़ोसी शिक्तराई के लोगों की राजनैतिक परतंत्रता है। मुक्तधारा एक पहाड़ी झरना है जिसका पानी उत्तराकट की ढलानों से होता हुआ शिक्तराई के मैदानों की सिंचाई के काम आता है। अपनी इच्छाओं की तरफ रैयतों के झुकाव के लिए उत्तराकट के राजा ने उनकी परस्परता के एकमात्र साधन मुक्तधारा पर एक बड़ा बांध बनवा दिया ताकि उसका पानी नीचे मैदानों तक न पहुंचे। उसके यंत्रों के खंभे सारे परिदृश्य पर छा गए और पहाड़ की चोटी पर शिव के मंदिर के त्रिशूल को भी पीछे छोड़ गए। नाटक के शुरू में राजा और उत्तराकट की प्रजा इस दानवी यंत्र के सम्मान में होने वाले एक उत्सव की तैयारी करते हैं--अपनी सफलता से बहुत खुश और उसके नतीजे से बेफिक्र गरीब तराई के लोगों को पानी नहीं मिलेगा। राज्य का युवराज, फिर भी, प्रजा की तरफ खुलेआम हमदर्दी जताता है और अपने ही राज्य की निर्दयता के विरुद्ध उठ खड़ा होता है। उसी का चरित्र नाटक में मुख्य रूप से मनोवैज्ञानिक अभिरुचि उत्पन्न करता है, न्याय और स्वतंत्रता के लिए उसकी ललक उसे न्यायपूर्ण लड़ाई में घसीटती है। वह मुक्तधारा से कैद जल को मुक्त करने के लिए एक जगह से कमजोर बने बांध को तोड़ने के लिए अपनी जान की बाजी लगाने का निर्णय करता है। वह सफल होता

है। उत्ताल तरंगों के साथ प्रचंड जलधारा युवराज को अपने साथ बहा ले जाती है। नाटक का सामाजिक-राजनैतिक मूलभाव अंततः किसी रहस्यवादी प्रशंसा के भाव में, बिना किसी व्याख्या के खो जाता है, जैसा कि हम इब्सन के कुछ परवर्ती नाटकों में पाते हैं।

रवीन्द्रनाथ ने तपस्वी धनंजय का पात्र, काफी कुछ महात्मा गांधी के प्रतिरूप जैसा–नाटक में दोबारा डाला है जो इसके पूर्व लिखित नाटक 'प्रायश्चित्त' (1901 में प्रकाशित) में आ चुका था। उस नाटक में भी इस नाटक की तरह धनंजय प्रजा को अहिंसा और निडर होकर राजा के अन्यायपूर्ण दबावों को रोकने के लिए उपदेश देता है। शायद ही रवीन्द्रनाथ का कोई और नाटक उनके राजनैतिक विश्वास को इतने सीधे और ओजस्वितापूर्ण तरीके से व्यक्त करता हो–तानाशाही शोषण चाहे वह विदेशी या देशी–से घृणा और उनका विश्वास कि तानाशाही अहिंसा से और बुराई स्वैच्छिक त्याग से रोकी जा सकती है। इसकी कथावस्तु सीधी-सादी है। उपकथानक और अन्यान्य घटनाओं से बचकर, फिर भी अनजाने पथिक मंच पर आते-जाते रहते हैं जैसा कि रवीन्द्रनाथ के प्रत्येक नाटक में होता है। उनके अनुसार विश्व ही सच्चा मंच है और दुनिया ऐसे आम लोगों से भरी पड़ी है। मनुष्य की दानवी शक्तियों के बढ़ते जाल के घृणित परिदृश्य जो कि यंत्र के रूप में सांकेतिक हैं, पुरुष और स्त्रियों के जुलूस का लगातार आना-जाना शोषक और चापलूस, आदर्शवादी और गुनगुनाते खटमल, देशद्रोही और उनके चाटुकार और अनजाने लोगों की भारी भीड़ अपने विनोदपूर्ण हास्य और अनगढ़ समझ के साथ।

इस विशिष्ट नाटक का मंचन उनके जीवन-काल में कभी हो नहीं पाया। इसे नाटककार ने जनवरी 1922 में, कलकत्ता में अपने मित्रों के बीच पढ़ा और बाद में इसके मंचन की तैयारियां भी की गईं लेकिन मंचन के ठीक पूर्व–मार्च में महात्मा गांधी की गिरफ्तारी, मुकदमा और फिर छह साल के कठोर कारावास का समाचार आ गया। इसलिए सारी तैयारी बीच में ही छोड़ देनी पड़ी, और जो फिर कभी दोबारा शुरू नहीं हो पाई।

13

पूर्व और पश्चिम

सारी मानवता का सर्वोच्च शिखर मेरा है।

शांतिनिकेतन को एक विश्व-नीड़ (सारी दुनिया को एक घोंसले) में समेटने का रवीन्द्रनाथ का सपना--जहां विश्व के कोने कोने से सारी संबंधित आत्माएं आकर रहें, अब सच हो रहा था। या ऐसा लग रहा था। जो पहले एक आश्रम सोचा गया था वहां अब एक शहरी मधुमक्खी का छत्ता बन रहा था। यह नयनाभिराम छत्ता ज्यादा शहद दे रहा था या शोर, यह कहना मुश्किल था। वातावरण काफी प्रेरक था और रवीन्द्रनाथ इस वातावरण और इससे जुड़े संकेतों के प्रति अति संवेदनशील थे। बहुतेरे नवीन कार्य किए गए और उसका लाभ विश्वभारती ही नहीं बल्कि कई अन्य विश्वविद्यालयों को भी मिला।

यह प्रेरणा सिर्फ कवि के लिए बहुत अधिक थी कि विश्व अब एक हो रहा था और उन्हें अपने आदर्श की रक्षा और लोगों का मन जीतने के लिए काफी सारी यात्राएं करनी पड़ेंगी। इस विश्वास से शायद ही कोई भ्रम ज्यादा आनंदकर होगा कि एक विश्व के घावों को ठीक कर रहा है और रवीन्द्रनाथ इस यात्रा के लिए न ही पहले और न ही आखिरी आदमी थे। किसी धर्मप्रचारक जैसे उत्साह की जरूरत भी नहीं थी और न बाल की खाल उतारनेवाले की बल्कि एक सच्चे, वाग्मी और आधुनिक नायक की--जिसकी समझ विश्व स्तर की हो और जो आदर्श के आधार पर वह पाना चाहता हो जो बदकिस्मत 'लीग आफ नेशन्स' और उसका अनुज 'यूनाइटेड नेशन्स' राजनैतिक आधार पर पाने की कोशिश कर चुके थे। इसके लिए रवीन्द्रनाथ घर में बदनामी भी सहने को तैयार हो गए और एक विश्व का विश्वास जो बाद में एक विश्व का चलन बन गया, इसके लिए उपहास और ताने भी सहे।

एक उससे भी बड़ा बलिदान उस जोखिम को उठाने का था--जो उन्होंने अपनी रचनात्मकता और आत्मिक संतुलन को बाजार के कोलाहल में प्रदर्शित करने का लिया था। क्या लोकप्रसिद्धि की चकाचौंध का इतना संवेदनशील पौधा जो अब तक अपेक्षतया गुमनामी की रक्षात्मक छांह में रखा था, खिलेगा या कि मुरझा जाएगा? क्या फिर से वह

कला देवी के एकतरफा भावपूर्ण ध्यान में दुबारा बंदी हो पाएगा, जीवन देवता के साथ उसकी आत्मीय बातें उसके अंदर उसके परमप्रिय भगवान, सामान्य स्थानों के दृश्य और श्रव्य, भाइचारे का हर्षोन्माद, बांसुरी की सादगी से इंतजार करती हुई 'संगीत से भर उठना'—जो कि कभी उसका था? कवि पैगंबर से, गायक उपदेशक से और भक्त धर्मप्रचारक से हार रहा था। 'गीत के संकरे विस्तार का अंतहीन अर्थ' विश्व के सुविस्तृत फैलाव में हो रहे अंतहीन प्रचार में घुल रहा था। वह इतना संवेदनशील और सच्चा था कि अब या तब उस दुर्दशा की जानकारी से भावाविष्ट था, जैसा कि उनकी एंड्रयूज को शिकागो से 26 फरवरी 1921 को लिखी चिट्ठी (जो किसी अपराध की स्वीकृति जैसी लगती थी) से प्रतीत होता है :

"जब मैं इस दुनिया में आया था तब मेरे पास एक बांसुरी के अलावा कुछ नहीं था। यह सिर्फ संगीत बजाने के लिए काम में आती थी। मैंने अपना विद्यालय छोड़ दिया और अपने काम की अनदेखी कर दी, लेकिन मैंने अपनी बांसुरी संभाल ली थी और एक निरर्थक क्रीड़ा की तरह उसे बजाता गया। इन सबमें मेरा एक ही सखा था, वह भी अपने खेल में संगीत बजाता। उसका संगीत पत्तों में, बहते जल में, सितारों की खामोशी में, आंसू और मुस्कुराहटें मानव जीवन में अंधेरों और उजालों के रूप में तरंगायित हो जाता। जबकि मेरा साथी शाश्वत बांसुरी बजानेवाला था, इस खेल की आत्मा और मैं विश्व के हृदय के बिल्कुल समीप था। मैं उसकी मातृभाषा जानता था, और मैं जो गाता था वह जीवन के नृत्य शिक्षक और जल और वायु के गायकवृंद द्वारा स्वीकार कर लिया गया।

"लेकिन मेरे सपनों की दुनिया के बीच एकदम स्कूल के शिक्षक आ गए और मैं इतना बेवकूफ था कि उनके निर्देशों को मानता चला गया। मैंने अपनी बांसुरी बगल में रख दी, और उस खेल का मैदान छोड़ दिया जिसमें एक शाश्वत शिशु अपना पारलौकिक जीवन उसी निरर्थक खेल में व्यतीत करता है। एक ही क्षण में मैं बूढ़ा हो गया और बुद्धि का बोझ अपनी पीठ पर ढोता एक द्वार से दूसरे द्वार सत्य की हांक लगाता जा रहा था।

"यह बोझ मुझे क्यों ढोना पड़ा मैं यही बार बार अपने से पूछता, अपने ऊपर कर्कश ध्वनि में चिल्लाता, इस कोलाहल भरे विश्व में जहां हर कोई अपने ही दुखड़े रो रहा है? सब अपने प्रचार के ठेलों को एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप तक धकेलते हुए—क्या यही कवि के अंत की पराकाष्ठा है? मुझे यह सब एक बुरे सपने की तरह लगता है जिससे मैं रात के सन्नाटे में अक्सर उठकर बैठ जाता हूं और बिस्तर पर भयभीत बैठा अपने आपको टटोलता रहता हूं। 'मेरा संगीत कहां है?'

"वह कवि जो अपने जीवन के लक्ष्य के प्रति सच्चा है वह प्यार की फसलें काटता है लेकिन जो कवि अच्छाई के रास्ते पर भटकता है केवल तालियों और शाबाशी के साथ छोड़ दिया जाता है। इसलिए मैंने एक अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की स्थापना की—यह एक

महान कार्य था। लेकिन मैंने अपना छोटा गीत खो दिया--एक ऐसी क्षति जो कभी पूरी नहीं की जा सकेगी। यह मेरी हार्दिक इच्छा है कि मुझे मेरी बांसुरी मिले और फिर से मैं व्यस्त और समझदार लोगों से तिरस्कृत और अनदेखा किया जाऊं एक नाकारा, निराशाजनक और कभी न सुधरनेवाले आदमी की तरह।''

क्या रवीन्द्रनाथ एक ज्यादा बड़े कवि होते अगर नोबेल पुरस्कार और उसके बाद उससे संबंधित प्रचार और ख्याति ने उनकी प्रसिद्धि में बाधा नहीं डाली होती और जिसकी वजह से उनकी प्रतिभा इतनी परिपक्व हो सकी थी? क्या उनकी आत्मा के अंदर दृष्टि ने और गहरी गहराइयों में थाह ली होती अगर सागर पर एक धर्मप्रचारक की तरह जलयात्रा करते ताकि आदमी-आदमी को और अच्छी तरह समझ सके और उसकी बजाय उन्होंने अपने अंदर के सागर का मंथन किया होता? कौन कह सकता है कि क्या होता, अगर यह होता और वह न होता? ये सब बेकार की अटकलें हैं : ''एक अगर लगाकर तुम सारे पेरिस को बोतल में डाल सकते हो''--यह एक प्रसिद्ध फ्रांसीसी कहावत है।

जो बात यहां महत्वपूर्ण है वह यह है कि इतने प्रलोभन, विकर्षण और कभी कभी विपथगमन के बावजूद रवीन्द्रनाथ कभी भी अपने कर्तव्य से ज्यादा नहीं भटके, जो एक कवि और गायक, मनुष्य और प्रकृति प्रेमी, एवं एक भक्त जो व्यक्ति सत्ता में दिव्य सत्ता के दर्शन करता है और दिव्य से मनुष्य का आह्वान करता है। असल में, कोई यह भी कह सकता है कि छोटे पश्चिमी अवकाश और सामयिक अंतरालों पर धर्म प्रचारक उत्साह की बौछारें एक विकर्षण थीं। यह एक स्वस्थ विपथन था जो उनकी आत्मा को अधिकाधिक समृद्ध तथा उनके मानसिक क्षितिज को और विस्तार दे रहा था। चाहे वह उसकी वजह से या उसके ना होने की वजह से, तथ्य यह है कि रवीन्द्रनाथ कभी भी सर्जनात्मक होने से पीछे नहीं हटे, संसार की सर्वोत्तम मनीषा के साथ अपने जीवन के अंतिम दिनों तक, जब तक उन्हें होश था वे हमेशा नए क्षेत्र में खोज करते और बंग्ला साहित्य और भाषा में नई ऊंचाइयों की ओर--जो आज तक अनछुई थीं, बढ़ते रहे। यहां तक कि अपने अपेक्षतया खाली वक्त में भी वे इतनी श्रेष्ठ कोटि की रचना करते थे जिससे कि दूसरे लेखक प्रसिद्ध हो जाएं।

यह सच है कि कभी कभी ऐसा लगता था कि प्रेरणा छीज रही है, पताका की शक्ति और उन्होंने आदत के मुकाबले जीवन से कम पाया। ऐसे समय में वह उथले दोहराव से भरे और बासी प्रतीत होने लगते थे। इतनी अधिक यात्राएं और बार बार मंच पर आना, चापलूसों का घेराव और उच्च आदर्श की रक्षा के लिए अंतहीन यात्राएं (जो बाद में विश्वभारती के लिए धन जुटाने के लिए प्रचार अभियान में ढल गई) ये सब विकर्षण के लिए शायद ही सहायक हों--किसी सर्जनात्मक, वैचारिक, मनोदशा या फिर ध्यानशील अंतर्दृष्टि में। धीरे धीरे वे अपने प्रशंसकों के झुंड के घेरे में घिर गए थे जिनमें से कुछ दरबारी,

परजीवी और चाटुकारों से कुछ बेहतर थे--जो उनकी हर कृति, जो वे लिखते, बोलते। उनके हर कार्य की प्रशंसा करते और उनके और असल दुनिया के बीच में दीवार की तरह खड़े थे। यह एक ऐसा खतरा है—जिसका पूरी दुनिया में महान व्यक्तित्वों को सामना करना पड़ता है। लेकिन मूर्तिपूजकों के पारंपरिक घर—भारत में यह सबसे खतरनाक है। मूर्ति तोड़नेवाले खुद ही मूर्ति बन बैठते हैं।

रवीन्द्रनाथ इस विनाश से बच गए और दूसरों ने जो उनकी मूर्ति बनाई थी, उन्होंने खुद तोड़ डाली। उन्होंने खुद ही वे बेड़ियां तोड़ डालीं जो उनके इर्द-गिर्द लिपटीं या धीरे धीरे बढ़ाई गई थीं। वे सर्जनात्मक विचार के नए क्षेत्रों का संधान करते गए, अपनी सारी पुरानी उपलब्धियों को पीछे छोड़कर, कि चाहे कुछ भी हो, सबसे ऊंची चोटी या एक हरा-भरा चरागाह—उन्हें बंदी नहीं बना सकता, इसका सबसे अच्छा निदर्शन हमारे पास उनकी प्रतिभा की अनंत तेजस्विता, उनकी उस अनजान की अनथक खोज, उनका विद्वत्तापूर्ण उत्साह और आध्यात्मिक चेतना। लेकिन इसका साक्ष्य अभी भी पाना शेष था।

बेचैनी के इस दौर में, उस वक्त के दौरान जब रवीन्द्रनाथ भारत में थे, वे लगभग उतने ही दिन शांतिनिकेतन में रहते थे जितने दिन वहां से बाहर। पूरा विश्व उनका मंच था और शांतिनिकेतन उनका रिहर्सल करने का आदर्श स्टूडियो। उनसे इस अंतर्राष्ट्रीय चरित्र पर जोर उनके शिष्यों और शिक्षकों ने फरवरी 1922 में मोलियर की तीसरी शताब्दी के उपलक्ष्य में दिया। कलकत्ता में जुलाई में रवीन्द्रनाथ ने शेली के जन्म-शताब्दी समारोह की अध्यक्षता की। अगस्त और सितंबर में एक नया संगीतमय कथाक्रम 'वर्षा मंगल' (वर्षा उत्सव) का रूपांतरण कर कलकत्ता के मंच पर प्रस्तुत किया। ये रचनाएं कविता, नाटक, संगीत और नृत्य का एक मनमोहक संगम थीं जो वर्ष में सम्मिलित ऋतुओं में होने वाले जातीय उत्सवों के लिए लिखी गई थीं साथ ही वे जीवन का आनंद और खुली हवा में सांस लेने का अवसर प्रदान करती थीं। ये किसी बंधे-बंधाय सांचे में नहीं ढली थीं, इनमें लोक और शास्त्रीय परंपराएं आसानी से एक-दूसरे से घुल-मिल जाती हैं जैसे कि दर्शन और चपल-वृत्ति, धार्मिक रहस्यवाद और समकालीन घटनाओं का धारावाहिक विवरण या आंखों देखा हाल।

सितंबर 1922 में रवीन्द्रनाथ पश्चिमी और दक्षिणी भारत की लंबी यात्रा पर निकले। बंबई, पुणे, मद्रास और दक्षिण के कई अन्य महत्वपूर्ण शहरों से होते हुए वे अंत में श्रीलंका पहुंचे। उनका हर जगह स्वागत हुआ और जनता उन्हें सुनने के लिए लाखों की संख्या में पहुंचती। वापसी यात्रा में वे अहमदाबाद के साबरमती में गांधी के आश्रम गए। तब महात्मा जेल में थे और रवीन्द्रनाथ ने आश्रमवासियों और छात्रों को संदेश में विस्तार से समझाया, "बलिदान का सही मतलब वही है, जो गांधी जी चित्रित करते हैं।" उनका यह सीधा-सादा और घरेलू संदेश स्वाभाविक उद्‌गारों में व्यक्त हुआ, जिनमें महात्मा के व्यक्तित्व

के लिए गहरी श्रद्धा थी।

दो महीने शांतिनिकेतन में बिताने के बाद रवीन्द्रनाथ एक बार फिर पश्चिम और उत्तरी भारत के दौरे पर निकल पड़े। वे पश्चिम में कराची और गांधी जी के जन्म स्थान काठियावाड़ तक गए। अप्रैल में शांतिनिकेतन लौटने के बाद वे तुरंत असम के मनोरम पहाड़ी स्थान—शिलांग में गर्मियां बिताने चले गए। उन्हें रचनात्मक होने के लिए सिर्फ शांति की जरूरत थी और इसलिए उन्होंने शिलांग में एक विशिष्ट नाटक लिखा--जिसका नाम उन्होंने 'रक्त करबी' रखा जो कि बाद में अंग्रेजी में 'रेड ओलिएण्डर्स' शीर्षक से अनूदित और प्रकाशित किया गया।

यह नाटक भी इससे पूर्वलिखित नाटक 'मुक्तधारा' की तरह, रवीन्द्रनाथ की आधुनिक सभ्यता के साथ जुड़ी, प्राथमिक समस्याओं के प्रति बढ़ती चिंता को दर्शाता है। पिछला नाटक अधिग्रहित राज्यों की बर्बादी के लिए शिल्प विज्ञान की जानकारी के दानवी इस्तेमाल से संबंधित था, जबकि यह नाटक उससे भी ज्यादा मूल समस्या, जीवन में आत्मा की स्वतंत्रता को उठाता है, जो कि पिसती जा रही है, एक मशीनी और सुगठित सभ्यता की भयंकर मशीन से जो मनुष्य को मशीनी यंत्र बनाकर उनके नाम संख्याओं में बदल देती है। इस नाटक का मूल विषय है—सदियों पुराना व्यक्ति बनाम राष्ट्र, स्वच्छंदता के प्रेरक और बाध्य करने की चाह, स्वतंत्र बुद्धि और शिथिल ज्ञान शक्ति के बीच के संघर्ष जिसने 'यांत्रिक तकनीक' की बढ़ोतरी के साथ अहितकारी प्रस्थान तक पहुंचना है। नाटक का निरूपण वैशिष्ट्य रवीन्द्रनाथ का है--आधा सच, आधा अन्योक्तिपरक, तर्कपूर्ण और रहस्यवाद परस्पर घुल-मिलकर नाटकीय संघर्ष को प्रत्यक्ष से प्रच्छन्न और विचारोत्तेजक और अंत को विश्वासोत्पादक की अपेक्षा रहस्यमय बनाते हैं।

यक्षपुरी का राज्य सोने की खानों और बंधुआ मजदूरों की वजह से फल-फूल रहा है। उसका राजा बंद फौलादी लौह दरवाजों में, रहस्य, आतंक और विस्मय का नकाब पहने था। (काफी पहले चर्चिल ने इस प्रतीक के बारे में सोचा था)। उसके नाम पर पुलिस का प्रमुख जमीन पर निष्ठुरता से कोड़े और धार्मिक अंधविश्वासों का विवेकपूर्ण इस्तेमाल कर राज करता है। एक पीड़ित कहता है, वह एक ही डोर है जो माला गूंथती और चाबुक बनाती है। इस 'साहसिक नए विश्व' में नंदिनी नाम की एक युवा और जिद्दी लड़की जो किसी से नहीं डरती और जिसका सौंदर्य सब को मोह लेता है, आती है। वह इस स्वीकृत व्यवस्था को उलट-पुलट देती है, सिर्फ मजदूरों को आंदोलनकारी बनाकर ही नहीं, अपितु राजा को बहका कर खुद ही उसे उसकी छुपने की जगह से बाहर लाकर खड़ा कर देती है। जब वह देखता है कि उसके अनुचरों ने उसकी प्रजा को क्या से क्या बना दिया है, तो वह खुद ही अपने सरदारों के खिलाफ आंदोलन का नेतृत्व करता है--लेकिन नंदिनी के परमप्रिय साथी रंजन, एक साहसी और उत्साही जवान, जो सरकारी काम में जाने से

मना करता है, के मरने के बाद।

रवीन्द्रनाथ के पास एक तीर्थयात्री–दूत-सा धर्मोत्साह था। अपने देश का दौरा करने पर संतुष्ट न होने की वजह से उन्होंने चीन की यात्रा करने की सोची। एक हजार साल बीत चुके थे जब बौद्ध भिक्षुक का अंतिम दल अपने स्वामी का शांति और सहानुभूति एवं करुणा का संदेश लेकर उस धरती पर गए थे। रवीन्द्रनाथ दोनों देशों के बीच परंपरागत सांस्कृतिक संबंधों को दोबारा स्थापित करना चाहते थे जो इतने समय से टूटे हुए थे। वे कामयाब नहीं हुए। वे हो भी नहीं सकते थे, क्योंकि इस दौरान चीन और भारत कुछ ज्यादा ही दूर चले गए थे और हर धरती अपनी किण्व के बुलबुले में थी। चीन का बुद्धिजीवी वर्ग अपने पारंपरिक मूल्यों और सद्गुण से अधीर हो गया था और पश्चिम की तरफ खिंच रहा था। वह यह स्वीकार कर चुका था कि राष्ट्रीय एकता, सांसारिक सामान्य बुद्धि और विज्ञान एवं तकनीक के कठोर प्रयोग से ही उनका पारंपरिक देश उस दलदल से निकल सकता है–जिसमें वह धंसा हुआ है। रवीन्द्रनाथ के रहस्यात्मक अंतर्दृष्टि के मुकाबले वे बर्टेण्ड रसेल के विवेकपूर्ण संदेहवाद से ज्यादा प्रभावित थे। वे भारतीय कवि को प्रतिक्रियावादी, आदर्शवादी, अनावश्यक, अव्यावहारिक दिव्यदर्शन द्रष्टा और उनकी यात्रा को महत्वहीन समझते थे–हालांकि उनमें शत्रुता की भावना नहीं थी। रवीन्द्रनाथ उनके ये तेवर और क्रोध समझ गए और उस दृष्टिकोण को भी, जो वे भारत में देख चुके थे, और उनके व्याख्यान जिनमें ज्यादातर बिना किसी तैयारी के यह प्रदर्शित करते हैं कि वे किस सहानुभूति और समझ के साथ चीनी दिमाग के पास गए थे। वे व्यक्तिगत, मित्रतापूर्ण स्मरणशील होते हुए भी आमतौर पर मुंहफट, और युद्ध के विरुद्ध स्पष्टवादी थे। राष्ट्रीय शत्रुता और सांसारिक प्रगति को अंधाधुंध पुजापा बनाकर उसकी पूजा करते हुए उन्होंने जल्दी ही शत्रुता भरी आलोचना को निरस्त कर कई प्रगतिशील बुद्धिजीवियों पर विजय पाई।

रवीन्द्रनाथ ने जापान में छह हफ्ते रुककर कई व्याख्यान दिए और फिर जुलाई के उत्तरार्ध में भारत लौटे। उनकी चीन और जापान यात्रा एशिया के इतिहास में पहली सचेतक कोशिश थी। जिसके कारण उसी साल सितंबर में शंघाई में एशियाटिक एसोसिएशन ने एशिया की एकता का विचार पैदा किया। इस घटना की जानकारी देते हुए बोस्टन के 'क्रिश्चियन साइंस मॉनीटर' ने लिखा "एशियाई देशों में आम परंपराओं के आधार पर एशियाटिक मैत्री स्थापित करने के महत्वपूर्ण आंदोलन की ओर कदम बढ़ चुके हैं... इसकी प्रेरणा मिली है रवीन्द्रनाथ की सुदूर-पूर्वी साम्प्रतिक यात्रा से जिसमें उन्होंने पाश्चात्य भौतिकवाद का विरोध कर आदर्शवाद के धर्म सिद्धांत का पाठ पढ़ाया। यह नए विचार दिख रहे हैं एशियाटिक एसोसिएशन के मुख्य केंद्रों के स्थापित होने पर जिसमें से सबसे पहला शंघाई में स्थित है... इस आंदोलन को प्रेरणा देने के लिए रवीन्द्रनाथ की शिक्षाओं

के प्रति आभार व्यक्त किया गया जो कि इन घोषणाओं के द्वारा जारी किया गया।" जैसा कि कलकत्ता के 'हिंदुस्तान स्टैंडर्ड' ने समुचित संकेत भी किया था। "यह सम्मेलन इस तरह एशियाई संबंध कांफ्रेंस जो कि दिल्ली में 23 साल बाद आयोजित हुआ था--का पूर्वज था।" भारत की स्वतंत्रता में यह आश्चर्यजनक तथ्य है कि परवर्ती सभा जो कि रवीन्द्रनाथ की अपनी धरती पर हुई, उनका नाम तक नहीं लिया गया। राजनीतिज्ञों की स्मृति बहुत कमजोर होती है।

रवीन्द्रनाथ मुश्किल से घर पर दो महीने ठहरे होंगे कि फिर विश्व के दूसरे कोने निकल पड़े। इस बार पेरु गणतंत्र की तरफ से स्वतंत्रता प्राप्ति के सौ साल पूरे होने के उपलक्ष्य में निमंत्रण था। इस तरह सितंबर 1924 में वे नए विश्व के लिए निकल पड़े, इस बार भी चीन की यात्रा की तरह एलम्हर्स्ट उनके साथ थे। यह शरत ऋतु की शुरुआत ही थी--जब वे जापानी जहाज हास्ना-मारु पर निकले थे, और शरत का संगीत कवि के हृदय में घुल रहा था। वे अपना लक्ष्य भूल गए और फिर से एक प्रेमी और गायक बन गए। उपदेशों की जगह उनकी कलम से अद्वितीय विचारमग्न कोमल कविताएं उमड़ पड़ीं। तिरसठ साल का कवि अब अपने जीवन की संध्या से गुजर जा रहा था और सांध्य धुन की परिपक्वता की समृद्धि इन कविताओं में साफ नजर आती है। जैसा कि हमेशा से व्यक्ति के स्वभाव में होता है कि उसे पहले प्यार की यादें सताती हैं।

"मैंने कहा था—मैं नहीं भूलूंगा, जब तुमने
आंसुओं से धूमिल आंखों से मेरी ओर देखा था
क्षमा करना, अगर मैं भूल गया
एक अरसा हुआ उस बात को
मेरी आत्मा पर छाप है तुम्हारी काली आंखों की
प्रेम का पहला काव्यपत्र, शर्मीला और सहमा
उनके ऊपर तुम्हारे हृदय का हस्ताक्षर
समय ने फेरा था अपनी कूची का आघात प्रकाश और छाया पर
अगर आज का बसंत होता है निस्तब्ध
पूर्व बसंत का संगीत
अगर मेरी पीड़ा के प्रदीप की लौ
चुपचाप विदा हो गई
तो क्षमा करो
मैं इतना ही जानता हूं, कि तुम मेरे जीवन में आई
और मेरा जीवन भर गया गीतों की ऐसी फसल से
कि जिसकी विपुलता का कोई अंत नहीं।"

अर्जेंटीना के तट पर समुद्री यात्रा के दौरान रवीन्द्रनाथ अचानक बीमार पड़ गए और ब्यूनस-आयर्स में उन्हें जहाज से उतरने पर मजबूर किया–जहां के एक हृदय विशेषज्ञ ने उन्हें कुछ समय तक पूरा विश्राम करने को कहा। रवीन्द्रनाथ ब्यूनस-आयर्स में किसी को नहीं जानते थे लेकिन सौभाग्य से प्रतिभाशाली और सौम्य विक्टोरिया ओकाम्पो ने उनकी भरपूर खातिरदारी की और रवीन्द्रनाथ प्लेट नदी के किनारे सैन इसीड्रो में एक मनमोहक और एकांत घर पाकर खुश हुए। पेरु की यात्रा डाक्टर की सलाह पर रद्द कर दी गई। रवीन्द्रनाथ इससे दुखी नहीं थे क्योंकि इस समुद्री यात्रा के दौरान कवि ने एक धर्म-प्रचारक पर विजय प्राप्त कर ली थी। उस घर की बालकनी से बहती नदी को देखकर वे बहुत प्रसन्न और आश्वस्त हुए। और साथ ही उन्हें एक मनमोहक और समर्पित मेजबान मिली थी। वह एक सच्चा समर्पण था एक समर्पित युवा और उत्साही आत्मा का न कि एक सभ्य औरत की शेर को कैद करने की चाह। सैन इसीड्रो में अपनी जबरन छुट्टी के दौरान और कुछ समय तक लिखी गईं विशिष्ट और उच्च कोटि की कविताएं जो बहुत ही सुकुमार और उत्फुल्ल थीं और इनसे यही लगता है कि यह अवकाश काफी रचनात्मक और फलदायक रहा। ये कविताएं एक सार्थक शीर्षक 'पूरबी' जो कि किसी मधुर सांध्य रागिनी का नाम है, शीर्षक से 1925 में प्रकाशित हुईं। यह खंड 'विजया' (संस्कृत में विक्टोरिया के समानांतर) को समर्पित था, जिस नाम से रवीन्द्रनाथ अपनी मेजबान को बुलाया करते थे। "मैं तुम्हें यह भेज रहा हूं"–यह उन्होंने कलकत्ता से किताब भेजते हुए लिखा, "बंग्ला कविताओं की एक किताब जो मैं तुम्हारे हाथ स्वयं सौंपना चाहता था। यह मैंने तुम्हें समर्पित की है जबकि तुम यह समझ नहीं पाओगी कि इसमें क्या है। इसमें से काफी कविताएं सैन इसीड्रो प्रवास के दौरान लिखी गईं।... मैं उम्मीद करता हूं कि जितनी देर एक कवि ने तुम्हारे साथ समय बिताया उससे कहीं ज्यादा यह किताब तुम्हारे साथ रहेगी।"

कितने प्यार से सैन इसीड्रो में कविताएं लिखी गई थीं। 'घेराव' कवि को उसकी भाषा में बताते हुए, विजया के साथ बिताए गए दिनों की याद में जिसका इस उद्धरण से पता लगाया जा सकता है (बदकिस्मती से, मूल कविता की भावपूर्ण विशिष्टता से थोड़ा हटकर)

"वह हंसती हुई मेरे पास खुशी के फूल लेकर आई, मेरे पास अपने दुख के फल के सिवा कुछ नहीं था। मैंने उससे पूछा 'कौन हारेगा, हमारे पास जो कुछ है अगर हम वह बदल लें?' चकित होकर वह प्यार से मुस्कुराई 'आओ, बदल लें। तुम मेरे फूल लेकर अपना अश्रुसिक्त फल मुझे दे दो।' मैंने उसकी तरफ देखा और पाया कि वह अपने सौंदर्य में निष्ठुर थी।

"उसने मेरे फलों का बोझ उठाकर धीरे से ताली बजाई और हंसी। उसके सारे फूल मैंने हृदय में संजो लिए। 'मैं जीत गई'–उसने हंसते हुए कहा और चली गई।

"सूर्य आकाश के बीचोंबीच पहुंच चुका था और गर्मी बहुत तेज थी। जलते हुए दिन

के अंत में वे सारे मुरझाये फूल गिर चुके थे।''

सोलह साल बाद; कवि की मृत्यु के पूर्व भी उनकी याद ताजा थी जब वृद्ध, जर्जर और अपने अंत की प्रतीक्षा करते हुए उन्होंने इसे अपनी अंतिम कविताओं में जगह दी (शेष लेखा) :

> ''मैंने यह चाहा था कि एक बार फिर मैं अपना रास्ता ढूंढूं
> उन विदेशी जगहों को जहां प्रेम का संदेश मेरी प्रतीक्षा में है।
> कल के सपने पंख लगाकर उड़ते आयेंगे
> और धीरे धीरे अपने नए घोंसले में फड़फड़ायेंगे।
> पुरानी स्मृतियां बांसुरी को उसकी खोई लय में संजोयेंगी।
> मैं नहीं जानता उसकी भाषा, लेकिन जो कुछ उसकी आंखों ने कहा था
> वह हमेशा के लिए मनोव्यथा में मुखर रहेगी।''

4 जनवरी 1925 को कवि और उनके साथी एलम्हर्स्ट ने अपनी मेजबान से विदा ली और ब्यूनस-आयर्स के लिए रवाना हुए। उन्हें जल्दी इसलिए थी कि उन्हें अपनी गलती का एहसास हुआ कि जब उनके देश को उनकी जरूरत है तब वे बड़े खुश थे और आनंद मना रहे थे। लेकिन जब वे अपनी धरती पर वापस लौटे तो उन्हें ऐसा लगा कि उनकी वह खुशी रचनात्मक थी और लंबी दौड़ में सहायता करनेवाले से सर्जनात्मक होने से ज्यादा अच्छा किया। विक्टोरिया ओकाम्पो को उसी साल अगस्त में शांतिनिकेतन से लिखे पत्र में उन्होंने बड़े रोचक ढंग से अपने विचारों को लिखा।

''तुमने पत्र लिखकर दुख प्रकट किया कि मैं तुम्हारे नदी किनारे वाले सुंदर घर में ग्रीष्म के अंत तक नहीं रुक पाया। तुम्हें नहीं पता कि मैं कितनी बार सोचता हूं कि मैं ऐसा कर पाता। इसमें कुछ दायित्वपूर्ण प्रलोभन की प्रेरणा थी जो मुझे उस मधुर कोने से व्यर्थ एवं निष्क्रिय लगते रहने से खींच लाई थी, लेकिन मुझे आज यह पता चलता है कि जब मैं उन अलस घड़ियों की छांव में बैठा रहता था तब शर्मीली कविताओं के फूल उमड़ कर मेरी टोकरी भर रहे होते थे। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूं कि जब तक मेहनत से बनाए गए मेरे रचनात्मक कार्यों के खंभे गुमनामी में टूट-टूटकर चूर नहीं हो जाएंगे तब तक काफी लंबे समय तक ये फूल ताजा रहेंगे।''

रवीन्द्रनाथ के देश लौटने के कुछ ही दिन बाद उनके बड़े भाई ज्योतिरिन्द्रनाथ का निधन हो गया। इतने प्रतिभाशाली भाई जो संकटकालीन किशोरावस्था के दौरान उनके अभिन्न मित्र और सलाहकार बने रहे, उनकी मृत्यु से वे बहुत गहराई तक हिल गए। लेकिन उन्होंने अपनी भावनाएं अपने तक ही सीमित रखीं। वे इतना शोक झेल चुके थे कि मौत अब उनके लिए कोई नई आगंतुका नहीं थी। उन्होंने बार बार कहा, ''मृत्यु और दुख के

दौरान विश्वात्मा के हृदय में शांति रहती है।"

इसी साल (1925) मई में महात्मा गांधी उनसे मिलने शांतिनिकेतन गए। एक बार फिर से उन्हें अपनी मनपसंद धारणा के अनुसार बदलने के लिए कि स्वराज का रास्ता खादी और चरखे से ही होकर जाता है। रवीन्द्रनाथ हमेशा की तरह बड़े आदर, सौहार्द और सुरुचिपूर्ण ढंग से ताजे फूल-पत्तियों से सुसज्जित अपने कमरे में उन्हें ले आए। महात्मा मुस्कुराए और उन्होंने पूछा, "तुम मुझे इस वधू के कमरे में क्यों ले आए?" कवि ने मुस्कुरा कर जवाब दिया, "क्योंकि शांतिनिकेतन हमारे हृदय की चिरयुवा रानी है—वह आपका स्वागत करती है।" गांधी की यह यात्रा अपने उद्देश्य में सफल और विफल—दोनों ही थी। अगर उन्होंने सोचा था कि वे रवीन्द्रनाथ को मना लेंगे कि चरखा एक जरूरी साधन है जो गांवों की आर्थिक हालत को सुधार सकता है, तो इस बारे में वे अवश्य निराश हुए होंगे। दूसरी तरफ हर एक ऐसी मुलाकात और विचारों के आदान-प्रदान हालांकि दोनों के विचारों में मतभेद रहा करता था, दोनों के बीच के रिश्ते को और प्रगाढ़ कर देता; उनकी विचारदृष्टि और स्वभाव में जो और जैसा भी द्वंद्व नजर आता हो, लेकिन उनकी आत्माएं हमेशा ऐसे मिलीं जैसे वर-वधू के उस कमरे में।

बाद में रवीन्द्रनाथ ने एक लेख में अपनी विचार-दृष्टि को विस्तारपूर्वक समझाया था—जो 'चरखे की उपासना' शीर्षक से 'माडर्न इंडिया' में प्रकाशित हुआ। महात्मा ने इसका एक शक्तिशाली प्रत्युत्तर 'यंग इंडिया' में प्रकाशित लेख 'कवि और चरखा' के माध्यम से दिया। रवीन्द्रनाथ ने उन्हें एक व्यक्तिगत पत्र लिखकर यह विश्वास दिलाया कि 'अगर आपने उस कारण को सच समझकर मुझे चोट पहुंचाई भी है तो इसका भार हम दोनों के बीच परस्पर सम्मान पर कायम व्यक्तिगत संबंध उठायेंगे। यह विश्वास पैदा हुआ था उस गहरे संबंध को खत्म करने के लिए जिसकी वजह से रवीन्द्रनाथ अपने और महात्मा के बीच जनमंच पर कितने ही द्वंद्व से बचते रहे थे। इस घटना के बीस साल बाद रवीन्द्रनाथ के निधन के चार साल बाद, जब महात्मा आखिरी बार शांतिनिकेतन गए थे, उन्होंने कहा, "मैं यह मनोभाव लेकर चला था कि अपने और गुरुदेव के बीच की लड़ाई के कारण को खोज निकालूंगा लेकिन मैंने वह शानदार खोज की कि ऐसा कुछ है ही नहीं। वस्तुतया यह शानदार खोज पारस्परिक थी।"

1925 की सर्दियों में, भारतीय कवि के प्रति सम्मान निवेदन करने को उत्सुक मुसोलिनी ने दो प्राच्यविदों, कार्लो फोर्मिकी और जियूस्प टक्की को अतिथि प्रोफेसर की हैसियत से इटली से विश्वभारती भेजा, साथ ही इटली की बहुमूल्य किताबों का संग्रह विश्वविद्यालय को उपहारस्वरूप प्रदान किया। वर्ष समाप्ति के पहले रवीन्द्रनाथ ने कलकत्ता में इंडियन फिलॉसॉफिकल कांग्रेस के पहले सत्र की अध्यक्षता की जहां उन्होंने भारत के लोक धर्म और लोक परंपराओं की दार्शनिक सार्थकता पर व्याख्यान दिया। नए वर्ष की शुरुआत

के कुछ ही समय बाद वे अखिल भारतीय संगीत सभा में भाग लेने के लिए लखनऊ गए। उस संगीत समारोह के बीच ही उन्हें अपने बड़े भाई द्विजेन्द्रनाथ के निधन का समाचार मिला जो एक संभ्रांत और सौम्य दार्शनिक तथा गणितज्ञ थे। एक एक करके उनके सारे पुराने संबंध टूट रहे थे। द्विजेन्द्रनाथ एक सच्चे दार्शनिक थे—जिन्होंने अपनी समस्त जानकारी और प्रतिभाओं को तात्विक रूप में स्वीकार किया और न तो पहले कोई प्रदर्शन किया और न ही बाद वाले से कुछ बनाया। वे सिर्फ रवीन्द्रनाथ के लिए ही 'बड़ो दादा' (बड़े-भाई) नहीं थे, गांधी और एंड्रयूज समेत सबके लिए थे—जो उनसे काफी घुले-मिले थे। महात्मा बोले, 'बड़ो दादा की मृत्यु ने हमारे बीच से एक मनीषी, दार्शनिक और देशभक्त को उठा लिया है।' वे गांधी के ज्यादा निकट थे क्योंकि वे छोटे भाई की अपेक्षा सच्चे हृदय से गांधी जी के चरखा कातने के कार्यक्रम में विश्वास करते थे।

ढाका विश्वविद्यालय के निमंत्रण पर रवीन्द्रनाथ ने व्याख्यानों की शृंखला और पूर्वी बंगाल के कई शहरों का दौरा आरंभ किया। शांतिनिकेतन लौटते समय एक पौराणिक बौद्ध गाथा के आधार पर जिसका उन्होंने पहले एक कविता में प्रयोग किया था, एक नाटक 'नटीर-पूजा' (नृत्यांगना की पूजा) लिखा। यह रवीन्द्रनाथ का एक साधारण सीधा-सादा नाटक था, हृदयस्पर्शी और प्रतीकात्मक अभिप्रायों और विद्वतापूर्ण आडंबरों से सर्वथा मुक्त जो उनके दूसरे नाटकों को एकदम रहस्यमय और चित्ताकर्षक बना देते हैं। इनका मुख्य कथन है—एक साधारण धार्मिक मनोभाव जो कि पराकाष्ठा की हद तक पहुंचता है, जब कहानी का दुखद अंत समर्पणजन्य भक्ति में होता है।

बुद्ध ने वेदों के अमोघत्व और हिंदू जाति के धर्मतंत्र को ललकारा था—किसी दिव्य सत्ता की पूजा सिर्फ इस या उस जाति का एकाधिकार नहीं हो सकता, न ही इसका भाव हमेशा के लिए किन्हीं वेदों की संरचना में कैद किया जा सकता है। सच्ची पूजा वही है—जब हम सर्वोत्तम सत्य के आह्वान पर आत्मसमर्पण कर देते हैं। मुनि अपनी विद्या, मनुष्य अपने कर्म फल, कवि अपने गीत, और नटी अपना नृत्य समर्पित कर देती है। इस तरह नृत्यांगना अपनी भक्ति और समर्पण द्वारा आत्मसमर्पण के बल पर अपनी विकृतियों पर विजय पाती है और अपनी मृत्यु से अपनी आत्मा की तेजस्विता को न्यायसंगत ठहराती है।

इस नाटक की और एक विशेष बात यह है कि इसमें कोई पुरुष पात्र नहीं है। आमुख में बौद्ध भिक्षुक को बाद में जोड़ा गया था ताकि लेखक दर्शकों की मंच पर लेखक को देखने की अभीप्सा को शांत कर सके। भारतीय समाज की गहरी जड़ों तक यह पूर्वधारणा बनी रही कि चाहे हिंदू हो या मुसलमान महिलाओं को मंच पर नहीं आने देना चाहिए। रवीन्द्रनाथ ने जनवरी 1927 में कलकत्ता में इस नाटक के मंचन के दौरान इस पूर्वधारणा पर गहरी चोट करते हुए इसके सारे पात्रों का चयन विश्वविद्यालय की छात्राओं और कुलीन घर की महिलाओं से किया जिन्हें उन्होंने खुद प्रशिक्षित किया और पूर्वाभ्यास कराया। वे

मंच पर अव्यावसायिक नृत्य प्रस्तुत करने में भी सफल हुए। उसके बाद वह पुरानी पूर्वधारणा गायब हो गई और ध्यान दूसरी ओर चला गया। अब मंच नृत्य सिर्फ जनता के बीच सम्मानित मनोरंजन ही नहीं बल्कि परंपरागत भारतीय संस्कृति की व्याख्या करने का अनमोल माध्यम भी है।

14

परिव्राजक राजदूत

प्रशंसा मुझे लज्जित करती है
भले ही दबे-छुपे मैं इसकी कामना करता हूं।

कुछ तो मुसोलिनी के सम्मान निवेदन से प्रसन्न होकर और कुछ उसके रंगारंग व्यक्तित्व और प्राचीन तथा जीवंत संस्कृति पर उसके प्रभाव को देखने की चाह से रवीन्द्रनाथ ने इटली का आमंत्रण स्वीकार किया। वे 15 मई 1926 को नेपल्स के लिए रवाना हुए। जैसा कि उन्होंने खुद कहा, "मैं बाहर से कुछ सीखने या पढ़ने के लिए आया हूं न कि आलोचना करने। मैं एक ऐसे व्यक्ति से मिलने के अवसर पर बहुत खुश हूं जिसका आंदोलन इतिहास में हमेशा संजोया जाएगा।" हालांकि इस बात में कुछ संदेह है कि फासीवाद को इतिहास में कितना याद रखा जाएगा। साथ ही यह कि ड्यूस 'एक महान व्यक्ति था', एक भ्रम था, जो रवीन्द्रनाथ कुछ समय तक उस समय के मंजे और परिपक्व राजनीतिज्ञों के साथ बांटते रहे।

नेपल्स में उनके आगमन पर शहर के प्रमुख अधिकारियों ने मुसोलिनी के स्वागत संदेश के साथ उनका स्वागत किया। 7 जून को रोम के गवर्नर ने राजधानी में आयोजित एक आमसभा में इस चिरंतन शहर की शुभकामनाएं दीं। उसके अगले ही दिन रवीन्द्रनाथ ने अपना पहला व्याख्यान 'कला का अर्थ' मुसोलिनी सहित कई श्रोताओं के बीच दिया। राजा विक्टर इमानुएल-तृतीय ने भी उनका स्वागत किया और रवीन्द्रनाथ ने अपने नाटक 'चित्रा' का इतालवी में मंचन देखा। पर राजा ड्यूस की अपेक्षा वे विद्वान दार्शनिक बेनेदेत्तो क्रोचे से मिलना चाहते थे जो कि उस समय नेपल्स में अपने ही घर में एक तरह से नजरबंद थे। कुछ दोस्त, जोखिम उठाकर उन्हें चोरी-छिपे रोम ले आए जहां दोनों एक-दूसरे से मिल सके।

इटली के अपने लगभग राजसी दौरे में वे जब हर जगह स्वागत पा रहे थे तो वे इस बात से नावाकिफ थे कि इटली की प्रेस फासीवाद को बढ़ावा देने के लिए उनके भाषणों और साक्षात्कारों को तोड़-मरोड़ कर अखबारी सुर्खियों में तबदील कर रही थी। इस बात

का पता उन्हें रोम्यां रोलां से चला जब वे स्विट्जरलैंड आए और यहां विलेनैव में विश्राम के लिए कुछ दिन रुके। इससे रवीन्द्रनाथ का भ्रम टूटा और उन्होंने जो कुछ सुना, उससे साफ था कि इतालवी प्रौपेगेंडा तंत्र ने अपने ढंग से उनके वक्तव्यों को तोड़-मरोड़ कर पेश किया था। यह सब और जो कुछ देखा वह सब उनके लिए बहुत दुखद था। ज्यूरिख में वे सिग्नोरा सल्वादोरी से मिले जिन्होंने अपनी आंखों के सामने फासीवादी क्रूरताओं का विवरण सुनाया, जिसकी परिपुष्टि वियेना की मोदिग्लियानी ने भी की। रवीन्द्रनाथ ने 'मैनचेस्टर गार्डियन' को अपनी इटली यात्रा के बारे में बताया था और फासीवाद की कठोर शर्तों की घोर भर्त्सना करते हुए पत्र लिखा। इसके फलस्वरूप उन्हें इटली की प्रेस से बहुत कड़वे अपशब्द झेलने पड़े। अपनी इस असफलता पर वे काफी शर्मिंदा और आहत थे। उन्होंने एल्महर्स्ट को एक पत्र में लिखा, "जैसे-तैसे मेरे पास ईर्ष्या न करने वाला कौशल है जिससे कि मैं ऐसी जिम्मेदारियों में फंस जाता हूं, जिनसे मुझे बचना चाहिए। मैं इस बात पर हमेशा पछताऊंगा कि मैंने अपने आप को इटली की आखिरी यात्रा के लिए कैसे तैयार कर लिया?" फिर एकदम से चुहल भरे शब्दों की ओर लौटकर कहते हैं—"क्या तुम मुझे अपना हवाई जहाज दे सकोगे अगर तुम्हारे पास कोई हो तो मैं तत्काल उत्तरायण (शांतिनिकेतन में अपने आवास) उड़ कर जाना चाहता हूं, क्योंकि जुलाई के बरसाती बादल हमारे आश्रम पर मंडरा रहे होंगे और सोच रहे होंगे कि कहां चला गया वह कवि जो वर्षा के संगीत के बदले अपने कृतज्ञता भरे गानों से हमारा अभिवादन करता है।"

लेकिन मानवीय सम्मोहन का संगीत उस समय वर्षा के संगीत से ज्यादा मधुर था, इसलिए वे यूरोप में पांच महीने और रुक गए। उनका जर्मनी का दौरा एक बार फिर बहुत व्यस्त रहा और जहां भी वे गए, उन्हें बहुत सम्मान मिला, साथ ही राष्ट्रपति हिन्डेनबर्ग ने उनका स्वागत किया। रवीन्द्रनाथ की आइन्स्टाइन के साथ दोस्ती इसी मुलाकात से शुरू हुई। प्राग में एक हफ्ते के प्रवास के दौरान उनके नाटक 'डाकघर' का चेक में मंचन किया गया। रवीन्द्रनाथ वियेना होते हुए बुडापेस्ट पहुंचे, जहां उन्हें लेक बालाटन के सैनिटोरियम में विश्राम के लिए विवश किया गया क्योंकि इस दौरे की लंबी थकान से उनकी सेहत पर बहुत खराब असर पड़ा था। सैनिटोरियम से जुड़े बगीचे में, उन्होंने लिण्डेन का एक पौधा भी लगाया था जो आज भी उनकी यात्रा की मधुर स्मृति का प्रतीक है। लेकिन वहां वे ज्यादा दिन रुक नहीं पाए क्योंकि उन्हें आगे की यात्रा पर जाना था। सोफिया, बुखारेस्ट, बेलग्रेड में भीड़-भाड़ वाले स्वागत समारोह और व्याख्यान के बाद, एथेन्स में ग्रीक सरकार ने 'आर्डर आफ द रीडिमर' उपाधि से अलंकृत किया। रवीन्द्रनाथ फिर कैरो गए। रवीन्द्रनाथ के सम्मान में तुर्की संसद की कार्यवाही रोक दी गई—और राजा फौद ने विश्वभारती के लिए उन्हें अरबी किताबों का एक संग्रह प्रदान किया। दिसंबर में वे वापस अपनी धरती पर लौट आए।

कोई भी यही सोचेगा कि इस लंबे और व्यस्त दौरे के दौरान जिसमें वे एकाधिक बार बीमार पड़े हों; कवि शांतिनिकेतन के एकांत और शांति से संतुष्ट हुए होंगे जिसके लिए उनकी इतनी चाह थी। 'पूरबी' की एक कविता 'आशा' में उन्होंने धरती के ऐसे एकांत कोने में शांत जगह की उत्कंठा व्यक्त की है जहां थोड़ा-सा अनुरंजन हो--'न धन न सम्मान बस थोड़ा-सा प्यार' लेकिन उनकी प्रतिभा का एक आयाम यह चाहता है कि 'हमेशा प्रमादपूर्ण घड़ियों की छांव में पड़ा रहूं, जबकि दूसरा हमेशा उसे उकसाता रहता--'मेहनत से उपकारी कार्यों की एक मीनार बनाई जाए। शांति और वैभव बड़ी मुश्किल से एक साथ मिलते हैं और जब मिलते हैं तो बहुत जल्दी एक-दूसरे का साथ छोड़ देते हैं।

वैसे यह समय भी उस वैशिष्ट्य से रिक्त नहीं था जिसमें सृष्टि के नियंता और अंतरिक्ष में समस्त ब्रह्मांड को थामे रखने वाले दिव्य नर्तक नटराज की अवधारणा को केंद्र में रखकर उन्होंने अपनी काव्यात्मक और सांगीतिक गानों की संरचना की। फरवरी में शांतिनिकेतन में इसी प्रचेष्टा को एक नृत्य-नाटिका के रूप में 'नटराज रितुरंगशाला' शीर्षक से संयोजित किया। मार्च में वे फिर से पश्चिम भारत की यात्रा पर गए, जहां तत्कालीन भरतपुर रियासत में उन्होंने हिन्दी साहित्य सभा की अध्यक्षता की। इस वर्ष असम के शिलांग के पर्वतीय स्थल पर अपना ग्रीष्मावकाश बिताया और शायद यहीं पर उन्होंने महाकाय उपन्यास 'तीन पुरुष' (तीन पीढ़ियां) लिखना शुरू किया। जैसा कि शीर्षक बताता है कि यह बहुत महत्वाकांक्षी योजना थी और उन्होंने इसकी बहुत अच्छी शुरुआत की, कथा-कथन की सर्वोत्तम पद्धति से किन्हीं आरोपित और कृत्रिम घुमावों से सर्वथा हटकर। लोगों के प्रियद्रष्टा किस्सागो और सामाजिक मनोविज्ञानी से मिलकर कला के क्षेत्र में एक ऐसी निर्मिति बनाई, जिसे कई आलोचकों ने एक साथ रवीन्द्रनाथ का सर्वोत्तम उपन्यास माना और कहा "यह उनके सारे उपन्यासों में सबसे संतोषजनक है।" लेकिन रवीन्द्रनाथ टाल्सटाय या बाल्ज़ाक नहीं थे और वे किसी निर्धारित स्थान पर बहुत समय तक टिके नहीं रह सकते थे--भले ही ये सारे लोग उनकी रचना में सम्मिलित हों। कवि, गायक और अध्यापक बार बार इस उपन्यासकार से उलझ जाते और उनका ध्यान किसी कथानक या पात्रों से हटा देते। और इस प्रकार जिस कथात्रयी की बात सोची थी वह एक पीढ़ी पर ही खत्म करनी पड़ी और दो साल बाद प्रकाशित पूर्व-प्रस्तावित उपन्यास का नाम बदल कर 'योगायोग' रख दिया।

रवीन्द्रनाथ के अधिकांश उपन्यास बदलते हुए भारतीय (हिंदू बहुल) समाज के अपरिहार्य द्वंद्वों और विवादों को दर्शाते हैं। इनमें से अधिकांश विवाद आमतौर पर सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर ही होते हैं। लेकिन जिस पक्ष का विश्लेषण किया जाता है--वह हर एक उपन्यास में बदलता है। 'गोरा' में धार्मिक और बौद्धिक संधान था तो 'घरेबाहरे' में राजनैतिक जबकि 'योगायोग' में एक नए आर्थिक वर्ग के विकास से एक अनिवार्य युद्ध, कुलीन के अभिजात घराने जिसने अपनी संपदा तो खो दी थी लेकिन अपनी मर्यादा नहीं

खोई और एक तरफ स्वनिर्मित उद्योगपति का उत्तेजक दावा और सोच कि पैसे से सब कुछ खरीदा जा सकता है। अभिजात्य घराने की प्यारी और विनम्र पोती कुमुदिनी का विवाह एक आगे बढ़ते लखपति से होता है जो निरंकुश, अशिष्ट और हठधर्मी है। यह रवीन्द्रनाथ के कुछ ऐसे आद्य चरित्रों में से है जो सचमुच बड़े जीवंत बने हैं। अपनी इच्छाओं को आदमी और मशीनी कल-पुर्जों पर थोपने की आदत से मजबूर, वह यही सोचता रहता है कि वह कुमुदिनी को पा सकता है क्योंकि वह उसकी पत्नी है, हालांकि वह उसके तन पर तो विजय पाता है लेकिन उसके मन पर उसका जोर नहीं चलता।

उपन्यास का मनोवैज्ञानिक रुझान, उसकी तरफ पति की चाहत का धीरे धीरे बढ़ना और फिर उसके लगभग अतीन्द्रिय संक्रमण में है। पहले एक निर्मम हिंसक और लोलुप, दृष्टि, जो धीरे धीरे सुकुमार भाव-उर्मियों के विस्मयपूर्वक निषेध में पाते हैं, जो वह समझ नहीं पाता क्योंकि उसने जीवन के दूसरे क्षेत्र में ऐसा कुछ अनुभव नहीं किया था। दबंग और अक्खड़ स्वामी अपनी आत्मशक्ति खो देता है और किसी अनाड़ी की तरह टोहते-टटोलते उस चीज तक पहुंचता है जो उसके हाथ की पकड़ से बाहर है। बदकिस्मती से इस उपन्यास का अंत बहुत कमजोर है—एक ऐसी असफलता जो रवीन्द्रनाथ के लगभग सभी उपन्यासों में है। ऐसा लगता है कि कहानी कहते कहते एकबारगी थक गए हैं और किसी तरह इसे खत्म करना चाहते हैं ताकि अपने शयनकक्ष में जाकर किसी दूसरी कलादेवी की मांग पूरी कर सकें या फिर वे किसी पात्र से सहम और डर जाते हैं कि वह लेखक के मानसिक और साामाजिक सीमाओं को अनदेखी कर इन्हें तोड़ने की जुर्रत न कर बैठे।

रवीन्द्रनाथ जब यह उपन्यास लिख रहे थे और सफलता में आध्यात्मिक रिक्तता ढूंढ़ रहे थे तब वे खुद ही नए क्षेत्र जीतने के लिए बेचैन हो रहे थे। धर्मप्रचारक की यह जिद एक बार फिर रचनात्मकता से ज्यादा शक्तिशाली निकली और वे नवीं बार जुलाई 1927 में विदेश यात्रा के लिए निकल पड़े—इस बार दक्षिण-पश्चिमी एशिया के पड़ोसी देशों के भ्रमण पर। सिंगापुर, मलक्का, क्वालालम्पुर, इपोह, ताइपिंग और पेनांग में भीड़ इकट्ठी कर और हर जगह सम्मान पाकर वे इंडोनेशिया के लिए रवाना हुए। रास्ते में ही, जावा पर उन्होंने एक सुंदर लंबी कविता लिखी, जो उन्होंने जकार्ता में अपने सम्मान में आयोजित दावत पर सुनाई। जावा में दूसरों के अलावा स्वर्गीय राष्ट्रपति सुकर्णो से मिले, जो उस समय एक अल्पज्ञात क्रांतिकारी युवक थे। वे जावा और बाली के नृत्य नाटक और वहां की कलात्मक परंपराओं से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने भारत की परंपराओं की तरफ उनके प्रेम को अच्छी तरह महसूस किया। उनकी यात्रा से दोनों देशों के बीच के संबंध जो टूट गए थे फिर से जुड़ गए और कई इंडोनेशियाई विद्यार्थियों को विश्वभारती लाने में और शांतिनिकेतन के शिल्पियों द्वारा इंडोनेशिया की उस बाटिक कला को अपनाने में सफल हुए जो आज भारत के कई हिस्सों में फैली हुई है। थाईलैंड की संक्षिप्त यात्रा के

बाद, जिसमें उन्होंने बैंकाक विश्वविद्यालय में शिक्षा पर व्याख्यान दिया, वे भारत लौट आए ताकि ठीक समय पर शांतिनिकेतन में आयोजित वार्षिक समारोह में भाग ले सकें।

रवीन्द्रनाथ एक बार फिर ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से हिब्बर्ट व्याख्यान देने के आमंत्रण को स्वीकार कर वहां जाने की तैयारी करने लगे, लेकिन वह यात्रा उन्हें रद्द करनी पड़ी क्योंकि मद्रास पहुंचते ही वह बीमार पड़ गए। पूरे एक सप्ताह तक एनी बेसेंट के अतिथि बनकर वे अडयार में आराम करते रहे, कुछ दिन कोनुर के सुंदर परिवेश में बिताकर वे श्रीलंका के लिए रवाना हुए, यह सोचकर कि वे पूरी तरह ठीक हो जाएंगे और वहां से इंग्लैंड के लिए जहाज ले लेंगे। रास्ते में वे पांडिचेरी रुके ताकि वे श्री अरविन्द घोष से मिल सकें जिनसे वे अपनी क्रांतिकारी राजनैतिक सक्रियता के दौरान मिले थे। अपनी यात्रा पर दुबारा चलते हुए कवि ने लिखा 'बरसों पहले जब मैंने अरविन्द को प्रारंभिक राजनैतिक संघर्ष में एक नायक के रूप में देखा था तो मैंने कहा था--अरविन्द, रवीन्द्र का प्रणाम स्वीकार करो। आज मैंने उसे प्रशांत बोधि मुद्रा में बैठे देखा तो मैंने खामोशी से दोहराया, 'अरविन्द, रवीन्द्र का प्रणाम स्वीकारो।'

रवीन्द्रनाथ कोलम्बो में दस दिनों तक रहे लेकिन जब उनके स्वास्थ्य में कोई सुधार नहीं हुआ तो उन्होंने इंग्लैंड जाने की सारी आशाएं छोड़ दीं और वापस मातृभूमि आ गए। उन्होंने बंगलौर में तीन सप्ताह तक अपने पुराने दोस्त, विद्वान व्याख्याता सर ब्रजेन्द्रनाथ सील का अतिथि बनकर विश्राम किया जो उस समय मैसूर विश्वविद्यालय के उपकुलाधिपति थे। यात्रा का विचार छोड़ने के बावजूद अब वे बेचैन और चिड़चिड़े नहीं रह गए थे। उनका वह पुराना संतुलन लौट आया था और इसके साथ रचनात्मक मानस भी। बंगलौर में अपने संक्षिप्त प्रवास के दौरान न ही सिर्फ उन्होंने 'योगायोग' उपन्यास समाप्त किया बल्कि इसके साथ ही एक दूसरा उपन्यास 'शेषेर कविता' (अंतिम कविता) भी पूरा किया जो कोलम्बो यात्रा के दौरान शुरू किया गया था।

यह औपन्यासिक कृति जो कि लगभग आधी कविता में है, बंगाली पाठकों में बहुत लोकप्रिय और एक विशिष्ट कृति के रूप में परिगणित है। आधुनिक पृष्ठभूमि में इसकी नवीनता, जीवंतता, व्यंग्य-विनोदपूर्ण और तीखी शैली, लेखक की युक्तियां--जिसमें वह स्वयं को नायक के निष्ठुर आलोचक कें रूप में पेश करता है--और फिर चुटीले व्यंग्य और दुखांतपूर्ण संदेश--जो कि एक खूबसूरत कविता में ढल गया है और जिससे कृति का शीर्षक लिया गया है--इन सारी बातों ने इस कृति को युवा पाठकों के बीच तत्काल बहुत लोकप्रिय बना दिया था। कृति ने प्रौढ़ और पक्षपाती आलोचकों से भी अच्छी प्रशंसा प्राप्त की। प्रो. एस.के. बनर्जी ने कहा, ''शेषेर कविता' एक ऐसा उपन्यास है जिसमें कविता की सदानीरा धारा प्रवाहमान है और इतना ही नहीं, यह विशुद्ध रूप से कविता की विषयवस्तु पर लिखा गया है और शायद ही विश्व में कोई ऐसा उपन्यास लिखा गया हो।'' डा. सुकुमार सेन

ने कहा, "यह एक ऐसी प्रेम कहानी है जो सारी प्रेम कहानियों का अंत कर देगी।" एक और मजेदार तथ्य यह है कि लेखक ने दूसरा उपन्यास 'योगायोग' भी लगभग इसी के साथ खत्म किया था–और एक ही समय में कोई दो उपन्यास विषय-वस्तु, शैली, मिज़ाज, भाषा और प्रतिपादन में एक-दूसरे से इतने अलग नहीं हो सकते।

इसका नायक एक नवयुवक बंगाली है जो बौद्धिकता का अजीब नमूना है। आक्सफोर्ड में अध्ययन ने न सिर्फ उसको श्रेष्ठता की मनोग्रंथि प्रदान की है बल्कि उसके अंदर तक अजीब-सी सनक पैदा कर दी है। सचेतन से बड़ी की गई मौलिकता के अन्वेषण के परिणामस्वरूप सुविचारित और तुच्छ विपर्याय घटित होता है–सारे स्वीकार्य और समझौते के खिलाफ। उसके उग्र आत्म-तुष्ट स्वभाव को उस समय आघात लगता है जब अचानक ही वह एक लड़की से मिलता है और उससे प्रेम करने लगता है जो कि आधुनिक शिक्षा का ही एक प्रतिरूप है–एक परिष्कृत और गहरी भावनाओं से संपन्न एक बहुत ही बुद्धिमती युवती है। यह अनुभव प्रेम-चक्र के पिछले सारे अनुभव से इतना अलग होता है कि यह सब उसे एक झटके की तरह लगता है–उसे उसकी निष्ठा की गहराई का एहसास कराता हुआ जिसका कि वह अपनी पुरानी कुतर्कपूर्ण मुद्रा वाली आदतों से तालमेल बिठा पाना बहुत कठिन पाता है। इसी दौरान वह अपने में एक नया रोमानी बदलाव पाता है। यह अंतःसंघर्ष उसे एक दयनीय पात्र में बदल देता है जो अपने दावों के विरुद्ध जूझ रहा है। मूर्ति ढहाने वाला एक युवक अचानक प्रेम का प्रबल पुजारी बन जाता है और युवती समझती है कि वह जिससे प्रेम कर रहा है वह खुद उससे नहीं बल्कि उसकी एक आदर्श तस्वीर से प्रेम जता रहा है। वह तय कर लेती है कि उसके साथ कभी कोई संपर्क नहीं रखेगी। त्रासदी को भांपते ही वह उसे वचन का एहसास कराती है और उसकी जिंदगी से दूर चली जाती है। यही अंतिम कविता है–जिसमें वह अपने प्रेमी से विदा लेती है, जो उसकी भावना-भरी वसीयत है और वह जिसके सर्वथा योग्य है। यहां उस कविता का एक अनुच्छेद है जिसमें मूल की मूर्च्छना को सुरक्षित रखा गया है–

"मुझे खोकर तुम कुछ नहीं गंवाओगे
धूल माटी से बनी एक अदना-सी मूरत
जिसे तुमने देवी बना दिया
अब तुम इसे देवी के रूप में ही बने रहने दो
ताकि इसे संध्या तारा के साथ याद कर सको।
मेरा कोई स्थूल संस्पर्श
तुम्हारी आराधना के खेल में विघ्न न डाले
कोई भी उष्ण, उत्तप्त और उत्तेजित सांस
इन पवित्र और कोमल फूलों को, दूषित न करे...

मैंने तुम्हें जो कुछ दिया है
उस पर तुम्हारा अनन्य अधिकार है
और जो दूसरे प्राप्त करते हैं
वे हैं—हृदय से टपकनेवाली थोड़ी-सी बूंदें
जो दुराग्रह को पूरा करने में लगी हैं।...
ओ मेरे युवराज, मेरे अप्रतिम सखा
मैंने जो कुछ सौंपा था—वह तुम्हारा ही था
जो तुम्हारी स्वीकृति से धन्य हुआ
और धन्य हुई मेरी कृतज्ञता
विदा मेरे मित्र विदा।"

वृद्ध होते हुए कवि अब भी अपने रोमांटिक यौवन भरी जवानी की सोच में विचर रहे थे। लकड़ियां अब बुझती चली जा रही थीं और एक इन्हें कोई छद्म हवा चाहिए थी जो इनमें फिर से जान फूंक सके। उनके समकालीनों ने उपन्यास से प्रभावित और लगाव महसूस कर उनसे आग्रह किया कि वे अपनी पुरानी प्रेम कविताओं का एक संग्रह बनाएं और उसमें कुछ नया भी जोड़ें। यह सुझाव उनके दिलो-दिमाग को प्रेरित करने के लिए काफी था जो किसी उकसाव से ज्यादा नहीं था। जैसा कि उन्होंने अपने बारे में हल्के-फुल्के ढंग से कहा भी था, "यह एक गाड़ी के इंजन की तरह है—जो अपने आप ही चल पड़ता है—अगर एक बार स्वचालित कर छोड़ दिया जाए।" इसलिए एक संग्रह बनाने की बजाय उन्होंने एक साथ नई रचनाएं लिख डालीं, इनमें से ज्यादातर प्रेम कविताएं थीं—जिसका नाम 'महुआ' रखा। यह बसंत ऋतु में खिलने वाला एक बेहद खुशबूदार फूल है, जिससे देसी शराब भी बनती है। इन कविताओं के लिए यह शीर्षक बिल्कुल उपयुक्त था, बेहद कोमल और अनोखा, जो कि किसी अनुभव से नहीं बल्कि नकली प्रेरणा से भी, जैसा कि नशे में होता है। यह कोई एकदम नकली भी नहीं था—क्योंकि कवि को प्रेम से सदैव ही प्रेम रहा था—एक निर्वैयक्तिक प्रेम से।

वर्ष 1928 की वर्षा में रवीन्द्रनाथ ने दो मौसमी अनुष्ठान आरंभ किए, शांतिनिकेतन में वृक्षारोपण और श्रीनिकेतन में हल-कर्षण। ये मनोरम पर्व अपने सादे और कलात्मक आयोजन संगीत, नृत्य और वैदिक मंत्रों के उच्चारण के साथ प्रकृति की सृजन-शक्ति और उसके अक्षत यौवन का आह्वान करते हैं जिसे देखने के लिए कलकत्ता के आसपास के लोग आते। रवीन्द्रनाथ जो वनों से बेहद प्यार करते थे, जंगलों को कटते देखकर बहुत दुखी हो जाते थे। उन्हें लगा कि ऐसे कार्यक्रम शुरू करने चाहिए जो लोकप्रिय हों और पेड़ों से प्यार की वजह से भरपूर पेड़ लगाए जाएं। वे सचमुच सफल हुए। केवल शांतिनिकेतन में ही नहीं, जो कि धूल उड़ानेवाली बंजर जमीन से धीरे धीरे एक छोटा-सा शहरी उद्यान

बन गया था, बल्कि सारे देश का उत्सव बन गया था और अब इसे देश-प्रदेश की सरकारों से पूरा प्रोत्साहन मिल रहा था। रवीन्द्रनाथ की एक बहुत ही विशिष्ट कृति का नाम है 'वनवाणी'--पेड़-पौधों और फूलों के जीवन पर ऋतुओं के प्रभाव की कविताओं का संकलन।

वर्ष 1928 काफी फलदायक वर्ष रहा। इस बात के लिए भी इसे विशेष धन्यवाद दिया जा सकता है कि अपने बेहतर स्वास्थ्य के कारण रवीन्द्रनाथ अपनी जमीन से जुड़े रहे। रवीन्द्रनाथ ने इसी वर्ष अपने प्रयोगों को सर्वथा नई और अनदेखे रचनात्मक कौशल को अभिव्यक्ति देते हुए इसका चित्रकला में प्रयोग किया। चित्रकला के प्रति वे सदैव आकृष्ट रहे थे और इस ओर कई बार जिज्ञासु और प्रतीक्षातुर दृष्टि से देखा करते और जब भी वे अपने बड़े और बहुमुखी प्रतिभासंपन्न भाई ज्योतिरीन्द्रनाथ को चित्र बनाते देखते और बाद में, जब उन्होंने अपने भतीजों अवनीन्द्रनाथ और गगनेन्द्रनाथ में कला-प्रतिभा देखी तो उन्होंने इस क्षेत्र में दोनों को बहुत प्रोत्साहित किया था। साथ ही उन स्थापनाओं को रखने में सहायता की थी--जो भारतीय कला के पुनर्जागरण के रूप में मान्य हुआ और जिसके बाद से 'आधुनिक' शब्द के प्रत्यय में बहुत बदलाव आया और जो भारतीय चित्रकला में बंगाल या 'पुनरुत्थानवादी घराना' (रिवायवलिस्ट स्कूल) के नाम से जाना जाता है। लेकिन उन्होंने अपने हाथ में कभी तूली नहीं थामी थी।

हालांकि उन्होंने कभी कूची नहीं चलाई थी लेकिन अपनी कलम को उन्होंने अबाध रूप से चलने दिया। उनकी पांडुलिपियों में उनकी कविताओं के साथ ऐसे कौतुकपूर्ण आभासों के भरपूर उदाहरण मिलते हैं। इस तरह के अधिकांश रैखिक अभ्यासों के बारे में वे कहा करते थे कि ये मेरी पांडुलिपियों की दुर्घटनाएं हैं और संशोधन एवं भर्जन--जिन्हें वे हटा देने के पक्ष में नहीं होते थे--बेतरतीब खरोंचों की तरह पड़े रहते थे। वे उन्हें उस 'घुमंतु विधवा औरतों' की तरह प्रतीत होती थीं जो अपने साथियों को ढूंढ़ रही हों और उनको कातर स्वर में बुला रही हों--अपने बचाव के लिए ताकि वे समाज से अलग-थलग न पड़ जाएं; और इसलिए वे उन पर अपनी उसी कलम से काम करते थे जो 'एकाकी अनुपयुक्तता' थी इनको किसी लयबद्ध संरचना में जोड़ देते--चाहे वे काल्पनिक सुंदर हों या विमूर्त।

लेकिन अब से वे अपनी लेखनी को खरोंचों से मिटा देने के लिए ही चित्रकारी में प्रवृत्त नहीं हुए बल्कि वे जैसा चाहते थे--वैसी चित्रकारी करने लगे। वे वैसे ही खेलने लगे जैसे कोई बालक अपने किसी नए खिलौने से खेलता है। सौभाग्य से एक चित्रकार के रूप में उन्होंने न तो कोई प्रशिक्षण प्राप्त किया था और न ही इस तरह की कोई प्रतिष्ठा दांव पर लगी थी। इसलिए उन्होंने बिना किसी अवरोध के और बिना किसी कृत्रिमता के चित्रांकन शुरू किया। इस मामले का सबसे दुर्भाग्यपूर्ण पहलू यह था कि उन्होंने इस कला को गंभीरता से नहीं लिया और उन्हें अपने नजदीक जो कुछ और जैसा भी कागज, साधन, उपकरण या रंग मिलता गया--उसी से चित्रांकन करते रहे--नतीजा यह हुआ कि अपनी

श्रेष्ठता और गुणवत्ता के बावजूद इनका संरक्षण या रखरखाव आज एक बड़ी गंभीर समस्या बन गई है। अपने साहित्यिक कार्य-कलाप के अंतरालों के बीच, बड़ी तेजी से और सिद्धहस्तता के साथ—एक बैठक में एक चित्र को पूरा करते हुए—वे अपने पीछे लगभग तीन हजार पेंटिग और रेखांकन छोड़ गये हैं। ये सारे चित्र उनके जीवन के अंतिम तेरह वर्षों में चित्रित किए गए थे, जो उनकी उल्लेखनीय उपलब्धियां हैं क्योंकि हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि इसी दौरान उन्होंने विपुल संख्या में अपनी साहित्यिक कृतियां—गद्य एवं पद्य में लिखीं।

अपने चित्रों के बारे में रवीन्द्रनाथ ने कहा था, "ये मेरी पंक्तियों के पद्य रूप हैं।" साथ ही, एक पद्य में उन्होंने यह भी स्वीकार किया था कि वे इस अवधि में इन रेखाओं के बीच बहुत बुरी तरह झोंक दिए गए थे।

"इस अवधि में मैं अपने चारों तरफ खींची गई रेखाओं में बहुत बुरी तरह जकड़ दिया गया था।" इस बात में कोई संदेह नहीं है कि इनमें से ज्यादातर रेखांकन में लय की समानता के बावजूद—उनकी कविता और चित्रों में बहुत कम सादृश्यता है। वस्तुतया इनमें उनके आत्म प्रत्यय के किसी दूसरे पहलू को देखा जा सकता है—भले ही वह बहुत गंभीर न हो लेकिन वह अब तक दृष्टिपथ से ओझल अवश्य रहा था—और जो अब इस नए माध्यम के द्वारा अभिव्यक्त होना चाह रहा था। अपने साहित्यिक लेखन में रवीन्द्रनाथ एक जागरूक लेखक रहे थे, वे एक ऐसे सुदक्ष शिल्पी थे जिनकी अपने उपकरणों और अपने माध्यम पर गहरी पकड़ थी। इसलिए वह जो कुछ कहना चाहते थे, उसे पूरी योग्यता से कह सके और उन्हें जो सर्वथा उचित जान पड़ा उसे स्वीकृति प्रदान की। इसलिए उन्होंने जो भी कहा—वह आवश्यक तौर पर श्रेष्ठ है और जैसा कि हर महान कला के साथ होता है—वह सुंदर और असाधारण है और कभी कभी तो वह अपने सुंदर होने के अलावा भी बहुत कुछ है और किसी को भी आश्चर्य में डाल देती है कि एक व्यक्ति के रूप में यह किस सीमा तक रवीन्द्रनाथ का स्वर है और यह किस सीमा तक विराटतर हो चुकी है कि स्वयं रवीन्द्रनाथ का भी अतिक्रमण कर जाती है। हो सकता है यह भारत की आत्मा हो, या इसके लोग हों या फिर इसकी मानवता हो—उसका जीवन और स्मृति हो, और कुछ ऐसा हो जो रहस्यमयता और दिव्यता से काफी परे हो जिसमें सबका समंजन हो और जो उन सबसे नितांत अलग हो। रवीन्द्रनाथ जब लिखते हैं तो इस तरह की कोई सचेतन निष्ठा स्वयं को समर्पित करे और जिसका अवचेतन उच्चतर उद्देश्य से अनुप्राणित है। लेकिन जब वे चित्र बनाने में प्रवृत्त होते हैं तो किसी निद्राचारी जैसे प्रतीत होते हैं—जिसमें उन्हें यह पता नहीं चलता कि उनके चरण किस प्रेरणा से उठे हैं और कहां और किस दिशा में बढ़ रहे हैं—यह उनके नियंत्रण से बाहर है। वे विकृत, अनगढ़, क्रूर और कटु (तिक्त) भाव—जिन्हें उन्होंने पूरी सावधानी के साथ अपने लेखन से अलग रखा—उनके रेखाचित्रों

में से झांकते नजर आते हैं। उनके कैनवास मंच पर केवल देवदूत या फरिश्ते ही नहीं, बेताल और ऐसे ही अजीबोगरीब पात्र अपनी पूरी भूमिका के साथ मौजूद हैं।

1 मार्च 1929 को, कनाडा के राष्ट्रीय शिक्षा समिति के आमंत्रण पर वहां के लिए रवाना हुए। उन्हें अमेरिका के और भी कई विश्वविद्यालयों से आमंत्रण मिला था, इसलिए वे कनाडा से लॉस एंजेल्स के लिए चले गए। लॉस एंजेल्स पहुंचने पर उनका पासपोर्ट खो गया और आव्रजन अधिकारियों के सवाल-जवाब और औपचारिकताओं, जिनमें से कुछ अपमानजनक भी थीं--वे बहुत नाराज हुए। इसलिए संयुक्त राज्य का अपना सारा कार्यक्रम रद्द कर वे जापान के लिए रवाना हो गए। यह पहला अवसर नहीं था जब किसी घटना ने उन्हें अमेरिका की तारीफ करने से रोका हो। अपनी पिछली यात्रा में भी वे इसी तरह गलत ढंग से परेशान किए गए थे। यह बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण था कि उनकी उच्च आकांक्षाओं को बार बार उस देश में ठोकरें मिलीं, जो अपनी मेजबानी और दोस्ती में कभी कोई कोताही नहीं रखने के लिए मशहूर था।

रवीन्द्रनाथ जापान में करीब एक महीना रहे। वे इस देश और इसके साहसी अनुशासनप्रिय लोगों को बहुत चाहते थे लेकिन उनके दिमाग को धीरे धीरे किसी साम्राज्य जैसी चाह के उन्माद से जानबूझ कर विकृत किए जाने वाले प्रयास को देखकर वे बहुत दुखी हुए। अपने उसी साहसिक अंदाज में उन्होंने एक बार एक आम सभा में उन्हें चेतावनी दी, "आदर्शों के अतीत जो अब कोई जीता-जागता सच नहीं हैं" बल्कि सिर्फ एक राष्ट्र को दूसरे से विमुख करते हैं। सैगोन में सुखद प्रवास के बाद वे फ्रेंच इंडो-चाइना पहुंचे, जहां उनका गर्मजोशी से स्वागत हुआ। रवीन्द्रनाथ जुलाई में भारत लौटे--ठीक ऐसे समय पर ताकि शांतिनिकेतन का आसमान वर्षा के बादलों से भरा हो, जैसा कि वे कहा करते थे, अपने गीतों से स्वागत कर सकें।

जनवरी 1930 में रवीन्द्रनाथ पश्चिमी भारत के दौरे पर निकल गए और बड़ौदा में 'मैन द आर्टिस्ट' विषय पर व्याख्यान देकर वे फरवरी में शांतिनिकेतन लौट आए। मार्च में वे यूरोप के लिए आक्सफोर्ड में अपने हिब्बर्ट व्याख्यान के कार्यक्रम के लिए रवाना हुए--जो कि वे पिछली बार खराब सेहत के कारण दे नहीं पाए थे। दरअसल ये व्याख्यान कार्यक्रम बड़े खूबसूरत बहाने थे, उनका एक ओढ़ी हुई व्यस्तता, जो दूसरे शब्दों में उनकी बेचैनी थी, इस बार उनके अपने चित्रों की पेरिस में लगी प्रदर्शनी देखने के लिए उद्धत और एक बार फिर अर्जेंटिना की मनमोहक मेजबान विक्टोरिया ओकाम्पो से मिलने की चाहत में जो गैलरी पिगाले में आरंभ होनेवाली प्रदर्शनी को आयोजित करने के लिए उतनी दूर से पेरिस आई थीं। पेरिस के आलोचकों ने इन चित्रों का भरपूर स्वागत किया और उन्हें विशुद्ध, एकदम खरा और स्टूडियो की रूढ़ियों से हटकर पूरी तरह निर्बंध बताया।

आक्सफोर्ड में दिए गए हिब्बर्ट व्याख्यान महीने के अंत में 'मनुष्य का धर्म' (द रिलिजन

आफ मैन) शीर्षक से छपा, जो डोरोथी एलम्हर्स्ट को समर्पित था। बरमिंघम और लंदन में अपने चित्रों की प्रदर्शनी के बाद रवीन्द्रनाथ जुलाई में बर्लिन चले गए। इस यात्रा ने उनका आइन्स्टाइन के प्रति स्नेह और सम्मान और बढ़ा दिया जिनके साथ वे बहुत लंबी चर्चाएं किया करते, जिनका सार 'मनुष्य का धर्म' के परिशिष्ट में अंकित किया गया है। उनके चित्रों की प्रदर्शनी बर्लिन के गैलरी मोलर में लगी और म्यूनिख के पुराने टाउन हाल में उनका नागरिक अभिनंदन किया गया। जर्मनी में वे कई जगह घूमे, ओबेरामेरगाउ भी गए जहां उन्होंने 'पैसन प्ले' नाटक देखा। भारतीय कवि को देखकर दर्शकों ने फुसफुसा कर कहा भी था, "ये बिल्कुल हमारे पैगंबर जैसे लगते हैं।"

'पैसन प्ले' का उनके दिमाग पर क्या असर हुआ, यह उनकी कविता 'चाइल्ड' (शिशु) की विषय-वस्तु से अंदाजा लगाया जा सकता है जो उन्होंने अपने जर्मनी-प्रवास के तुरंत बाद लिखी थी--शायद यही उनकी एकमात्र कविता थी, जो सीधे अंग्रेजी में लिखी गई थी। यह विशिष्ट गद्य कविता, बाइबिल की प्रेरणा और हिंदू-कल्पना के मूल अधिगम को समेटे हुए है--जैसे जीवन के प्रति उनकी अनन्य निष्ठा। इसका प्रतीकवाद जीसस की गाथा से उतना ही मेल खाता है जितना कि गांधी से, जैसा कि बाद की घटनाओं ने साबित किया। यह कविता यहां उद्धृत करने की दृष्टि से बहुत लंबी है, इसलिए इसका एक अंश ही दिया जा रहा है ताकि इसमें निहित विचार का संकेत मिल सके--

"वह आस्थावान मनुष्य बढ़ता चला जा रहा है--
निर्मम पथों पर, कभी पथरीली राहों पर
कभी तपती रेतीली पगडंडियों पर
उसके पीछे सभी चल रहे हैं, बलवान और कमजोर
वृद्ध और युवा...
कुछ थके-मांदे हैं और कुछ के पैरों में छाले पड़े हैं
कुछ नाराज हैं और कुछ शंकालु
अपने हर घिसटते कदम के साथ,
वे पूछते हैं--आखिर और कितनी दूर है मंजिल?
रात हो चली है और जमीन पर
अपनी-अपनी चटाइयां फैला रहे हैं मुसाफिर
तभी हवा का तेज झोंका आकर बाती बुझा जाता है
अंधेरा और भी गहरा उठता है
अचेतावस्था में नींद की तरह
तभी, अचानक भीड़ में से कोई उठ खड़ा होता है
और अपनी निष्ठुर तर्जनी नेता की ओर उठाकर

फूट पड़ता है :
अरे प्रवंचक देवदूत! तूने हमें छला है!
एक-के-बाद एक सभी अपना करुण रोष व्यक्त करते हैं
स्त्रियां बिफर उठती हैं और पुरुष गुर्राते रहते हैं
और अंततः एक दुस्साहसी उस पर करता है मुष्टि प्रहार
लोग उसका चेहरा तो नहीं देख पाते
लेकिन उस पर टूट पड़ते हैं, विध्वंसक क्रोधोन्माद में
अचानक वे स्तब्ध रह जाते हैं
और दम लेने के लिए बुरी तरह हांफने लगते हैं
जब वे देखते हैं कि वह आदमी जमीन पर ढेर हो चुका है,
औरतें जोर-जोर से सिसकने लगती हैं
और मर्द हथेलियों में अपने चेहरे छिपा लेते हैं
कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो सबकी नजर बचाकर
खिसक जाना चाहते हैं
लेकिन अपने शिकार के साथ किया गया उनका जघन्य अपराध
उन्हें जंजीरों से जकड़े रखता है
वे एक दूसरे की ओर घबराहट से देखते हैं
अब कौन है, जो उन्हें रास्ता दिखायेगा?
तभी पूरब का एक बूढ़ा आदमी सिर झुकाकर कहता है :
स्वयं यह बलिदानी...
और सारे लोग खड़े होकर एक स्वर में मिलकर गाते हैं :
बलिदानी की विजय!''.... .....

रवीन्द्रनाथ जेनेवा में एक महीने रुक कर सोवियत सरकार के निमंत्रण पर मास्को के लिए रवाना हुए। सौभाग्य से उन्होंने देश में लिखी गई सारी चिट्ठियों का हिसाब रखा जो कि बाद में 'रशियार चिट्ठी' (रशिया की चिट्ठियां) के नाम से प्रकाशित हुईं। ये पत्र वृद्ध होते कवि की सबसे सार्थक योग्यता का समर्थन करते हैं, भले ही कवि अब बूढ़े हो रहे थे लेकिन वे अपने उत्साह में उतने ही युवक थे। वे अपने बुढ़ापे के दिनों में युवा समय के मुकाबले कम रूढ़िवादी और कहीं ज्यादा सहनशक्ति के साथ थे। यह चाहे जितना अजीब लगे मगर सच था कि वे बुढ़ापे में अपनी जवानी से कहीं ज्यादा सुंदर दीखते थे—ये उनके दोनों समय के चित्रों से ही नहीं, पर उनसे जिन्होंने उन्हें दोनों मौकों पर देखा था, उन मित्रों से भी पता चलता है। किसी और व्यक्ति ने इतने विश्वास के साथ नहीं कहा

होगा—उनके सिवा, "मेरे साथ बूढ़े हो जाओ जब कि अब भी श्रेष्ठ होना शेष है, जीवन के उस अंत का, जिसके लिए आरंभ बना था," उम्र ने भले ही उनके चेहरे पर झुर्रियां डाली थीं लेकिन ये उनके दिमाग पर नहीं पड़ी थीं।

महात्मा गांधी की तरह, बीत रहे सालों के साथ उन्होंने यही संधान किया कि सत्य किसी भी धर्म से महत्वूपर्ण है और मनुष्य की भलाई किसी भी दर्शन या विचार से बड़ी होती है। अगर वे 'गीतांजलि' के लेखक और भारतीय आध्यात्मिक परंपरा के महान अन्वेषक न होते तो सोवियत राज्य की यात्रा को तीर्थ-यात्रा की तरह नहीं लेते। एक पत्र में उन्होंने लिखा, "अगर मैं रूस नहीं गया होता तो मेरे जीवन की तीर्थ-यात्रा अधूरी रह जाती। यहां की गतिविधियों को भला-बुरा कहने के पूर्व जो पहली चीज मुझे आकर्षित करती है, वह है उनका गजब का साहस। जो रूढ़ियां आदमी से एक हजार तरीके से चिपकी हुई हैं इतने सारे घर, इनके अनगिनत द्वार और उनकी रखवाली में जुटे असंख्य पहरेदार : पर्वत शिखरों से ऊंचे और सदियों से जमा किए गए करों से भरे खजाने, उन्हें रूस में जड़ों से उखाड़कर फेंक दिया गया है; यहां कोई भय नहीं है, दिलो-दिमाग में कोई हिचक नहीं।"

रवीन्द्रनाथ ने इस देश के बारे में कई विरोधी बातें सुनी थीं और बोलशेविक युग के निर्मम विद्रोह के बारे में उन्हें बताया गया था। उनके मित्रों ने उनकी इस यात्रा को रोकने के लिए उन्हें बताया था कि "उस धरती पर 'सभ्य' सुविधाएं और जरूरतें प्राप्त नहीं हैं।" उन्हें मोटा-झोंटा खाने-पहनने और लोगों के रूखे व्यवहार के बारे में सावधान किया गया था। साथ ही यह भी जोड़ दिया गया था कि उन्हें जो कुछ दिखाया जाएगा वह सिर्फ दुकान के बाहर लगी 'मनोहर झांकी' जैसा होगा। लेकिन रवीन्द्रनाथ ने लिखा है कि "मैं मन ही मन यह सोच रहा था कि पश्चिमी सभ्यता के प्रांगण में रूस ने संपत्ति के इस प्रदर्शन में इतनी बड़ी जीत हासिल की है कि जिनके पास कुछ भी नहीं था, उन्हें भी इसने ऊंचा उठा दिया। पश्चिमी दुनिया के रोष और अभिशाप की अनदेखी करते हुए अगर मैं ऐसा दृश्य नहीं देखूंगा तो भला और कौन देखेगा? जो ताकतवर की ताकत ढहाने और दौलतमंदों की दौलत वर्बाद करने की जी-जान से कोशिश कर रहे हैं, हम भला उनसे क्यों डरें? और हम भला नाराज क्यों हों? हमारे पास न तो ताकत है और न ही दौलत। हम कुत्ते से बदतर जिंदगी बिताने वाले दुनिया के असहाय और भूखे लोग हैं।"

रवीन्द्रनाथ और चाहे जो भी हों लेकिन वे साम्यवादी विचारधारा में विश्वास करते थे। मार्क्सवाद या द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का दर्शन उनकी दिमागी बनावट के लिए बिल्कुल नया था और उनका दिमाग हमेशा इतिहास की प्रक्रिया में विरोध और विवाद की जगह लोगों में भाई-चारा और दोस्ती चाहता था। उनके आत्मगत विवेक और 'मनुष्य के असीम व्यक्तित्व' पर आस्था ने विपक्ष के प्रति बेहिसाब और हिंसक दमन के चलते राजनैतिक कार्यप्रक्रिया की किसी शैली के विरुद्ध इसका पक्षधर बना दिया। उन्हें यह आतंक भी

तंग करता रहा था कि कोई-न-कोई यंत्र मनुष्य को दबाता रहेगा और वे यह जानते थे कि पार्टी की मशीनरी जितनी खतरनाक और दूसरी कोई चीज नहीं हो सकती। वे विश्वास करते थे कि अमानवीय साधन मानवीय अंत को विकृत करने में सर्वथा सक्षम हैं। किसी भी रूप में, उन्होंने सोवियत यूनियन में जो कुछ देखा, उसके वे अंध प्रशंसक नहीं थे। वे पार्टी के अधिनायकवादी निष्ठुर रवैये और सोवियत परीक्षणों की कतिपय नैतिक सीमाओं से परिचित थे। लेकिन इन बंधनों ने उन्हें अपना परिदृश्य खोने नहीं दिया या कि रवीन्द्रनाथ के उद्देश्य में कहीं बाधक साबित हुए। वे जानते थे कि युद्ध की तरह क्रूरता का एक अंश आंदोलन के लिए भी अपरिहार्य होता है। लेकिन तमाम रूसी उथल-पुथल के पीछे उन्हें महान सर्जनात्मक उत्कंठा पर विश्वास था जो बड़े उत्साह से जनमानस के उत्थान की दृष्टि से सिद्ध हो चुका था।

रूस से जर्मनी लौटने के बाद, रवीन्द्रनाथ एक बार फिर अमेरिका के लिए रवाना हुए। यह उनके आधुनिक सभ्यता के प्रतियोगी विचित्र धरती की अंतिम यात्रा थी, जहां 25 नवंबर को न्यूयार्क के चार सौ प्रमुख नागरिकों ने उनके सम्मान में सार्वजनिक भोज का आयोजन किया। कार्नेगी हाल में भी उनका स्वागत समारोह आयोजित हुआ जहां उन्होंने शिक्षा पर व्याख्यान दिया। उनके प्रशंसक रुथ सेंट डेनिस ने उनके विद्यालय के लिए कोष इकट्ठा करने के लिए नृत्य के कार्यक्रम प्रस्तुत किए, हालांकि उनका देश खुद ही आर्थिक-दुर्दशा की भयंकर चपेट में था। कवि ने प्राप्त सारी राशि न्यूयार्क के बेरोजगारों की भलाई के लिए दे दी। रवीन्द्रनाथ के चित्रों की प्रदर्शनी न्यूयार्क और बोस्टन में आयोजित की गई और वाशिंगटन में राष्ट्रपति हूवर ने कवि की अगवानी की। अमेरिकी निर्णय अब अंग्रेजी अंकुशों से मुक्त हो रहा था, मसलन एक बार तो ऐसा हुआ कि राष्ट्रपति विल्सन ने भारत से आए समुद्री तार-संदेश की प्राप्ति सूचना तक नहीं भिजवाई। रवीन्द्रनाथ वहां विल डूरां से मिलकर बहुत खुश हुए। उनकी किताब 'द केस फार इंडिया' अंग्रेजों द्वारा बंगाल में प्रतिबंधित कर दी गई थी। विल डूरां ने रवीन्द्रनाथ को किताब समर्पित करते हुए लिखा था, "आप अकेले ही इतने बड़े कारण हैं कि भारत को आजाद कर दिया जाए।"

जनवरी 1931 में रवीन्द्रनाथ लंदन होते हुए भारत पहुंचे जहां हाइड पार्क होटल में 'स्पेक्टेटर' द्वारा दी गई दावत में बर्नार्ड शॉ से उनकी बहुत लंबी बातचीत हुई। हालांकि यह बेहद लंबी और थका देनेवाली यात्रा थी—लेकिन अनुभव की दृष्टि से बहुत समृद्ध और उपयोगी रही। रवीन्द्रनाथ ने पश्चिमी विश्व को विभिन्न आयामों से देखा जो अपने पीछे स्मृतियों की लंबी शृंखला छोड़ रहे थे, भले ही वे धुंधली पड़ रही थीं, लेकिन पूरी तरह कभी गायब नहीं हुईं। वे यह नहीं ज़ानते थे कि पश्चिम का यह/उनका अंतिम दौरा है लेकिन पश्चिमी दिगंत में उनका सूर्य अस्त हो चुका था।

15

आखिरी फसल

यदि मैं यहां से चला जाऊं--तो इसे मेरा विदावाक्य समझना,
क्योंकि मैंने देखा है जो कुछ वह अनुलंघनीय है।

हिंसा से वितृष्णा के बावजूद, रवीन्द्रनाथ ने रूस की तूफानी क्रांति का स्वागत किया था लेकिन स्वयं अपने समीपस्थ, अपने देश में उस सामूहिक अहिंसक आंदोलन के प्रति उत्साह नहीं दिखाया था, जिसका नेतृत्व महात्मा गांधी कर रहे थे। वैसे यह सच है कि रवीन्द्रनाथ अपने देश के राजनैतिक तथा सामाजिक उत्थान के प्रति संवेदनशील रहे। प्रश्न है, क्या उन्होंने स्वयं ही इसे आंशिक रूप से प्रेरित नहीं किया था? वे महात्मा को देशी या विदेशी सभी नेताओं में, सबसे अधिक सम्मान प्रदान करते थे। दूसरी तरफ उन्हें यह डर था कि महात्मा के मध्ययुगीन तथा प्रतिक्रियाशील मनोभावों तथा सामाजिक व्यवस्था का अनुचित लाभ उनके अनुयायी उठायेंगे। महात्मा तो अपनी धारणाओं की सीमाओं का अतिक्रमण कर सकते हैं लेकिन क्या उनके अनुयायी भी ऐसा कर पाएंगे? उनकी ये धारणाएं कितनी सच थीं, इसका तो इतिहास ही साक्षी है।

इस शताब्दी के आरंभ से ही रवीन्द्रनाथ स्वयं देशभक्ति की उमंग से ओत-प्रोत थे। भारत की गरिमा, इसकी परंपरा पर उन्हें गर्व था, उन्होंने कल्पना की थी कि इसका परंपरागत वैशिष्ट्य ही उनकी चेतना का निदर्शन बनेगा। लेकिन शीघ्र ही वे अपने सहज, स्वाभाविक विचार से मुखौटे के नीचे असली चेहरे को समझ गए, और यह भी समझ गए कि भारत अतुलनीय होते हुए भी किसी अन्य जाति की तरह समस्त मानवजाति का एक अंग है, और इसी के साथ उसे चलना होगा। उन्हें लगा कि समकालीन सत्ता निकट अतीत से कहीं अधिक वास्तविक है और मनुष्य का यथार्थ धर्म है--सत्य से प्रेम और जीवन के प्रति निष्ठा। गांधी जी को भी इसी सत्य का ज्ञान हुआ था जब उन्होंने कहा था, "यदि मनुष्य अपनी समस्त शक्ति एवं क्षमा से ईश्वर का वर्णन कर पाता तो मैं इस परिणति पर पहुंचता, कि ईश्वर ही सत्य है। पिछले दो वर्षों से मैं कुछ और आगे बढ़ा और मैंने कहा कि सत्य ही ईश्वर है।"

'शाहजहां' शीर्षक से अपनी अपूर्व सुंदर कविता में रवीन्द्रनाथ ने कहा कि ताजमहल बनाने से भी महत्वपूर्ण कार्य इसके निर्माता का वैभव नश्वर सुंदरता को पीछे छोड़ जाने में है। भारत भी अपने अतीत को पीछे छोड़ कर आगे बढ़ सकता है। यह नहीं कि वह किसी भव्य कब्र में दफन पड़ा रहे। सुंदरतम कब्र की ओट में बैठकर सोचने से तो, नवजात शिशु के लिए बना एक छोटा-सा पालना मानवता की अमर धरोहर को आगे बढ़ाने में सुचारु रूप से समर्थ है। अपनी चित्रकला में भी रवीन्द्रनाथ ने पूरी तरह से पारंपरिक रूढ़ियों को त्याग दिया था। अपनी काव्य रचनाओं एवं गद्यों की परिपूर्णता से भी वे दूर रहते चले गए जिसे उन्होंने प्रयासपूर्वक प्राप्त किया था। जैसे जैसे उनकी उम्र बढ़ती गई, वैसे वैसे वे अपनी रचनाओं के लिए नवीन विषय-वस्तुओं का संधान करते गए। विदेश की लंबी यात्रा से लौटने के बाद उनकी सर्वप्रथम प्रस्तुति थी 'नवीन' नामक—एक नृत्य-गीतिका।

उस समय भारत बहुत ही कठिन दौर से गुजर रहा था। केवल संदेह की बुनियाद पर, लोगों की आकांक्षाओं के प्रतीक ऐसे सैकड़ों बंगाली युवक यातना शिविर में नजरबंद थे, जो स्वाधीनता चाहने वाले छिपे हुए स्वदेशी आंदोलनकारियों के प्रति महज सहानुभूति रखते थे। हिज़ली के एक ऐसे शिविर में दो युवाओं की बड़ी निर्ममता से पहरेदारों ने जान-बूझकर हत्या कर दी थी। इस हत्याकांड की खबर फैली तो रवीन्द्रनाथ बहुत चिंतित हुए और कलकत्ता की विशाल जनसभा में उन्होंने अपना रोष और आक्रोश प्रकट किया। इसके पहले उन्होंने एक कविता के माध्यम से वक्सा के कैदियों को शुभकामनाएं भेजी थीं। सरकारी निर्ममता के साथ साथ प्रकृति ने भी अपने निष्ठुर रवैये से पूरे उत्तरी बंगाल को बाढ़ की चपेट में ले लिया, बाढ़ से ग्रस्त लोगों की सहायता के लिए उन्होंने कलकत्ता में 'शिशु-तीर्थ' का मंचन किया जो 'शिशु' शीर्षक कविता का बंग्ला नाट्य-रूप है। इसे उन्होंने पिछले वर्ष जर्मनी-प्रवास के दौरान अंग्रेजी में लिखा था।

कलकत्ता के नागरिकों ने इस बीच उनके सत्तरवें जन्म दिवस के अवसर पर 4 जनवरी 1932 को रवीन्द्र जयंती समारोह का आयोजन किया था तभी अचानक उन्हें गांधी जी की गिरफ्तारी का पता चला, और स्वयं कवि के कहने पर इसे संक्षिप्त कर दिया गया। इसके केवल एक सप्ताह पहले ही वे लंदन से लौटे थे, जहां उन्हें गोलमेज कांफ्रेंस में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया गया था। कवि के मन में तब भी अंग्रेजों की न्यायप्रियता के प्रति थोड़ी बहुत श्रद्धा थी, इसलिए उन्होंने प्रधानमंत्री रैमज़े मैकडोनाल्ड को एक तार भेजा—जिसमें उन्होंने उनकी सरकार की अंधाधुंध दमन नीति के कारण भारतीयों का स्थायी रूप से उनसे दूर हो जाने की मानसिकता को प्रकट किया। 26 जनवरी को उन्होंने एक बयान जारी किया, जिसे सरकारी प्रतिबंध के कारण संपूर्ण प्रकाशित नहीं किया गया। इससे कवि को बहुत ठेस पहुंची, वे अपमानित हुए। उन्होंने 'प्रश्न' नामक कविता में अपने इस मनोभाव को व्यक्त किया, जिसमें उन्होंने ईश्वर को संबोधित करते हुए प्रश्न किया कि

तुमने अपने दूत को इस पृथ्वी पर बार बार भेजा है, क्षमा और प्रेम सिखाने के लिए, उन महान आत्माओं के प्रति हम नतमस्तक हैं। परंतु आज उनका संदेश मात्र उपहास बन कर रह गया, मैं तुमसे पूछता हूं–हे ईश्वर, क्या तुम स्वयं उन लोगों को क्षमा कर सकते हो, उन्हें प्यार दे सकते हो जिन्होंने तुम्हारी इस सृष्टि को विषमय बना डाला है, तुम्हारे आलोकमय पथ को अंधकार से ढक दिया है?

रवीन्द्रनाथ निराश होकर एकांतवास के लिए 'खड़दा' में, गंगा के किनारे एक शांत-कुटीर में चले गए, जहां उन्होंने स्वयं अपने तथा अन्य भारतीय चित्रकारों द्वारा अंकित चित्रों से प्रेरित होकर कई कविताएं लिखीं। बाद में ये सभी कविताएं 'विचित्रा' शीर्षक से प्रकाशित हुईं तथा नन्दलाल बसु को समर्पित की गई।

बढ़ती उम्र तथा अत्यधिक परिश्रम के फलस्वरूप रवीन्द्रनाथ की सीधी-तनी पीठ तथा सुगठित कंधे अब झुकने लगे थे। दुख के साथ जब उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि अब और विदेश की यात्रा उनसे संभव नहीं हो पाएगी ठीक उसी समय ईरान के बादशाह रज़ा शाह पहलवी ने उन्हें अपने देश आने का निमंत्रण दिया।

उन्होंने अपनी 'डायरी' में लिखा, "एक पड़ोसी मित्र देश के सर्वोच्च व्यक्ति का आमंत्रण किसी भी तरह टाला नहीं जा सकता।" तदनुसार 11 अप्रैल 1932 को वे फारस के लिए रवाना हो गए। उनके साथ उनकी पुत्र-वधू प्रतिमा देवी थीं–जिन्होंने एक बेटी की तरह वृद्धावस्था में उनकी सेवा की थी। बेहद लंबी और कठिन यात्रा की थकान से बचने के लिए वे हवाई जहाज से गए।

रवीन्द्रनाथ बुशायर से गाड़ी द्वारा शिराज़ पहुंचे। शिराज़–हाफ़िज़ और शेख सादी जैसे महान कवियों का देश है। रवीन्द्रनाथ उनकी कब्रों पर श्रद्धा सुमन अर्पित कर धन्य हुए। इस्पाहान में थोड़ी देर रुकने के बाद वे 29 अप्रैल को तेहरान पहुंचे। वहां सरकारी तथा जनसाधारण की तरफ से उनका इतना स्वागत किया गया कि कवि अभिभूत हो गए। 'पूर्वी आकाश का सबसे उज्ज्वल नक्षत्र' कहकर समाचार पत्रों ने उन्हें सम्मानित किया। तेहरान प्रवास के दौरान ही उनकी वर्षगांठ बड़ी धूमधाम से मनाई गई। प्राच्य के वैभव से परिपूर्ण शाह और उनके लोगों का प्यार और सम्मान देखकर रवीन्द्रनाथ अभिभूत हो उठे। अपनी हार्दिक अनुभूतियों को उन्होंने विदाई संभाषण में व्यक्त किया। भारत वापस आते हुए वे बगदाद शहर में ठहरे। ईराक में बादशाह फैसल खुद उनकी अगुवानी के लिए आए थे। उन्होंने बेदुईनों के शिविर में भी एक दिन बिताया था। इसकी उन्हें बचपन से ही चाह थी। उन्होंने बहुत पहले अपनी एक कविता में लिखा भी था, "काश, मैं अगर एक बेदुईन होता।"

लेकिन एक हृदयविदारक समाचार उनके बुलबुल और गुलाबों के देश से लौट आने की प्रतीक्षा कर रहा था। उनका इकलौता पोता बेहद संवेदनशील और होनहार नीतीन्द्र,

जिसे उन्होंने जर्मनी में पुस्तक प्रकाशन प्रविधि में प्रशिक्षण के लिए भेजा था, अतिसंक्रामक दाय रोग से ग्रस्त हो गया था। नीतीन्द्र की जर्मनी में ही 7 अगस्त को मृत्यु हो गई। सुदूर विदेश में उसकी मृत्यु से कवि को गहरा आघात लगा। लेकिन चूंकि कवि को ऐसे कई मृत्यु शोकों को सहना पड़ा था, गहन दुख से, प्रत्येक आघात से जीवन के प्रति उनकी आस्था सुदृढ़ होती चली गई। अपनी एक बेहद खूबसूरत कविता में उन्होंने लिखा–

"तुम्हारी हृदय-हीन निष्ठुर महानता ने तुम्हें दूर से भयावह और अजेय बना दिया है। कांपते हृदय से मैं तुम्हारे सम्मुख खड़ा था–तुम्हारी भृकुटि से भयभीत। तभी यह चोट पहुंची। मैं सिहर उठा और डरते हुए पूछा 'अभी और भी कुछ शेष है? क्या अभी भी अंतिम बिजली का गिरना बाकी है?' वह गिरी। मैंने फिर पूछा; 'क्या यही अंतिम है? और कुछ नहीं?' मेरा डर टूट गया। जब तुम्हारा वज्र मेरे ऊपर गिरने ही वाला था तब तुम–मुझसे कितने बड़े लग रहे थे, पर जब तुम मुझ पर प्रहार करने के लिए नीचें उतर आए तब तुम संकुचित हो मेरे समरूप हो गए और मैं वैसे का वैसा ही रह गया। तुम महान हो सकते हो किंतु मृत्यु से बड़े नहीं। अब मैं ही हूं जो मृत्यु से महान हूं, बड़ा हूं। और इसे मेरा अंतिम कथन समझो।' जितनी भी पीड़ा या जितना भी दुख था, रवीन्द्रनाथ को उन सबका पूरा पूरा अंश मिला हुआ था। मृत्यु-भय को वे तन के रोग से कहीं अधिक बुरा मन का रोग समझते थे। दुख और पराजय जीवन के अंश हैं–इन्हें मानवोचित मर्यादा से ग्रहण कर लेना ही उपयुक्त है। बाधा या विपत्ति से असंतुष्ट होना या मार खाए हुए कुत्ते की तरह कराहना उनके स्वभाव के विरुद्ध था–जैसे कई कवियों ने अपना रोष प्रकट किया, या फिर करुणा की भीख मांगी। वे कभी कभी भावुक भी हो जाते थे लेकिन अपने लिए नहीं बल्कि दूसरों के लिए, अपने को उन्होंने कभी दया या करुणा का पात्र नहीं बनाया। जीवन के प्रति प्रेम ही उनकी प्रबलतम अनुभूति थी। उनका जीवन दर्शन भी इसी तथ्य की संपुष्टि करता है। जीवित रहने का आनंद और अनुभूतियों को सक्रिय बनाए रखने का संकल्प ही उनके लिए एक ईश्वर-प्रदत्त उपादान था, जिसके लिए वे सदैव कृतज्ञ रहे। जिस समय वे अपने दुख शोक से जूझ रहे थे तब भी उन्होंने लिखा,

"एक बार फिर मेरी नींद खुल गई।
रात बीत जाने को थी–
और विश्व की पंखुरियां खिलने को थीं
        अनंत... अंतहीन आश्रमों के साथ।
इस भव्य पेड़ छाल पर उत्कीर्णित हैं,
शताब्दियों के हस्ताक्षर।
इसने देखा है कई-कई राजमुकुटों को धूल में लोटते

मैं एक दिन और इसकी घनी छांह में बैठूंगा—
अनदेखे और अनसुने समय-चक्र के साथ।"

अदृश्य, निःशब्द, निरंतर गतिशील काल-चक्र का संगीत उन्हें हमेशा आकर्षित करता रहा। पीछे मुड़कर जब वे अपने अतीत की ओर देखते हैं तो अपनी प्रिय काव्यदेवी सदा विभिन्न रूपों में उन्हें आश्वस्ति प्रदान करती हुई बार बार उनका आह्वान करती दिखाई देती हैं, जिन्होंने उनके जीवन के हर्ष-विषाद और अनगिनत पहलुओं से उन्हें पथ-निर्देश किया, दिशा दिखाई है। उन्होंने भी जीवन की समग्र फसल को उनके चरणों में समर्पित कर दिया है। अब दिवस समाप्त हो रहा है, अब भी वह हाथ में मंजूषा लिए क्यों विहंस रही है? क्या अब भी उन्हें अर्पण करते जाना है, स्वयं को पूर्णतया निःशेष कर देना?

उक्त तथा और कई कविताएं—जिनमें कुछ संस्मरण हैं, कुछ गहन एवं गंभीर कविताएं हैं, आनंदमय हैं, और एक रोषपूर्ण कविता भी सम्मिलित है—'एक प्रश्न' जिसके बारे में पहले ही बताया गया है, इनके साथ कई अन्य कविताएं भी हैं जो दुख पर विजय प्राप्ति के उपरांत परिणत सहजता से लिखी गईं और 'परिशेष' शीर्षक से 1932 में प्रकाशित हुईं। इसके शीर्षक को देखकर ऐसा लगता है कि उन्होंने सोचा होगा कि यही उनके रचनात्मक जीवन की अंतिम सीमा है।

लेकिन यह उनके व्यक्तित्व के प्रस्थान का अंत था, जो अठारह वर्ष पहले 1914 में 'बलाका' से आरंभ हुआ था। यह एक खूबसूरत पहलू था जिसका आरंभ और अंत दोनों ही भव्य कहे जा सकते हैं। लेकिन यहीं उनकी समाप्ति नहीं थी। एक अन्य पहलू आरंभ होने ही वाला था, जिसका आभास उन्हें मिल गया था जब उन्होंने अपनी काव्य देवी को आधे घूंघट में मुस्कराते हुए और हाथ में एक रिक्त मंजूषा लिए प्रतीक्षारत देखा था। तभी ऐसा लगा कि वयोवृद्ध कवि अपनी युवावस्था में वापस चले गए हों, और उसी उत्साह से दोबारा नई नई दिशाओं की खोज करने में प्रेरित हुए एवं गद्य में संगीत के उपादान ढूंढ़ने में जुट गए, इस साधारण, सीधे-सादे उपयोगी माध्यम में ही लय की सृष्टि की संभावना की खोज करने लगे। जमीन चाहे जितनी भी कठिन, असमतल, ऊबड़-खाबड़ क्यों न हो, वे अपनी काव्य देवी को उन सबके पार, उसी गरिमा के साथ सर्वाधिक मनोरम चरागाहों में ले जाने में लगे रहे। इसका प्रमाण उन्होंने चार श्रेष्ठ कृतियों में प्रस्तुत किया—'पुनश्च' (1932), 'शेष सप्तक' (1935) 'पत्रपुट' (1936) और 'श्यामली' (1936)। लेकिन उन्होंने अपने प्रथम प्रेम को पूरी तरह छोड़ा नहीं था, प्राचीन काव्य शैली में उन्होंने कई ग्रंथ प्रकाशित किए, जो मुक्त और छंदोबद्ध दोनों ही थे। लेकिन 1932 से नौ साल बाद तक यानी अपनी मृत्यु के पूर्व तक जो कुछ भी उन्होंने लिखा, उससे यह निर्मूल रूप से स्पष्ट हो जाता है कि उनकी काव्य ऊर्जा ने एक नई दिशा और नए शिखर पर आरोहण किया था। उनकी

सहज आध्यात्मिकता का स्तर बहुत ऊंचा हो गया था, वे जो कुछ भी देखते थे, पहले की अपेक्षा अधिक सहानुभूति से, और अधिक आंतरिकता से। उन्होंने साधारण में भी असाधारण एवं अंतर्निहित गुणों का अन्वेषण किया था।

यह उनके लिए सौभाग्य की बात थी कि पश्चिमी दुनिया के प्रति उनका रुझान फीका पड़ रहा था, बल्कि लुप्त हो गया और उनका नाम किसी उज्ज्वल नक्षत्र की स्मृति की तरह म्लान हो चला था। विश्व को उपदेश देने तथा इसे बदलने का आग्रह भी शांत हो गया था। उन्होंने एक बार लिखा भी था कि "उपदेश देने वाला व्यावसायिक तौर पर एक विशेष प्रकार की विचारधारा का प्रचार करता है, उसका ग्राहक किसी भी समय आकर उससे प्रश्न पूछता है। उसका उत्तर जो वह अभ्यासवश दे भी देता है, धीरे धीरे उसकी जीवित सत्ता समाप्त होने लगती है, वह अपने प्राणहीन अचेत शब्दों के भार से उसके अपने ही विश्वास का हंता हो जाने का भय रहता है। मुझे लगता है कि इस प्रकार की दुर्घटनाएं प्रायः घटती रहती हैं, लोगों के अनजाने में, विशेषकर वे लोग इसमें फंस जाते हैं जो अच्छे हैं, और परोपकार के लिए चेक पर हस्ताक्षर करने के लिए सदैव तत्पर रहते हैं और उनके पास यह देखने का भी अवकाश नहीं होता कि उनके खाते में कुछ जमा है भी कि नहीं। इसलिए मैं सोचता हूं कि केवल एक कवि होना ही सर्वोपरि है, क्योंकि कवि अपने सर्वोत्तम क्षणों या अनुभूतियों के प्रति निष्ठावान होता है, सच्चा होता है, न कि दूसरों की आवश्यकताओं के प्रति।"

ऐसे ही स्वर्णिम क्षण उनके द्वारा संग्रहित होने का बाट जोह रहे थे, उनके तथा उनके पाठकों की सौभाग्य की बात थी कि अब आगे उन्हें अपने ही देश में रहना पड़ा—अपने देश के प्राकृतिक परिवेश के ऊपर निर्भर होकर। यह उनके लिए बहुत ही लाभप्रद सिद्ध हुआ। कुछ वर्ष पूर्व उन्होंने यह गाया था—

"मैं रूप के सागर में कूद पड़ा हूं
इस आशा में कि मैं निराकार के मोती प्राप्त करूंगा--
अब अपनी जर्जर नौका संग
घाट-घाट मैं नहीं भटकूंगा।"

घूमना छोड़कर रवीन्द्रनाथ अब अपने मोती को लाने और भी गहरे पानी में डुबकी लगा सकते हैं।

बंग्ला के कई विवेकी समालोचक समझते हैं कि उनकी सर्वश्रेष्ठ कविताएं उनके जीवन के अंतिम दस वर्षों में लिखी गईं। यह सच हो भी सकता है और नहीं भी, यह पाठक की अभिरुचि, मनोभाव और मानसिक संरचना के ऊपर निर्भर है। वस्तुततया यह निर्विवाद तथ्य है कि अपने जीवन में उन्होंने कई शिखरों पर आरोहण किया, जो एक-दूसरे से सर्वथा

अलग थे और जो भी उन्हें जिस शिखर पर देखता है उसे वही सर्वोच्च प्रतीत होता है। और चूंकि सबसे अंतिम शिखर पाठकों के सबसे समीप का रहा--इसकी विजय भी अधिक श्रमसाध्य और वीरोचित कही जा सकती है क्योंकि इसे उन्होंने अपनी वृद्धावस्था और दुर्बल शरीर से तय किया था, इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं है कि किसी किसी को उनका यह आरोहण सबसे महत्वपूर्ण लगा हो। लेकिन अब इसके विषय में बाद में और भी कहा जाएगा। क्योंकि रवीन्द्रनाथ ने कविता लिखने के साथ साथ और भी बहुत कुछ किया था--जिनमें से कुछ तो विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करते हैं।

सितंबर की 20 तारीख को पूरा देश यह सुनकर स्तब्ध रह गया कि गांधी जी ने जेल में आमरण अनशन करने की ठान ली है। उन्होंने यह निर्णय अंग्रेज प्रधानमंत्री द्वारा हिंदुओं की अवर्ण और सवर्ण जातियों के बीच विभाजन पैदा कर उनके लिए अलग अलग निर्वाचन मंडल की स्थापना करने की मंशा के विरुद्ध लिया था। गांधी जी जिस दिन अनशन आरंभ करने वाले थे, उसी दिन सुबह 3 बजे उन्होंने रवीन्द्रनाथ को एक पत्र में लिखा, ''प्रिय गुरुदेव, आज मंगलवार है। अभी सुबह के तीन बजे हैं। दोपहर को मैं अग्नि द्वार में प्रवेश करूंगा। इस प्रयत्न के लिए मैं आपके आशीर्वाद की प्रार्थना करता हूं। आप मेरे सच्चे मित्र रहे हैं क्योंकि आप अपने मन की बातें निष्कपट भाव से प्रकट करते रहे हैं। अगर आप हृदय से मेरे इस प्रयत्न का समर्थन करते हैं तो मैं इसके लिए आपका आशीर्वाद चाहूंगा। यह मुझे शक्ति प्रदान करेगा।'' लेकिन यह पत्र डाक में डालने से पहले ही उन्हें कवि का तार मिला: ''भारत की एकता और सामाजिक एकजुटता को अटूट रखने के लिए अपना बहुमूल्य जीवन न्योछावर कर देना ही उचित है। हम अपने पीड़ा भरे हृदय से आपकी महान तपस्या का सम्मान और प्रेमपूर्वक अनुसरण करेंगे।''

लेकिन कवि अपने को दूर नहीं रख पाए। वे 24 सितंबर को यरवदा जेल में कैद महात्मा से मिलने पुणे रवाना हो गए। इस बीच ब्रिटिश सरकार ने प्रमुख मांगों को मान कर सुलह का रास्ता अपनाया था। महात्मा ने 26 सितंबर को अपना अनशन तोड़ दिया। उस समय कवि भी जेल में उनके पास बैठे हुए थे। सार्वजनिक बयान देते हुए महात्मा ने कहा, ''यह अनशन ईश्वर के नाम से आरंभ किया गया था और अब उसी के साथ गुरुदेव के सामने खत्म किया जा रहा है...।'' ... अनशन भंग होने से पहले गुरुदेव ने एक बंग्ला गीत गाया। यह गीत--गीतांजलि का मूल गीत था--''जीवन जखन शुकाये जाय करुणा धाराय एसो...'' (जब जीवन सूख जाए तब करुणा धारा में आओ और जब सारी माधुरी लुप्त हो जाए तो गीतामृत में बरसो)।

कलकत्ता विश्वविद्यालय के अनुरोध पर रवीन्द्रनाथ ने बंग्ला विभाग की पीठ का पद भार ग्रहण किया और इस हैसियत से उन्होंने व्याख्यान शृंखला में कई व्याख्यान भी दिए। साथ ही, उन्होंने अपनी देखरेख में बंग्ला में तकनीकी तथा वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दकोश

तैयार करने का एक कार्यक्रम बनाया। इस बारे में कोई पचास वर्ष पहले अपनी युवावस्था में उनमें बहुत उत्साह था। विभिन्न जनसेवी कार्यक्रमों में संलग्न रहकर,–जिनमें कई महत्वपूर्ण व्याख्यान भी सम्मिलित थे, उन्होंने दो नए नाटक लिखे। इनमें से पहला था–'ताशेर देश' एक खूबसूरत प्रहसन जो उनकी ही पूर्व लिखित कहानी पर आधारित है, और दूसरी कृति थी–'चंडालिका'- (एक अछूत कन्या) बौद्ध गाथा पर आधारित एक लघु नाटिका। इसमें केवल दो ही पात्र हैं। इस सरल लोकप्रिय कहानी को जिसमें बुद्ध की मनशक्ति के द्वारा अपने शिष्य को चंडाल-कन्या के माया जाल से मुक्त करने का वर्णन है। रवीन्द्रनाथ ने इसे आध्यात्मिक महत्व रखने वाले एक मनोवैज्ञानिक कथानक में बदल दिया है। अब यह एक कामातुर नारी का किसी साधु (पुरुष) को मोहांध करने की कहानी नहीं रह गई, बल्कि एक संवेदनशील तथा स्वाभिमानी कन्या की कहानी बन गई थी–जो अपने जन्म से ही दुत्कार और फटकार पा रही थी–जिसे समाज के निचले स्तर में स्थान मिला था–अब वह अचानक जाग उठी थी। उसे इसका बोध हुआ कि दूसरे लोगों की तरह वह भी मानव है–सहसा उसे अपने हृदय की पिपासा और प्रेम करने की क्षमता का ज्ञान भी हो गया।

'ताशेर देश' और 'चंडालिका', इन दोनों नाटकों का मंचन कलकत्ता में सितंबर माह में किया गया। इसके तत्काल बाद उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय में ही छंद के ऊपर एक व्याख्यान दिया। तदुपरांत शांतिनिकेतन के कुछ छात्रों और कलाकारों को लेकर वे बंबई रवाना हो गए। यहां उन्होंने कवयित्री सरोजिनी नायडू के नेतृत्व में उनके प्रशंसकों द्वारा आयोजित 'रवीन्द्र सप्ताह' में भाग लिया। बंबई से वे समुद्र किनारे स्थित मनोमुग्धकारी वाल्टेयर विश्वविद्यालय गए। तत्कालीन उपकुलपति डा. राधाकृष्णन उनके स्वागत के लिए आए। आन्ध्र विश्वविद्यालय में जो व्याख्यान दिए, वे बाद में 'मानव' शीर्षक के अंतर्गत प्रकाशित हुए। वहां से वे हैदराबाद गए जहां निजाम ने उनका स्वागत किया। इसके पहले निजाम ने विश्वभारती में इस्लामी शिक्षा-विभाग खोलने के लिए खासी रकम दान में दी थी। इसके बाद रवीन्द्रनाथ दिसंबर के अंत में कलकत्ता लौट आए और सोनेट हॉल में 'भारत पथिक राममोहन' नामक अपना प्रसिद्ध व्याख्यान दिया। वर्ष के अंत तक उनके दो उपन्यास 'दुई बोन' (दो बहनें) और 'मालंच' (बगीचा) तथा गद्य नाटक 'बंसरी' (नाटक की नायिका के नाम पर) प्रकाशित हुए। साहित्यिक जीवन में यह वर्ष उनके लिए बहुत ही सार्थक रहा यद्यपि वे कई जनसेवी कार्यक्रमों तथा राजनैतिक घटनाओं से भी लगातार जुड़े रहे।

'दुई बोन' एक लघु उपन्यास है, इसका परिवेश मुख्य रूप से मनोवैज्ञानिक है, सामान्य जीवन के त्रिकोण को लेकर यह लिखा गया है–इसमें दो बहनों का एक ही व्यक्ति से प्रेम दिखाया गया है। लगता है; लेखक ने यहां पर यह दिखाने की कोशिश की है कि पुरुष नारी में मां और प्रेयसी दोनों का रूप देखना चाहता है। जिसको किसी नारी में यह दोनों

रूप एकसाथ मिल जाते हैं वह सचमुच भाग्यवान (होता) है। परंतु मनुष्य का स्वभाव और समाज ही इस प्रकार का है कि प्रायः पुरुष को ये दोनों एक साथ नहीं मिल पाते और कुल मिलाकर प्रेम अपूर्ण रह जाता है। और इस तरह एक जीवंत हृदय निराशा से बच नहीं पाता। इस उपन्यास में दो प्रतिस्पर्धी बहनों ने, जो अपनी वेशभूषा और तैयारी में समान रूप से आकर्षक हैं, परिस्थिति को और भी जटिल बना देती हैं। वैवाहिक प्रेम के प्रति निष्ठा तथा निर्द्वंद्व मुक्त प्रेम के प्रति निष्ठा के संघर्ष से जो अंतर्द्वंद्व उत्पन्न होता है उस मनोवैज्ञानिक परिस्थिति का सामना लेखक ने बड़े साहस के साथ किया है, अन्यथा भावुक बनाकर या नैतिक शिक्षा देने का प्रयास उन्होंने नहीं किया है।

'मालंच' इन दोनों से छोटा है लेकिन इसकी स्थितियां अधिक नाटकीय हैं। यह उपन्यास संवादप्रधान है, इसलिए यह आश्चर्य होता है कि लेखक ने इसे नाटक के रूप में क्यों नहीं प्रस्तुत किया। इसकी कहानी प्रायः 'दुई बोन' जैसी ही है, दो नारी और एक पुरुष, यद्यपि यहां प्रतिस्पर्धी के रूप में स्त्री (पत्नी) की बहन नहीं बल्कि पति की ममेरी बहन है। इस उपन्यास का मनोवैज्ञानिक स्वभाव कुछ अन्य प्रकार का है।

नीरजा अपने माली पति के साथ खुश है। उसका पति फूल बेचने का धंधा करता है, अपनी बगिया से उसे बहुत प्यार है। पति के उस प्यार की नीरजा स्त्रियोचित ढंग से सराहना करती है। पति का पूरा प्यार पाने के लिए उसकी प्रिय वस्तुओं से भी वह लगाव रखती है। पति भी उसे बहुत चाहता है। उन दोनों का प्यार भाई-बंधुओं की परस्पर ईर्ष्या का कारण बन जाता है। वह प्रसन्न थी, इसलिए उसका हृदय भी बहुत उदार था। लेकिन लोग उसके भाग्य से जलने लगे, दस साल का निष्कलंक सुख भोगने के बाद वह अचानक बीमार पड़ जाती है और अपाहिज होकर बिस्तर पकड़ लेती है और पति की बगिया में उसके हाथ बंटाने की कोई आशा नहीं रह जाती। (अपने) बिस्तर के पास ही खिड़की से वह केवल अपनी बीती हुई खुशियों को ही देख सकती थी।

बगिया के काम में हाथ बंटाने के लिए उसके पति ने जब अपनी ममेरी बहन सरला को बुला भेजा तो उस पराई स्त्री को देखकर नीरजा की तुच्छ सांत्वना कड़वाहट में बदल जाती है। उसकी जगह पति के साथ, उससे छोटी और स्वस्थ युवती को बगिया में काम करते देखकर उसके मन में हीनतम कल्पना उभरने लगती है और वह ईर्ष्या से पागल हो जाती है। वह अपने संदेह को छुपाने की भी कोशिश नहीं करती, इससे उसका दुर्भाग्य भड़क उठता है और वही हो के रहता है--जिसका उसे डर था। अपनी शारीरिक असहायता से कहीं अधिक उसके मन को आघात पहुंचता है। जब वह खुश थी तो उसका मन भी उदार था लेकिन अब वह अन्यायपूर्ण और प्रतिहिंसक हो उठता है। उसे अपने मन की इस अवनति का ज्ञान है लेकिन कोशिश करने पर भी वह इससे ऊपर उठ नहीं पाती। उसको दोनों तरफ से कष्ट झेलना पड़ता है। तन से विवश और मन के प्रेम से वंचित।

चित्त की क्षुद्रता ने उसे इस तरह जकड़ लिया था—जो कि हमारी प्रेम और क्षमा करने की क्षमता को शक्तिहीन और पंगु बना देता है।

'बंसरी' एक मजेदार नाटक है, अपूर्व संवादों से इसमें चमक आ गई है। इसमें कलकत्ता के संभ्रांत परिवार, उसके बनावटी आचार व्यवहार और दंभ के बारे में प्रामाणिक चित्रण है। प्रेम की स्वाभाविक क्षमता के बौद्धिक स्तर के छद्म प्रेम द्वारा नष्ट होने की त्रासदी को सुखांत बनाकर प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने इस नाटक का कभी मंचन नहीं किया, हालांकि इसकी प्रस्तुति की योजना एक बार बनाई गई थी—मंचन के उपरांत इसके परिणाम के बारे में संभवतया उन्हें कुछ संदेह था। इसमें जिन पात्रों का चित्रण किया गया था—वे उनके जाने-पहचाने नहीं थे, बल्कि अधिकांशतया सुने सुनाए थे। रवीन्द्रनाथ तब इतने वृद्ध और विख्यात हो चुके थे—कि स्वयं अगोचर रहकर तत्कालीन उभर रहे चरित्रों को निकट से निरीक्षण कर पाने का अवसर उन्हें नहीं मिल पाया। उनका प्रेम-चित्रण क्रमशः बौद्धिक होता चला गया,—अपनी धारणा में सशक्त किंतु भावाभिव्यक्ति में अशक्त। न केवल उनका शरीर बल्कि उनका हृदय भी छीजता चला जा रहा था। केवल उनका मन पूर्णतया सक्रिय और सन्नद्ध था।

जनवरी 1934 के आरंभ में, शांतिनिकेतन लौटने के पंद्रह दिनों के बाद, उन्होंने जवाहरलाल नेहरू तथा उनकी पत्नी कमला का स्वागत किया। कवि, जवाहरलाल नेहरू की साहसिक देशभक्ति, बौद्धिक सत्यनिष्ठा, उनके विवेकपूर्ण दृष्टिकोण तथा अंतर्राष्ट्रीय सहानुभूति के भाव के लिए अक्सर उनकी प्रशंसा किया करते थे। वहां उनके और उनकी पत्नी के सम्मानार्थ एक जनसभा का आयोजन किया गया। इस बीच 15 जनवरी को उत्तरी भारत में एक जबरदस्त भूकंप आया, बिहार के कई जनपदों में जीवन और संपत्ति की भारी क्षति हुई। गांधी जी उस समय दक्षिण भारत का दौरा कर रहे थे, एक जन-सभा में उन्होंने कहा कि यह दुर्घटना अस्पृश्यता के पाप के कारण ईश्वर का अभिशाप है। "मुझ जैसा एक मनुष्य यह सोचे बिना नहीं रह सकता कि यह भूकंप अस्पृश्यता के पाप के विरुद्ध ईश्वर प्रदत्त दंड है, ... मुझे पूरा विश्वास है कि बिहार के इस भूकंप और अस्पृश्यता अभियान के बीच एक कोई-न-कोई योग सूत्र अवश्य है।"

महात्मा द्वारा पुरोहितों की तरह साधारण लोगों के मन में पाप भर डालने के इस प्रयत्न को देखकर रवीन्द्रनाथ चकित रह गए। उन्होंने एक जनसभा में कहा, "मुझे इस बात का बहुत दुख है कि महात्मा उन लोगों को दोषी ठहरा रहे हैं जो लोग अस्पृश्यता के सामाजिक विधानों का आंख मूंद कर पालन कर रहे हैं और उनके इस आचरण से कुपित होने के कारण ईश्वर के दंडस्वरूप बिहार के कुछ हिस्सों में यह भूकंप आया है, विशेष रूप से ईश्वर ने इसी जगह को चुना है। इससे भी अधिक दुख की बात यह है कि इस तरह की अवैज्ञानिक धारणाओं को हमारे बहुत-से देशवासी बहुत जल्द मान लेते हैं।" इन सबके

बावजूद अंग्रेजी साप्ताहिक 'हरिजन' में गांधी जी ने अपने विश्वास की पुनरावृत्ति करते हुए लिखा, "यह भूकंप मेरे लिए ईश्वर का स्वेच्छाकृत या किसी अंधविश्वास का परिणाम नहीं था। हमें ईश्वर के नीति नियमों, उनके कार्यों के बारे में कुछ भी नहीं पता।" इस विषय में जवाहरलाल नेहरू की यह उक्ति महत्वपूर्ण है, "मैं जब भूकंपग्रस्त क्षेत्रों में घूम रहा था या वहां जाने के थोड़े समय पहले गांधी जी का बयान पढ़कर मैं हैरान रह गया कि अस्पृश्यता के पाप के फलस्वरूप यह भूकंप आया है। यह बहुत ही दुखद और निराशाजनक विचार है, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के वक्तव्य से मैं पूरी तरह सहमत हूं। इससे भी अवैज्ञानिक उक्ति कोई हो सकती है यह मेरी कल्पना से परे है।"

कहीं दूर जाने के लिए, सदा की तरह बेचैन कवि का मन चंचल हो उठा था, वे तृषित हो रहे थे। उनकी उम्र बढ़ती जा रही थी सो अब वे जब जहां चाहे यात्रा नहीं कर सकते थे। उम्र के आधिक्य से भी बड़ी समस्या थी पैसों की। उनके पुरखों की संपत्ति की आय उनके स्वयं तथा परिवार के लिए पर्याप्त थी—क्योंकि वे बहुत ही सादगी से जीवन व्यतीत करते थे। दिखावा या प्राचुर्य को नापसंद करते थे--लेकिन अब वह आय उनके विद्यालय और विश्वविद्यालय के लिए किसी भी तरह पर्याप्त नहीं थी। उनकी बंग्ला पुस्तकों से रायल्टी बहुत ही कम मिलती थी। कविता लिखने का काम तो वैसे भी लाभप्रद नहीं था। इसके साथ पढ़े-लिखे सीमित वर्ग की क्रय क्षमता भी बहुत दयनीय थी। नोबेल पुरस्कार मिलने के कुछ वर्ष तक उनकी अंग्रेजी तथा अन्य विदेशी पुस्तकों से अच्छी आमदनी हुई थी। परंतु इसका एक बड़ा हिस्सा उनकी विदेश यात्राओं में खर्च हो गया। जर्मनी में उनकी पुस्तकों की बिक्री सबसे अधिक हुई थी लेकिन वहां बढ़ती महंगाई के फलस्वरूप उनकी रायल्टी बिलकुल नहीं के बराबर हो गई थी।

1934 तक पाश्चात्य में कवि की जीवित सत्ता से कहीं अधिक उनकी स्मृति ही शेष रह गई तथा उनको मिलनेवाली रायल्टी भी बहुत कम हो गई। उधर दूसरी तरफ शांतिनिकेतन में उनके विश्वविद्यालय का कलेवर इतना अधिक बढ़ गया था कि वह सफेद हाथी हो गया था। इसे सराहने वाले तो बहुत थे लेकिन इसका पोषण करने वाला कोई नहीं था। कवि रवीन्द्रनाथ जिन्होंने अपने देश के लोगों को इतनी विशाल और चिरंतन धरोहर सौंप दी कि आगामी कई पीढ़ियां भी चाहें तो उसकी बराबरी नहीं कर पाएंगी, उन्हीं को अपने विश्वविद्यालय के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए भीख मांगनी पड़ी। जो विश्वविद्यालय उनके लिए उनके प्रिय आत्मज की तरह था - वही अब एक विशाल परिव्यय का क्षेत्र बनकर रह गया। उनके जीवन के अंतिम वर्ष एक ओर मुक्त तथा महान थे दूसरी ओर शांतिनिकेतन विश्वविद्यालय के कारण चिंता तथा अपमान से भाराक्रांत थे। उनके अभिजात स्वभाव में भिक्षा मांगना बहुत बड़ा अपमानस्वरूप था। तथा उससे अधिक प्राप्ति की भी संभावना नहीं थी क्योंकि यहां इस देश में धनी व्यक्ति अपने पैसे या तो पुरोहितों की अंजुरी

में डालते हैं या राजनीतिज्ञों की जेब में।

अब विश्वविद्यालय को ही विभिन्न प्रस्तुतियों में लगाकर धन एकत्रित करने का एकमात्र उपाय इस वयोवृद्ध कवि के पास रह गया था। ऐसा करने के लिए उन्हें अभिनेताओं और नर्तकों को प्रशिक्षण देकर दल तैयार करना था जो उनके अपने नाटकों और नृत्य-नाटिकाओं का दूसरे शहरों में जाकर मंचन कर अर्थ जुटा सकें। केवल यही एकमात्र कारण नहीं था। उनके भीतर का कलाकार अपनी संरचना को मंच पर उपस्थित होते देखने के लिए तृषित था। उनकी अन्य कृतियों की तरह नहीं, बल्कि उनके गीतों को सुनकर ही उसका पूरा आनंद उठाया जा सकता है। उनकी नृत्य नाटिकाओं को मंच पर देखकर ही उनकी भव्य सुंदरता का आनंद लिया जा सकता है। चित्रकला के साथ साथ उनकी कला के यही दो रूप थे--जिन्हें सारे देश ने सराहा, उनसे आनंद उठाया यद्यपि देश के अधिकांश लोग बंग्ला नहीं जानते थे। इस तरह समूचा देश सामान्य तथा दूरद्रष्टा कवि के नेतृत्व में कलाकारों, संगीतज्ञों, नर्तकों के दल का असामान्य प्रदर्शन देखकर मोहित हो गया। यह व्यक्ति जिसे सच्चे अर्थों में जीवन का कलाकार कह कर पुकारा गया, अब एक सृष्टिशील शिक्षक के रूप में देखा गया, इन यात्राओं के अन्य पहलुओं के साथ साथ शिक्षणीय महत्ता बढ़ती गई, लोगों के मन में भारतीय संस्कृति के प्रति अनुराग उत्पन्न कराने में सफल रही जो अब तक़ उपेक्षित या अवांछित पड़ी थी।

बंबई को छोड़कर, इनमें से सबसे पहली सांस्कृतिक यात्रा सिंहल में हुई - इस सुंदर द्वीप के प्रति रवीन्द्रनाथ के मन में सदैव सम्मान का भाव रहा था। इसी यात्रा के समय, सिंहल में रहते हुए उन्होंने 'चार-अध्याय' नामक उपन्यास समाप्त किया, जो उनका अंतिम उपन्यास था। इसका संक्षिप्त नाट्य रूप मंच पर भी बहुत ही सफल रहा। इस शक्तिशाली उपन्यास में उन्होंने अपने पुराने विषय को दुबारा प्रस्तुत किया। मानवीय मूल्यों तथा राजनैतिक आदर्शों के विषय में एक दूसरे परिदृश्य के बारे में उन्होंने 'घरे बाहरे' में भी कहा था। इसका परिपार्श्व था बंगाल का एक गुप्त क्रांति आंदोलन। शौर्य और आतंकवाद की पृष्ठभूमि में प्रेम की विफलता तथा मानवीय मूल्यों का क्रमशः अधःपतन का चित्रण किया गया है। जिन उद्देश्यों से राजनैतिक वीरता को उद्‌बोधित तथा रूपाकार दिया जाता है, उनका विश्लेषण करके लेखक ने अपनी गहन मनोवैज्ञानिक अंतर्दृष्टि का परिचय दिया। इस दुखांत उपन्यास में पराजित आदर्श को बेहद सशक्त और प्रभावी भाषा से व्यक्त किया गया है। इस उपन्यास ने बंगाल में जबरदस्त विवाद एवं आलोड़न पैदा कर दिया और लेखक की बड़ी निर्ममता से भर्त्सना की गई, क्योंकि उन्होंने कई अप्रिय सत्य कहे थे।

1932 से 1936, इन पांच वर्षों के दौरान रवीन्द्रनाथ ने देश के अंदर ही कई यात्राएं कीं तथा देश के बाहर ईरान की यात्रा की। साथ ही उन्होंने कविताओं की सात पुस्तकें दो उपन्यास, एक नाटक तथा पांच नृत्य-नाटिकाओं, 'शापमोचन' (1933) 'चंडालिका',

और 'ताशेर देश', 'चित्रांगदा' और 'श्यामा' (1936) के लिए संगीत संरचना की तथा इनका निर्देशन एवं मंच प्रस्तुति से संबंधित कार्य किया। 'ताशेर देश' को छोड़कर जो उनकी पहले लिखी एक कहानी पर आधारित थी - अन्य चार नाटकों की विषय-वस्तु प्राचीन हिंदू तथा बौद्ध गाथा या आख्यानों से ली गई थी—जिन्हें पहले उन्होंने कविता में व्यक्त किया था। रवीन्द्रनाथ ने इन पुरानी कहानियों का क्षीण आधार लेकर उन पर संगीत और नृत्यरूपी परिधान ही नहीं पहनाया बल्कि उन्हें नाटकीय उत्तेजना के साथ - गहरी मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक सार्थकता—से भी परिपूर्ण किया। तभी से नृत्य नाटिका का यह रूप—जो पूरी तरह न तो बैले था और न ओपेरा; भारत में बहुत प्रचलित हो गया।

उनके दो उपन्यासों—'मालंच' और 'चार अध्याय' (दोनों 1934 में प्रकाशित), नाटक 'बंसरी' (1933) और दो काव्य पुस्तकों—'परिशेष' (1932) और 'विचित्रा' (1933) के विषय में तो पहले ही कहा गया है। शेष पांच कथा पुस्तकों में चार तो गद्य की थीं—इस शैली को उन्होंने पहले कभी कभी प्रायोगिक रूप में प्रस्तुत किया था लेकिन जिसमें वे अब निश्चित रूप से रुचि लेने लगे थे। उन्होंने इसका आरंभ 'पुनश्च' से किया जो 1932 में प्रकाशित 'परिशेष' के तत्काल बाद प्रकाशित हुआ। इन कविताओं को प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा कि यह गद्य-पद्य मिश्रित रूप केवल कविताओं के नियमों—छंद और लय की सीमाओं को नहीं लांघता परंतु गद्य की अबाध गति को अपनाते हुए कविता के लिए एक नए लय एवं ताल की सृष्टि करता है, और जिसके फलस्वरूप यह इसके सीमित क्षेत्र को विस्तृत करने में सफल होता है। इस असाधारण गद्य-रूप को ऊंचा उठाने में उनकी उस समय की मानसिकता भी काफी सक्रिय रही थी—जो दैनंदिन जीवन की साधारण घटनाओं और वस्तुओं के प्रति आकर्षण से बनी थी।

उनकी इस तैयारी की झलक सबसे पहली कविता 'कोपाई' में मिलती है। 'कोपाई' शांतिनिकेतन के एकदम पास बहती हुई एक छोटी-सी नदी है। कवि ने इसके शांत और सीधे-सादे बहाव के साथ पद्म नदी के साथ भयावह महिमा मंडित उद्दाम रूप की तुलना की है—जिसके किनारे उन्होंने अपने यौवन के कई प्रारंभिक वर्ष गुजारे थे। "इस गर्वित नदी का नाम पवित्र ग्रंथों में है, इसके कण कण में गंगा की पवित्र धारा बहती है, वर्षा ऋतु में इसकी आप्लावित लहरें उमड़ पड़ती हैं, सैकड़ों घर-आंगन डूब जाते हैं। लेकिन यह हृदयहीन निष्ठुर अपने गौरव-मद में चूर बहती रहती है। परंतु वृद्धावस्था में कवि अपनी पड़ोसिन 'कोपाई' को पाकर ही तृप्त है। "उसकी बातें जैसे घर की सीधी-सादी बातें हों, उच्च शिक्षितों की तरह नहीं....जैसे संन्यासी बालक अपने तीर-धनुष के साथ इसके ऊपर अपनी इच्छानुसार चलता-फिरता है, इसकी लहरें उसे भयभीत नहीं करतीं, पुआल भरी हाट की ओर जाती बैलगाड़ी आराम से गुजर जाती है। कुम्हार अपने झुके कंधों पर बर्तनों की कांवर उठाये उठती-गिरती सांसों के साथ चला जा रहा है। गांव का पालतू कुत्ता भी उसकी

छाया के पीछे पीछे चला जा रहा है, अपने समय को उसने वैसे ही बांध लिया है जैसे तीन रुपये वेतन पर गांव की पाठशाला में पढ़ाने वाला शिक्षक अपने हाथ में फटा-पुराना छाता लिए धीमी चाल से चला जा रहा है।"

इसमें विभिन्न विषय-वस्तु और विभिन्न मनोदशाओं का समावेश है। गद्य कविता में तीन अन्य ग्रंथ बाद में भी लिखे गए। इनमें से कुछ लघु भाव के, कुछ गंभीर या आध्यात्मिक और कुछ निरर्थक, कुछ दुख भरे, और कुछ वर्णनात्मक, कुछ संगीतमय, कुछ भावनात्मक और कुछ तीखे व्यंग्य सम्मिलित थे। कई संस्मरण भी उनमें थे। कुछ प्रथम पुरुष, एकवचन में लिखे गए--यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि जो कुछ भी प्रथम पुरुष, एकवचन में हो वह संस्मरण आत्मकथा ही हो। इन कविताओं के तीन मुख्य रूप हैं--संस्मरणों की पुनरावृत्ति, स्मृतियों से समृद्ध, पीछे छोड़े हुए दीर्घ पथ की ओर मुड़कर देखने का आग्रह, भावनाप्रधान सीमाओं की विस्तृति तथा सामान्यतया अवहेलित, घृणित, त्याग किए हुए समाज के विधि-निषेधों को पार कर उनके प्रति सहानुभूति का भाव पोषण। तथा यह उनकी एक अदम्य इच्छा थी कि बंग्ला भाषा के शब्द समूहों तथा छंदों को उनकी अंतिम परिणति तक पहुंचाना तथा इनके तथाकथित विरूप स्वरूपों के बीच भी संगीतपरक संरचना की संभावना का पता लगाने का प्रयास करना।

यह समझना कदाचित उचित नहीं होगा कि गद्य कविता शैली की ये चार पुस्तकें, चाहे ये अवरोध हों या प्रगामी या ढंग विकास उनका अंतिम पड़ाव बन गई, जहां वे अपने स्वाभाविक रूप से लौट न पाए। सच बात तो यह है कि जब वे ये गद्य-कविताएं लिख रहे थे, उसी के साथ ही वे पुरानी लेकिन कमोबेश रीतिबद्ध कविताएं तथा शुद्ध पारंपरिक रीति के गीत भी लिख रहे थे। यद्यपि वे अपनी पुरानी रीतियों को छोड़कर नए माध्यम, नए रूपों को निरंतर ढूंढ़ रहे थे, परंतु उन्होंने अपने स्वाभाविक स्वरूप को कभी नहीं छोड़ा, जैसे उनका प्रकृति-प्रेम, इस धरा से प्रेम, जीवन के प्रति प्रेम, और उस रहस्यमयता से प्रेम जो जीवन और मृत्यु के मध्य एक सेतु का कार्य करती है। इसी प्रेम के कारण ही जो समय समय पर अयथार्थ अलौकिक-सा लगता है, वे प्रकृति के सभी रूपों, भावों से, परिचित थे, उनका अंतर्निहित मानवतावाद, उनका विश्व प्रेम, और अपने आसपास के उन सभी प्राणियों के प्रति उनका लगाव तथा धरती की गोद में पल रहे समस्त जीवों के प्रति यहां तक कि उनका प्रेम लगातार बना रहा। यही प्रेम बारंबार उनकी समस्त कृतियों का विषयाधार बना रहा, जो प्रायः छह दशकों से भी अधिक समय तक अनवरत फैलता चला गया।

अपने जीवन के अंतिम दशक में भी, जबकि यह पृथ्वी बड़े क्रांतिकारी ढंग से उनकी अपनी देखी जानी-पहचानी पृथ्वी से पूरी तरह परिवर्तित हो चुकी थी, रवीन्द्रनाथ का प्रेम इसके कृत्रिम रूप को देखकर उससे भयभीत हुए या उससे संकुचित हुए बिना पूर्ववत कोमल बना रहा। बल्कि उससे भी अधिक स्पष्टता से मुखर हुआ--"मैंने प्रेम किया है। कितना

और किस तरह इसका मुझे ज्ञान नहीं है। मैंने इस धरा से प्रेम किया है। मेरी आंखें एकटक मोहाविष्ट होकर इसे देखती रही हैं। भूख और प्यास के बीच भी मैंने इसका अमृत-पान किया है। इसकी धूल में मैंने अपने जीवन की सच्ची सार्थकता पाई है। लांछितों और अपमानितों के बीच मुझे अपनी मुक्ति मिली है।" उनका यह कथन किसी समाजवादी की तरह उत्साह में नहीं कहा गया लेकिन अपने हृदय के गहन अनुरोध के अनुरूप कहा गया। ऐसा लगता है जैसे स्वर्ग में मिलने वाली मनचाही वस्तु उन्हें इसी धरती पर धूल में पड़ी मिल गई हो।

रवीन्द्रनाथ अपने पिता के धर्मानुभव के तले ही पले बढ़े, बड़े हुए, यह एक प्रकार की भगवद्भक्ति है–जिसमें ईश्वर को अपने हृदय की गहनता में ही उपलब्ध किया जाता है। किसी बाह्य या दृश्यमान आकार में नहीं। उनकी धार्मिक कविता (जिसमें उनकी कविताओं में गीत भी सम्मिलित हैं जिनमें भावों की अभिव्यक्ति अपने सच्चे और सर्वोत्तम और शायद सर्वोच्च रूप में विद्यमान है) अपने आराध्य के प्रति एक अटूट परिसंवाद के रूप में आरंभ की गई थी–जो अदृश्य निराकार थे और जो अंततः निराकार ही रहे, परंतु निराकार होते हुए भी विभिन्न उपादानों में उपस्थित थे और विद्यमान होते चले गए और यह कहा जा सकता है कि इस सीमा तक पहुंच गए जहां जो कुछ भी उन्होंने देखा या सुना, वह उस आराध्य देव का ही एक रूप था। जो उन अपादानों से अभिन्न थे उनका आराध्य प्रियतम ही सब कुछ ईश्वरमय हो गया। जो कुछ भी भयानक और वीभत्स था वह उनके दैवी प्रकाश से दीप्तिमान हो उठा।

उन्हें यह ज्ञान चाहे जैसा भी प्राप्त हुआ, दुख की अनुभूतियों से ही मिला। वे कहते थे कि इस (मानव) अस्तित्व की गहन गुहा में इतना घोर अंधेरा है कि उसकी हल्की-सी झलक केवल दुख की मशाल से ही देखी जा सकती है। यह ज्ञान उन्होंने अपने हृदय से अर्जित किया था न कि मस्तिष्क से और न ही कोई संहिता या दर्शन शास्त्र से। इसी कारण वे सभी धार्मिक विश्वासों, परंपरागत औपचारिकताओं से मुक्त रहे। वे केवल इस धरती और इससे पनपने वाली वस्तुओं के लिए अपार प्रेम के प्रति निष्ठावान रहे। जैसा उन्होंने स्वयं कहा कि वे किसी काम को पूरा न कर पाने के बावजूद परितृप्त और प्रसन्न थे। "इस खिड़की के बाहर की धूप-छांव के खेल में ही मेरी चेतना निमग्न रहे, न कोई चाह, न चिंता, न कोई विवाद, न कोई शोक जब तक वह उस विशाल समुद्र में विलीन न हो जाए जिसके छोर पर मृत्यु प्रतीक्षारत हो।"

उनके मानवतावाद का अनुभव उन्हें उपनिषदों के सूक्ष्म विधानों या रहस्यवादी वैष्णव गानों या पश्चिमी दर्शन के उदार मानवतावाद से नहीं परंतु उनके अपने हृदय से ही, अधिक सबल रूप से प्राप्त हुआ था। 'पुनश्च' की एक कविता में उन्होंने एक घटना का वर्णन किया है जो उनकी भावनाओं और मानसिक धारणाओं को प्रतिबिंबित करती है। यह एक

रंगरेजन की कहानी है जो मुसलमान रंगरेजन की लड़की है। शंकरलाल एक विद्वान ब्राह्मण पंडित था जिसके पांडित्य और शास्त्र-चर्चा की बड़ी ख्याति थी। एक बार उन्हें दक्षिण के किसी विद्वान पंडित से सामना करना था। उन्होंने देखा कि उनकी पगड़ी, जिसे वे पहन कर उस वितर्क सभा में जाना चाहते थे, वह गंदी हो गई है, तो वह उसे जसीम रंगरेजन के पास ले गए। जसीम ने अपनी छोटी-सी लड़की अमीना से कहा वह इसे पास वाली नहर से धो कर ले आए। इसे धोने के बाद अमीना ने जब इसे घास पर सुखाने के लिए बिछाया तो देखा उस पर कविता की एक पंक्ति लिखी हुई है। "तोमार श्रीपद मोर ललाटे विराजे" (तुम्हारा यह श्रीचरण मेरे शीश पर सुशोभित है) अमीना अपनी कुटिया की छत से रंगीन धागा खींच लाई और वहीं कविता की दूसरी पंक्ति उस पर काढ़ दी--"परश पाइने ताई हृदयेर माझे"--(इसलिए हृदय उसका स्पर्श न पा सका)। पंडित जब अपनी पगड़ी लेने आया तो इस नई पदपंक्ति को देखकर वह रंगरेज की लड़की की ओर देखता ही रह गया। फिर उसने कहा, "अरी बालिके, तूने मेरे विद्वता के घमंड को हृदय के ज्ञान में बदल दिया। अब मैं राज दरबार जाकर क्या करूंगा? मेरा स्थान तो कहीं और है।"

'पुनश्च' के बाद आया 'शेष सप्तक'। 'पुनश्च' लिखने के बाद भी रवीन्द्रनाथ को लगा कि अभी उनके लिए बहुत कुछ कहना शेष है। और जिसे कागज पर किसी-न-किसी तरह अपनी भावनाओं को व्यक्त करना ही है। वे अपनी पूर्व स्मृतियों में डूब गए, चिंताओं में ध्यान मग्न हो गए। उन्हें लगा कि यही उनकी शेष कविताएं हैं। उनकी पहली कविता पछतावे से भरी हुई है क्योंकि वे उसे ठीक से पहचान नहीं पाए थे (किसे? क्या अपनी पत्नी मृणालिनी को?) जब वह उनके साथ थी। उन्होंने उसके प्रेम और समर्पण के प्रति ध्यान नहीं दिया--उसे स्वाभाविक ही समझा। परंतु अब अपने दुख में उन्होंने उसे अच्छी तरह से जान लिया है। उसे पा लिया है। अपने जन्मदिन (25 वैशाख, बंग्ला पंचांग के अनुसार) पर उन्होंने ध्यानमग्न होकर अपने दीर्घ जीवन का सिंहावलोकन किया--कि इस दौरान न जाने कितनी बार उन्होंने जन्म लिया, कितनी बार उनकी मृत्यु हुई, जीवनरूपी इस माला में न जाने कितने रवीन्द्रनाथ गुंथे हुए हैं। इस पृथ्वी के अतीत की ओर मुड़ कर जब वे देखते हैं, वैभव और गौरव प्रतिष्ठा के खंडहर को छोड़ और कुछ दिखाई नहीं देता। चारों ओर अनित्य भंगुरता ही छाई हुई है, और "इन्हीं के बीच में अपने हृदय की धड़कनों में अनंत की शांति का अनुभव करता हूं।"

एक शाम, रवीन्द्रनाथ अंधेरे कमरे में चुपचाप बैठे थे। उन्हें अपने बचपन के साथी की बहुत याद आ रही थी जिसने उन्हें इतना आनंद दिया था। अचानक सरसराहट की आवाज सी आई और उसकी उपस्थिति का उन्हें बोध हुआ मानो उसकी सांस तक उन्हें छू गई। "क्या तुम अपने पुराने आवास में लौट आई हो--अपने दूसरे आवास से?" उन्हें एक हल्की-सी आवाज सुनाई पड़ी। "मैं किसके पास वापस आऊंगी?" उन्होंने कहा, "क्या

मैं यहां नहीं हूं? क्या तुम मुझे नहीं देख पातीं?" उस आवाज ने कहा, "जो इस पृथ्वी पर मेरा अपना था और हमेशा मेरे बचपन का साथी था, उसे मैं इस कमरे में नहीं देख पा रही हूं।" मैंने पूछा, "क्या वह कहीं नहीं है?" एक हल्की-सी फुसफुसाहट सुनाई पड़ी, "वह वहीं है, जहां मैं हूं। और कहीं नहीं।" यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि उनकी सारी कविताएं ऐसी ही विषादपूर्ण और स्मृति भाराक्रांत नहीं हैं। इनकी विषय-वस्तु वैविध्यपूर्ण और जीवंत हैं।

दो अन्य उल्लेखनीय गद्य कविता संग्रह 1936 में एक के बाद एक जल्द प्रकाशित हुए वे थे–'पत्रपुट' (जिसका अर्थ है – पत्ते की बनी कटोरी) तथा 'श्यामली' (अर्थात गहरी हरी) दरअसल इस शीर्षक से लिखी गई एक सुंदर कविता है जो पृथ्वी को संबोधित है – और अपने अंतिम वर्षों के लिए खासतौर पर बनाई गई मिट्टी की कुटिया को भी उन्होंने यही नाम दिया था। यही घर उनके जीवन के अंतिम दिनों का आवास बना और बाद में महात्मा गांधी जब शांतिनिकेतन आए थे तो यहीं ठहरे थे। इन दो संग्रहों में कई कविताएं अत्यंत सुंदर हैं और इनमें रवीन्द्रनाथ की भाव-व्यंजना अपने सर्वोच्च पर है। उनमें से कुछ गीतधर्मा हैं–भावोच्छलपूर्ण और गंभीर–दार्शनिक और गूढ़ तत्व से भरपूर और कुछ वर्णनात्मक या स्मृतिचारण के रूप में। कुछेक कविताओं में उन्होंने अपनी रोषपूर्ण और आवेगपूर्ण भावनाओं को बेरोक-टोक प्रकट किया है–बाह्य विश्व में घटित हो रही कुत्सित घटनाओं के विरुद्ध। इनमें से एक कविता अफ्रीका को संबोधित है, जिसमें गोरे लोगों द्वारा काले लोगों पर ढाये जाने वाले जुल्मों के खिलाफ उनका अभियोग मुखरित है :–

"उन शिकारियों द्वारा
तुम पर फैला दिये गये हैं
लोगों को जकड़ लेने वाले फंदे जैसे जाल
जिनके खूंखार जबड़े
तुम्हारे भेड़ियों से कहीं ज्यादा तीखे हैं
आंसू और खून से लिथड़ चुकी हैं तुम्हारी जंगली पगडंडियां
जिन पर लुटेरों के कील ठुके बूट
छोड़ गए हैं अपने अमिट निशान
तुम्हारे वंचनापूर्ण इतिहास के साथ।
और समुद्र के उस पार, अनवरत
उनके शहरों में बजती रहीं चर्च की घंटियां
बच्चे अपनी मां की गोद में सुनते रहे उनींदी लोरियां
और तमाम कवि अपने गांवों में करते रहे सौंदर्य का बखान।"

एक दूसरी कविता में रवीन्द्रनाथ मानवतावाद के उत्कर्ष और धर्म द्वारा प्रस्तावित आधारों को बड़ी निडरता से चुनौती देते हैं। उनके लिए उस ईश्वर का कोई महत्व ही नहीं है अगर वह सूर्य के प्रकाश में नहीं दिखता, अस्पृश्यों के हृदय में नहीं विराजता और समस्त बंधनों से मुक्त, निर्बंध नहीं है। उनके लिए सृष्टि संरचना का आदिरहस्य प्रकाश की दीप्ति में है और इसका अंतिम रहस्य प्रेम के अमृत में है। आध्यात्मिक स्तर पर वे उन अस्पृश्यों की जाति से स्वयं को जोड़ते हैं :—

"वे अस्पृश्य हैं, पवित्र मंत्र से अनाभिषिक्त
धर्म के ठेकेदार उन्हें मंदिर के द्वार से बाहर रखते हैं
लेकिन मैं एक कवि हूं—मैं उनके समुदाय का हूं
मेरी कोई जाति नहीं, कोई पवित्र मंत्र नहीं
मेरे फूल उस देवता तक नहीं पहुंचते
जो उनके मंदिर में कैद है
पुरोहित बाहर आकर मुस्कराकर पूछता है—
"क्या तुम अंदर आए थे, क्या तुमने देवता के दर्शन किए?"
"नहीं," मैं बताता हूं।
"क्या तुम्हारी कोई जात नहीं," वह पूछता है।
"नहीं।"
तमाम लोगों द्वारा उपेक्षित
मैं मनुष्यों की मैत्री के लिए आतुर हूं
मैं मनुष्यों का ऐसा समुदाय ढूंढ़ रहा हूं
जिनके मिलन स्थल पर कोई दीवार न खड़ी हो
और न ही कोई पहरेदार खड़ा हो
मुझे बाड़े में बंद मनुष्य नजर नहीं आते
मैंने तो उसे सारी सीमाओं के पार खड़ा पाया है
जहां एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से
और एक धरती दूसरी धरती से
अलग नहीं।"

'शेष सप्तक' और 'पत्रपुट' के बीच 1935 में "वीथिका" प्रकाशित हुई। इसमें कविताएं छंदों में लिखी गई थीं। कुछ गीत भी इनमें सम्मिलित हैं। इसी शैली से उन्हें बहुत प्रेम था और वे बार बार इसी न्यास से लौटकर आए, चाहे जो कुछ भी प्रयोगात्मक रूप से उन्होंने अपनाया हो। कुछ कविताएं इनमें बहुत ही सुंदर हैं—और जैसा कि स्वाभाविक

है--इनमें विविध विषय वस्तुओं और भावनाओं का समावेश है। वे अपने अतीत की सुदीर्घ वीथिका की ओर मुड़कर देखते हैं जिनमें से होकर वे इतनी दूर तक आए थे, हालांकि वे जानते हैं कि वे जिन्हें पीछे छोड़कर आए हैं वे अब वापस नहीं आ सकते--फिर भी उन्होंने जीवन के रहस्यों को समझना चाहा था--और जीवन के उतार-चढ़ाव को भुला देने पर, आनंद और अवसाद को भुला देने पर जिस सुख की अनुभूति होती है उसको अपनाना चाहा था। इनमें से कई प्रेम की कविताएं हैं--जिनमें शारीरिक नहीं, परंतु अप्रत्यक्ष और वासनारहित प्रेम और बिना किसी मूर्त विषय-वस्तु से संबंधित हैं। कवि प्रेम से ही प्रेम करते हैं, अपने प्रेम को वे भूल नहीं सकते। सिर्फ स्वयं को सांत्वना ही दे सकते हैं--"यह वही है और नहीं भी है, इसलिए कोई भार भी नहीं है। इसके बिना ही जीना चाहिए और इसी में इसकी सार्थकता है।" लेकिन एक कविता में दारुण दुख का वर्णन एक 'दुर्भागिनी' के लिए किया गया है। यह कविता 6 अगस्त 1932 को लिखी गई थी। कवि की एक मात्र जीवित पुत्री उस समय जर्मनी में अपने एकमात्र पुत्र की मृत्यु शय्या के पास थी--इसके अगले ही दिन जिसकी मृत्यु हो गई। रवीन्द्रनाथ को पहले से ही इस मार्मिक दुर्घटना का आभास मिला होगा वे स्वयं को जैसे अपनी पुत्री के सामने खड़े हुए कल्पना करते हैं और वे उसकी ओर आंख उठाकर देख भी नहीं सकते। उसकी आंखों के सारे आंसू सूख गए हैं। केवल एक प्रश्न ही रह गया "क्यों, आखिर क्यों?"

मुक्तरूप से, यथेच्छ भ्रमण करने में असमर्थ होकर कवि अपने रहने की जगहों को ही बार बार बदलने लगे, एक घर से दूसरे में। अब उनके मन में आया कि उन्हें मिट्टी के घर में ही रहना होगा। और एक मिट्टी का घर तो बनना ही है, जिस मकान में वे उस समय रह रहे थे उसी के पास संथाल स्त्रियों के दक्ष हाथों से उस नए घर की दीवारों को उठते देखते थे। इसी को उन्होंने 'वीथिका' की एक कविता में अमर कर दिया।

सेमल के पेड़ के नीचे पथरीले रास्ते पर एक संथाल युवती तेजी से चहलकदमी कर रही है : एक सलेटी रंग की मोटी साड़ी उसकी इकहरी काया से लिपटी है, गाढ़ा और कसा उसका लाल आंचल हवा में लहरा रहा है। पलाश के फूलों के जलते तिलिस्म के साथ।

किसी अभिभूत रचनाकार ने एक काले पक्षी को श्रावण के बादल और बिजली की कौंध की परिकल्पित रूपरेखा का निर्माण करते हुए अनजाने में उसे एक युवती का रूप दे दिया होगा, उसके आवेगी पंख के अंदर छुपी हुई फुर्तीली तड़प को महिला की चाल और पक्षी की उड़ान में समानता दिखाते हुए।

वर्ष के समाप्त होने से पहले ही उनके दो नाटकों में से प्रथम 'शरदोत्सव' का शांतिनिकेतन में और 'अरूप रतन' का कलकत्ता में मंचन हुआ। कवि ने इन दोनों में ही अभिनय किया था। केवल इसलिए नहीं कि साधारण जनता उन्हें अभिनय करते हुए देखना

चाहती थी, बल्कि उन्हें अभिनय करना अच्छा लगता था। 1936 के फरवरी महीने में उन्होंने 'शिक्षा' के ऊपर एक व्याख्यान दिया। उसके बाद, वे उनके आरंभ के नाटक 'चित्रांगदा' को नृत्य-गीतात्मक रूप देने में तल्लीन हो गए। वे स्वयं उस नृत्य नाटिका का पूर्वाभ्यास करवाते थे। उनकी पुत्रवधू, प्रतिमा देवी नृत्य-नाटिकाओं के मंचन में उनकी मुख्य सहयोगी थीं।

यही नृत्य-नाटिका (लेखक इसे नृत्य-नाट्य कहते थे) उनकी अन्य सभी नृत्य-नाटिकाओं से अधिक लोकप्रिय रही। यह कलकत्ता में बहुत सफल रही। इसके बाद कवि इस नाट्य मंडली को उत्तरी भारत ले गए। बड़े बड़े शहरों में पैसों से कहीं अधिक लोकप्रियता ही उन्हें मिल पाई—और इस तरह मार्च महीने के शेष सप्ताह में वे दिल्ली पहुंचे। उस समय गांधी जी दिल्ली में ही थे। उन्हें यह देखकर बहुत दुख हुआ कि कवि को उस वृद्धावस्था में जर्जर शरीर लेकर अपने विश्वविद्यालय के लिए पैसा जुटाने हेतु इतनी कठिन यात्राओं का कष्ट उठाना पड़ रहा है। उन्होंने तत्काल 60,000 रुपयों का चेक 'अपने देशवासियों के अर्थ' के रूप में भिजवा दिया। महात्मा ने लिखा, "अब आप अपनी शेष यात्रा को स्थगित करने की घोषणा करके अपने देशवासियों को चिंता मुक्त करें।" गांधी के प्रति रवीन्द्रनाथ का हृदय अभिभूत और कृतज्ञता से भर उठा। लेकिन वे अपनी मंडली के साथ देश भर में घूमने के आनंद से वंचित हो जाने के नाते दुखी भी हुए, क्योंकि इसमें कोई संदेह नहीं था कि वे अपनी कृतियों का मंचन होते देखकर बहुत खुश होते थे। वे स्वयं एक कोने में बैठे रहते थे—किसी निर्देशक की तरह शांत और स्थिर या जैसा एक आलोचक ने कहा—कि अपनी ही कृतियों के प्रामाणिक हस्ताक्षर की तरह।

दिल्ली की यात्रा गांधी जी के उदार मनोभावों और रवीन्द्रनाथ के स्वास्थ्य के प्रति उनकी व्यग्रता के नाते जितना स्मरणीय रही, उतनी ही कष्टकर भी रही—ब्रिटिश सरकार के अनुदार घमंडी व्यवहार से। उस समय दिल्ली ब्रिटिश राज्य की राजधानी थी और सरकार की दमन नीति के विरुद्ध कवि की उन्मुक्त भर्त्सना के कारण पहले से ही सरकार उनसे क्रुद्ध थी। सरकारी व्यवहार किस सीमा तक अनुदार बन सकता है—यह स्पष्ट हो गया जब दिल्ली नगरपालिका द्वारा कवि का नागरिक अभिनंदन करने का प्रस्ताव सरकार द्वारा रद्द कर दिया गया।

दिल्ली यात्रा से लौटकर रवीन्द्रनाथ ने चुपचाप बैठकर आराम नहीं किया, जैसे महात्मा गांधी चाहते थे। वे कलकत्ता की साधारण जन-सभाओं में उपस्थित होते थे—यद्यपि यह उनके अपने नाटकों के देखने से अधिक श्रमसाध्य था। 2 अक्तूबर को शांतिनिकेतन मंदिर में एक विशेष प्रार्थना द्वारा कवि ने महात्मा गांधी के जन्मदिवस पर उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त किया।

इसके बाद वे एक नये नृत्य-नाटिका की प्रस्तुति में लग गये—जो उनकी पूर्वलिखित

कविता 'परिशोध' पर आधारित थी। उन्होंने इसका दूसरा नाम रखा 'श्यामा' (नायिका के नाम पर) कलकत्ता में इसी महीने के अंत में उसका मंचन किया गया। पहले की तरह कवि यहां भी मंच पर उपस्थित रहे।

'श्यामा' की विषय-वस्तु है प्रेमांध अहंकार की मृत्यु—वह अहंकार जो अपने लिए किसी भी सुख का बलिदान करने में संकोच नहीं करता। परंतु अंत में यही प्रमाणित होता है कि स्वयं ही सुख से वंचित रह जाता है। नगर की खूबसूरत गणिका 'श्यामा' परदेसी वज्रसेन से प्रेम करती है। उसे मिथ्या आरोप से कारागार में बंदी बनाकर उसे मृत्युदंड दे दिया जाता है। लेकिन श्यामा उसे बचा लेती है—अपने ही किसी चाहने वाले को मनाकर, जो वज्रसेन के बदले मृत्युदंड झेल लेता है और स्वयं अपने को प्रेम की बलिवेदी पर चढ़ा देता है। परदेसी वज्रसेन कृतज्ञ होकर श्यामा का प्रेमी बन जाता है लेकिन उसे जब यह पता चलता है कि श्यामा ने उसे कितने अमानवीय ढंग से छुड़ाया था—वह लज्जा और घृणा से भरकर श्यामा को त्याग देता है। उसकी नैतिकता श्यामा के हीन कार्य के दंडस्वरूप उपस्थित होती है—जो अपने प्रेमी के प्रति निष्ठावान रहने के बावजूद मानवता के प्रति दोषी हो जाती है।

1937 के फरवरी में रवीन्द्रनाथ ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में अभिभाषण दिया, जो उस विश्वविद्यालय का महत्वपूर्ण आयोजन था, क्योंकि इसके अस्सी वर्ष के इतिहास में यह सबसे पहला अवसर था जब ब्रिटिश वाइसराय या गवर्नर को छोड़कर कोई गैरसरकारी व्यक्ति इस पद पर आसीन हुआ था। और यह भी पहली बार कि यह व्याख्यान बंग्ला में दिया गया—अंग्रेजी में नहीं। रवीन्द्रनाथ ने मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा प्रदान करने की बात को शक्तिशाली बनाने के लिए उस अवसर का अच्छा उपयोग किया।

रवीन्द्रनाथ ने इसके बाद दो और महत्वपूर्ण व्याख्यान दिए एक 'बंग्ला साहित्यिक सभा' में और दूसरा भारतीय संत रामकृष्ण परमहंस की जन्म शतवार्षिकी के अवसर पर कलकत्ता में आयोजित 'धर्म महासभा' में। इसके बाद उन्होंने शांतिनिकेतन में 'चीना भवन' (चीन-भारत अध्ययन का विभाग) का उद्घाटन किया—जो भारत में उस समय तथा अभी भी अपनी तरह का सबसे पहला और अग्रगण्य केंद्र रहा। रवीन्द्रनाथ ने हिमालय के आनंदमय स्थान 'अल्मोड़ा' में गर्मी के दिन बिताए, वहीं पर उन्होंने बंग्ला पाठकों को आधुनिक विज्ञान का परिचय देने के लिए 'विश्व-परिचय' नामक पुस्तक लिखी। रवीन्द्रनाथ को विज्ञान या कहा जा सकता है, कि किसी भी क्षेत्र में औपचारिक शिक्षा नहीं मिली थी। परंतु बचपन से वे पिता के साथ पश्चिमी भारत तथा हिमालय के डलहौजी क्षेत्र में गए थे, जहां उन्होंने खुले तारों भरे आकाश के नीचे खगोल-शास्त्र विषयक व्यावहारिक ज्ञान का पाठ पढ़ा था। इसके कारण उनके मन में भौतिक शास्त्र संबंधी प्रश्नों के उत्तर जानने की उत्सुकता बढ़ी थी। वे इधर-उधर से प्राप्त किताबों को पढ़कर, ज्ञान-पिपासा मिटा लेते थे। उनके

शांतिनिकेतन के विश्वविद्यालय में प्राकृतिक विधा तथा विज्ञान शिक्षा अनिवार्य विषय के तौर पर पढ़ाये जाते थे। अपने जीवन के शेष दिनों में भी वे उच्चतर भौतिक विज्ञान संबंधी किताबों को पढ़ते थे, जो इस पृथ्वी की रहस्यमयता का अनावरण करती थीं। 'विश्व-परिचय' की भी यही विषय-वस्तु थी। उन्होंने यह किताब अपने बंग्ला भाषी पाठकों के लिए लिखी थी। यद्यपि इसमें किसी मौलिक अनुसंधान का वर्णन नहीं है परंतु भौतिक विज्ञान के आधुनिक अनुसंधानों से जो परिणाम निकले हैं उनके विषय में रोचक तथा मौलिक रूप से व्याख्या की गई है--वह बंग्ला पाठकों के लिए लाभप्रद है।

अल्मोड़ा से लौटने के बाद कलकत्ता में उन्होंने, अंडमान जेल में अनशन करते हुए कुछ राजनैतिक बंदियों के ऊपर अत्याचार के विरुद्ध, एक सार्वजनिक सभा में भाषण दिया। 1937 के सितंबर महीने में उन्होंने 'वर्षा मंगल' नृत्य-गीतिका की रचना की तथा उन्हीं के निर्देशन में कलकत्ता में इसका मंचन किया गया। स्वयं कवि भी मंच पर उपस्थित थे। वे प्रकृति की सभी मुद्राओं से प्रेम करते रहे, यहां तक कि प्रचंड गर्मी, धूल भरी आंधी ने भी उनकी कविताओं और गीतों में अमरत्व प्राप्त किया। लेकिन 'वर्षा' ऋतु उन्हें सर्वाधिक प्रिय थी। शैशवावस्था में, उन्होंने सबसे पहले जिस कविता का झंकार सुना था--वह थी बंग्ला में शिशु कविता--''जल पड़े, पाता नड़े।' इस शाब्दिक ध्वनि तथा प्रकृति की झंकार, एवं पत्तियों पर जल की बूंदों से पत्तियों की थरथराहट उन्हें सदा आनंद विह्वल किया करती थी।

शरद ऋतु भी उन्हें भाती थी, जब वर्षा से धुले आकाश में मेघ दिशाहीन इधर उधर उड़ रहे हों। परंतु 1937 की शरद ऋतु में एक अशुभ घटना उनकी प्रतीक्षा में थी। 10 सितंबर की शाम--जब वे अपनी कुर्सी पर बैठे हुए थे, एकाएक मूर्च्छित हो गए। उनकी बीमारी का थोड़ा-सा भी आभास किसी को नहीं मिल पाया। कलकत्ता से विशेषज्ञ चिकित्सकों के आने के पहले, लगभग अड़तालिस घंटों तक उनकी बीमारी का पता भी चल नहीं पाया और तब तक वे मूर्च्छित अवस्था में ही पड़े रहे। उस समय शांतिनिकेतन में टेलिफोन नहीं था इसलिए विशेषज्ञ चिकित्सकों को कलकत्ता से बुलाने की खबर भिजवाने में भी बहुत समय लग गया। इस समय कवि अचेतन अवस्था में जीवन तथा मृत्यु के बीच जूझ रहे थे। सौभाग्य से उनकी चेतना लौट आई और धीरे धीरे वे फिर से स्वाभाविक जीवन व्यतीत करने लगे। उनकी यह अचेतन अवस्था ऊपर से निष्क्रिय लगने पर भी भीतर से बहुत सक्रिय थी। जीवन और मृत्यु के उस सीमांत प्रदेश का यथारूप वर्णन कवि ने अपनी कविताओं की श्रृंखला में उपस्थित किया, जो अपेक्षतया बहुत छोटी केवल 18 कविताओं की एक श्रृंखला थी। परंतु उनकी कविता-जीवन के सर्वोच्च शिखर पर आरोहण के निदर्शन के रूप में सामने आई थी। अर्ध चेतनावस्था की प्रगाढ़ अनुभूति से उभरी ये कविताएं इतनी सघन और सधी हुई थीं मानो भाग्यश्री ने स्वयं अपने हाथों उनका तड़ित उपचार किया

था--जिसके उपरांत उन्होंने अपनी गंभीर व्यथा के शक्तिशाली आघात को अपनी कविताओं में वहन किया हो। इन पर अस्वस्थ मन का चिह्न मात्र नहीं था। न कोई डर, न कोई असंतोष। उनका मन पहले से भी अधिक मननशील और स्फूर्तिमय था। उनकी चेतना चेतन-अचेतन के सीमावर्ती क्षेत्र में अपहृत होने लगी थी। जहां यह परिचित धरती की सीमा भी मिट गई हो--जहां से उस महाशून्य के उस पार देखने के लिए आत्मा विवश रही हो, जो एक ही समय अंधकाराच्छन्न तथा प्रकाशमय हो। जहां न दिवस हो न रात्रि, उस संकटापन्न तथा उत्तेजनापूर्ण यात्रा के आवेगपूर्ण आनंद से उल्लसित--ये कविताएं, 1938 में 'प्रांतिक' नाम के उपयुक्त शीर्षक से प्रकाशित हुईं।

"ब्रह्मांड की अंधेरी गुफा में से मौत के संदेशवाहक के गुप्त कदम बाहर निकल रहे थे" होश में आने पर पहली कविता में रवीन्द्रनाथ ने इस तरह उस अचानक आक्रमण को बताया। "दिमाग के खाली स्थानों में जो धूल की परतें जम गई थीं, वह पीड़ा के तेजाब से धुल और बह गई थीं, और गहरी मूर्च्छा के भारी पर्दे के पीछे खामोशी से आत्मा की निष्ठुरता से शुद्धि हुई।" यह रूपकालंकार एक कविता से दूसरी कविता तक बदलता रहता। "मैंने देखा--अपनी थकी-हारी सचेतन भरी शाम में--मेरा शरीर उस अंधेरी नदी में तैर रहा है, विचार और अनगिनत पीड़ा से लदा हुआ... काया वैसे ही छाया में विलीन होती जैसे कि किसी के सपने अंधेरे की स्याह हथेली से पुंछ जाएं। एक बिंदु पर जाकर पिघल जाती है और बिना अंत के उसके अंधेरे में गायब हो जाती है...।" और एक बार फिर "जब एक एक करके मंच का सारा प्रकाश बुझ जाता है और प्रेक्षागार खाली हो जाता है, मेरा दिमाग कुंद-सा हो गया था, शांति के आदेश पर" उस नींद की तरह जिसके सपने अंधेरे की स्याह-काली हथेली ने मिटा दिए। मंच पर अपनी उपस्थिति के लिए मैंने जो सिंगार किया था वह पर्दे के उठने से कुछ भी नहीं था। मंच पर पर्दा हटने के बाद भी कुछ भी नहीं था। मैंने जितनी भी युक्तियां अपनाईं, जनसाधारण पर प्रभाव डालने के लिए मैंने जो तड़क-भड़कपूर्ण तैयारी की थी, वह सब हटा दी गई...।" पर उसके लिए कोई पछतावा नहीं है, पर उसके होने की सुदूरवर्ती सीमा को देखा है और आश्चर्यचकित है।

ये सारी की सारी कविताएं इतनी आत्म-अन्वेषणात्मक या आत्म-विश्लेषणपूर्ण नहीं थीं। इस क्षीण गट्ठे की आखिरी दो कविताएं यूरोप पर मंडराती हुई उस त्रासदी से जुड़ी थीं जो बहुत जल्द उसे घेरने वाली थी--उन्हें जिनमें उनकी जागरूकता पूरी तरह दिखाई देती है। जैसा कि रवीन्द्रनाथ ने एक में कहा था और जिसका बाद में उन्होंने खुद ही अंग्रेजी में अनुवाद किया, "जब मेरा मस्तिष्क विस्मृति की काली गुफा से छूटा और सीमा पार करनेवाले आश्चर्य में जगा, उसने अपने को ज्वालामुखी की नरकाग्नि में पाया जो कि मानव की तरफ अपमान का दमघोंटू धुआं फुहारे की तरह छोड़ रहा था... उसकी एक तरफ विद्रोही बहशीपन और नरमेध का फिक्कड़पना था तो दूसरी तरफ अपने ही भार से झुकी छोटी

छोटी शक्तियां... ।" वह गुस्से में है और कहर ढाना चाहती है, उस नरभक्षी पर जिसकी भूख न तो औरतों को बख्शती है और न बच्चों को। लेकिन किसी को अभिशाप देना उनके स्वभाव में नहीं था। दरअसल यह विदेशी था, और वह यह जानता था कि इतनी बर्बादी अपने आप में जंगली और निरर्थक थी। वे शांति, प्यार और सहानुभूति के शब्द बोलना चाहते थे लेकिन उन्हें लगता था कि वे इससे कहीं ज्यादा असफल होंगे। 'प्रांतिक' की सबसे आखिरी और सबसे छोटी कविता में, जो 1937 के क्रिसमस के दिन लिखी गई थी, में उन्होंने कहा,

> "चारों ओर सांपों ने अपने फन फैला रखे हैं
> और जहरीली फुंकार छोड़ रहे हैं
> शांति के शब्द कोरे उपहास जान पड़ेंगे।
> इससे पहले कि मैं विदा हो जाऊं
> उनकी प्रशंसा करने दो, जो कई घरों में
> इस दानव से जूझने की तैयारी में जुटे हैं।"

और तब भी उसके थोड़ी देर बाद वे लिखने वाले थे कि हालांकि उन्होंने दुनिया में बहुत अत्यधिक बुराई और पीड़ा देखी है, आदमी की आत्मा को आदमी से ही जहर पिलाते देखा है, सृष्टि में जो हृदय में एकता का सुर है, उसे उन्होंने सुना है; आंधी भरी धूल और शोर में उसने शाश्वत शांति का स्वर सुना है। रवीन्द्रनाथ की कविताएं केवल इसलिए नहीं कि ये मात्र कविताएं हैं बल्कि वे इसलिए याद की जाएंगी कि इनमें विरोधी स्वरों को भी विवादास्पद स्वीकृति मिली है, जिसकी वजह से इनमें इतनी समृद्धि, विविधता और कभी समाप्त न होने वाली ऊर्जा समाई है। वे अपनी प्रत्येक मनोदशा और प्रस्थानों के प्रति सच्चे थे जिनका उन्होंने अनुभव किया था, और यह भावप्रवण सच्चाई थी, जिसने उन्हें स्वयं अपने को चुनौती देकर, खुद अपने आपको उलंघ कर आगे बढ़ जाने का एक नैरंतर्यपूर्ण गुण प्रदान किया था, जो कि महात्मा गांधी में भी था।

जबकि कवि के स्वास्थ्य में सुधार दिख रहा था उनके इलाज के लिए उन्हें कलकत्ता ले जाया गया। गांधी और नेहरू जो पहले से ही वहां किसी राजनैतिक सम्मेलन के लिए पहुंचे हुए थे, उनसे मिले। 1 जनवरी 1938 में शांतिनिकेतन में लॉर्ड लोथियन और ब्रैबोर्न का स्वागत करने के लिए वे काफी स्वस्थ हो गए थे। लेकिन जैसे ही वसंत आया वे फिर से गाने की चहल-पहल में फंस गए और अपने एक नाटक 'चांडालिका' (अछूत कन्या) को नृत्य नाटिका में रूपांतरित करने लगे। यह उनकी सबसे शक्तिशाली और मर्म को छू लेने वाली नृत्य-नाटिकाओं में से एक थी, जो कि मार्च में कलकत्ता में मंचित हुई–जिसके अंतिम मंचन में लेखक स्वयं मंच के कोने में बैठे थे। अपनी गहरी अंतर्दृष्टि और सहानुभूति

से महात्मा यह समझ चुके थे कि कवि से यह आशा करना बेकार था कि वे अपने उस पुराने आश्वासन से चिपके रहेंगे कि शहरों में मंचन के लिए अपने स्वास्थ्य को जोखिम में नहीं डालेंगे। अपने विद्यालय और विश्वविद्यालय के लिए कोष इकट्ठा करना एक बहाना या ज्यादा से ज्यादा एक प्रेरणा मात्र थी; सबसे जरूरी चीज थी—कलाकार की रचना और अपनी रचना का मंच पर साक्षात्कार।

उनकी गर्मियां पूर्वी हिमालय की गोद में बसे एक छोटे-से शहर कलिम्पोंग में बीतीं। यहां उनके बेटे का एक घर था। वहां उसके जन्मदिन पर उन्होंने एक भव्य कविता लिखी जो कि उनकी कविता की नई पुस्तक 'सेंजुति' (सांध्य-दीप) की शुरुआत थी और साल के अंत में प्रकाशित हुई। वे अभी भी अपने संक्रमण प्रदेश के अनुभवों से सहमे हुए थे पर जीवन का सम्मोहन फिर से उनको जकड़ रहा था। नीचे कवि की कविता के अंग्रेजी रूपांतर की पंक्तियां अनूदित-उद्धृत हैं—

> ''मेरा जन्मदिन !
> जब मौत का पारपत्र मेरे हाथ में है
> वह उबर चुका है अपने गीतों से
> रिक्तता की खाई में
> कुछ देर सांस लेने के लिए, अस्तित्व के प्रान्तिक में
> घिसी हुई माला से गिर चुके हैं
> पुराने सालों के मोती
> और अपने नवीनतम जन्मदिन के साथ
> दिनों की गिनती शुरू होती है
> एक नए जन्म जीवन की।''

कवि इस वर के आकलन से परे मूल्य से सावधान, अस्थायी तौर पर ही सही, प्रार्थना करता है—

> ''मां वसुंधरे ! क्षमा करो,
> मेरा जीवन जन्मा है मृगतृष्णा से, जलती पिपासा से
> जो सुदूर क्षितिज तक वापस जा सकता है
> और मेरा गंदा भिक्षापात्र धूल में लोट रहा है
> अब तक जमा कचरे के साथ
> जैसे ही मैं अनदिखे तटों की तरफ बढ़ता हूं
> लेकिन मुझे पीछे मुड़कर देखने न दो लोलुप दृष्टि से
> जीवन के भोज के बचे-खुचे अंश पर।''

रवीन्द्रनाथ कलिम्पोंग से मंग्पू गए, दार्जिलिंग के नजदीक पर्वतों में सरकारी सिनकोना के पौधों (जिससे कुनैन निकाली जाती है) के निर्देशक की पत्नी के घर कुछ दिनों तक मेहमान बनकर, जो कि एक युवा कवयित्री थीं और उनकी प्रशंसक और भक्त भी। वहां कुछ कविताओं के अलावा उन्होंने बंग्ला भाषा पर वैचारिक लेख लिखा जो कि बाद में 'बंग्ला भाषा परिचय' के नाम से प्रकाशित हुआ। बंग्ला भाषा का अध्ययन, उसकी रचना और शब्दों के उच्चारण का तरीका, उसके लोक साहित्य संसार और साहित्यिक प्रयोग का उनका पुराना शौक था और इस क्षेत्र में अन्वेषण उनकी अनोखी अंतर्दृष्टि के पर्याप्त साक्षी देते थे। उनके साथ काव्य रचनागत प्राचुर्य और आलोचनात्मक विश्लेषण, रोमानी आदर्शवाद और ठंडे तथ्यों के वास्तविक मूल्यांकन हमेशा हाथ में हाथ डाले चलते थे। अपने दादा के शानदार साहसिक कारनामे और पिता के कठोर व्यावहारिक आदर्शवाद, लेकिन काफी दूसरे ढंग से उनमें रच बस गए थे।

रवीन्द्रनाथ ने नारी-संबंधी चिंता और धारणा को गर्मजोशी से लिया, कलिम्पोंग में जहां उनकी बहू ने उनकी देखभाल की और मंग्पू में जहां उन्होंने आराम से विश्राम किया। उनकी मंग्पू की मेजबान ने लगभग बोस्वेलियन निष्ठा से उनकी और अपने घर के दूसरे सदस्यों से बातचीत तथा हल्के-फुल्के विनोद को रिकार्ड किया था। जब उनका यह संस्मरण छपा तो यह रवीन्द्रनाथ की हाजिर-जवाबी, हंसी-मजाक और गर्मजोशी से भरे उत्तरों का एक बेहतर और सच्चा दस्तावेज था।

रवीन्द्रनाथ जुलाई के शुरू में शांतिनिकेतन वापस आ गए। एकदम उपयुक्त समय पर ताकि वर्षा का स्वागत कर सकें जिसे वे बहुत चाहते थे। जापानी कवि योनो नोगुची के साथ उनका कभी दुखद पत्राचार हुआ जिनके वे पूर्व प्रशंसक थे और जो एक बार पहले भी शांतिनिकेतन में स्नेहपूर्ण और उत्सवपूर्ण स्वागत पा चुके थे। योनो नोगुची ने उनसे प्रार्थना की थी कि जापान चीन में जो कुछ कर रहा था, वह एशिया की आजादी के लिए था। रवीन्द्रनाथ यह उत्तर देने को उत्तेजित हो उठे थे, "तुम उस एशिया के बारे में सोच रहे हो जो नरमुंडों से बने स्तंभ पर खड़ा होगा। जैसा तुमने कहा था, मैं भी एशिया के संदेश में विश्वास करता हूं पर मैंने कभी यह सपना नहीं देखा था कि ये कुकृत्य उनसे मिलाये जाएंगे जिन्होंने तैमूरलंग के दिल में उत्प्रेरणा दी होगी--इतने भयंकर नरमेध के लिए तुमने अपने पत्र में... 'एशिया के लिए एशिया' का जो सिद्धांत प्रतिपादित किया है, वह राजनैतिक कालाबाजारी के एक बिचौलिये की तरह है--जिसमें क्षुद्र यूरोप जैसे सारे अवगुण मौजूद हैं, जो मैंने छोड़ दिए हैं और यह मानवता ही है जो हमें राजनैतिक बंधनों और विभाजनों से अलग रखती है।"

रवीन्द्रनाथ को जापान बहुत पसंद था लेकिन अब वह उनके लिए एक गहरी मनोव्यथा और अपमान की जगह थी। वह देश जो एक बार एशिया में नए सूर्योदय का शंखघोष

करता था वह पूर्व में लोक-कंटक की तरह व्यवहार करे। उसके फौजी दस्तों और खून के प्यासे नायकत्व में बुद्ध का जैसे उपहास किया गया था। इसी मनोव्यथा में उन्होंने एक आहत लेकिन व्यंग्यपूर्ण कविता लिखी, जिसमें से कुछ पंक्तियां नीचे उद्धृत हैं–

"वे सफलता के लिए प्रार्थना करते हैं
इसके लिए उन्हें रोना और सुबकना है
अपने इस जागरण में, अपने स्नेह बंधन छिन्न-भिन्न कर रहे हैं
ध्वस्त घरों की राख पर पताकाएं लहराते हैं
और इस तरह भगवान बुद्ध—महाकरुणा के मंदिर तक—प्रयाण करते हैं।
उनकी शुभकामनाओं का दावा जताते
अब की दुंदुभि का शोर-तीव्र हो रहा है
और धरा कांप-कांप उठती है।"

रवीन्द्रनाथ के मस्तिष्क के कई प्रस्थान थे--जिनमें कई गाड़ियां एक साथ सक्रिय रहती थीं। वर्ष 1937 में मौत से जूझने के पहले और बाद का एक ऐसा भयावह अनुभव था कि इस अवधि में जो भी प्रकाशित हुआ--उसे पढ़ने से लगा जैसे हृदय के रक्त से लिखा गया हो, उनकी चित्रकारी भी अलौकिक विलक्षण दृश्यों या आकृति को हास्यपूर्ण और अद्‌भुत रूप प्रदान करती थी और जो वे लिख रहे थे वह भी हास्य-विनोद से भरा संवाद होता था, जो आनंद और चुहल से चमक रहा होता था। लोकोक्तियों और मुहावरों से भरा यह लेखन बालक और वृद्ध दोनों के लिए ही उपभोग्य था, क्योंकि यह उतना ही सरल था, जितना कि विवेकपूर्ण। 1937 में ऐसी कृतियों की एक श्रृंखला-सी प्रकाशित हुई–"खापछाड़ा" (बेतुकी कविताएं) 'छंदेर छवि' (छंद में छवि) और एक किताब, जिसमें गद्य कहानियां और किस्से थे, 'शे' (वह) सब एक ही साल में। 'प्रहासिनी' 1939 में सामने आई जिसमें हास्य और विनोदपूर्ण कविताएं थीं। और इनमें भी ज्यादातर आजकल की युवतियों के प्यार को चिढ़ाने वाले रवीन्द्रनाथ को बच्चों से बकबक करना अच्छा लगता था। उनके अंदर एक बेतुके और कल्पनाशील का दिमाग था जो बच्चों के लिए अजूबा और खुशी से भरा था और उन्हीं के लिए रवीन्द्रनाथ ने कई छोटी और बेतुकी कविताएं लिखीं थीं और साथ ही, गद्य में कई काल्पनिक कहानियां। उनको अन्य किसी और माध्यम से प्रस्तुत करना मुश्किल था लेकिन उनका लिखा, उनकी शांतिनिकेतन में नन्हें शिष्यों के लिए लिखी 'हुमायूं कबीर' शीर्षक वाली कविता की इन पंक्तियों से पता लगाया जा सकता है।

"एक रात मैंने एक अनोखा सपना देखा, बीनू मुझे बुला रहा था, 'उठो और देखो क्या हो रहा है।'

"मैं उठकर बैठा और देखा कि कलकत्ता लड़खड़ाते कदमों से बढ़ता चला आ रहा है और हजारों हजार रोशनियां और कड़ियां एक-दूसरे को धकेल रही हैं। ईंटों से बनी इमारतें गैंडों की तरह आगे बढ़ रही थीं जबकि दरवाजे और खिड़कियां बंद और खुल रहे थे। गलियां विशालकाय अजगरों की तरह बढ़ती चली आ रही थीं और उन पर गाड़ियां और ट्रामें गिर रही थीं। दुकानें और बाजार शोरगुल में डूबे थे और उनके ऊपर छतें एक-दूसरे से नशे में टुन्न शराबी की तरह लड़-भिड़ रही थीं। हावड़ा ब्रिज एक विशाल बिच्छू की तरह रेंग रहा था और हैरिसन सड़क उसके पीछे पीछे घिसट रही थी। स्मारक लपलपा रहा था जैसे कोई पागल हाथी हवा में अपनी सूंड हिला रहा हो। हमारा स्कूल पागल-सा आगे भाग रहा था और गणित और व्याकरण की किताबें उससे तेज। मानचित्र दीवार पर ऐसे फड़फड़ा रहे थे मानो चिड़ियां अपने पंख फड़फड़ा रही हों। घंटियां बिना रुके बज रही थीं किसी घंटी की चिंता किए बिना।

"करोड़ों लोग चिल्ला उठे-- 'इस पागलपन को रोको। अरे भाई, तुम कहां और क्योंकर जाना चाहते हो?' रफ्तार के नशे में चूर, कलकत्ते को इन बातों की परवाह नहीं। क्योंकि उसकी नाच की चाह ने खंभों और दीवारों तक को बेचैन कर दिया था।

"मैंने अपने में सोचा, 'क्या होगा अगर कलकत्ता सीधे बंबई चला जाता है? अगर वह दिल्ली, लाहौर या आगरा जाना चाहता है तो हमें उसके सिर पर एक पगड़ी और पैर में जूते डालने होंगे। और अगर वह इंग्लैंड भागना चाहता है तो ये सारे लोग टोपी, कोट और बूट वाले अंग्रेज बन जाएंगे'।

"तभी एक धमाका हुआ और मैं जाग गया। कलकत्ता हमेशा की तरह कलकत्ता में ही था।"

उनकी तीन गंभीर पद्य कृतियां 'सेंजुती' के बाद आईं 'आकाशदीप' (1939) 'नवजातक' (1940) और 'सानाई' (शहनाई 1940)। इन कविता संकलनों में 'प्रांतिक' की विषादपूर्ण श्रेष्ठता नहीं थी, क्योंकि अब सीमाप्रदेश की स्मृतियां संत्रास और सौंदर्य का परिवेश थम चला था और कवि एक बार फिर धरती की नर्म बांहों में था। विस्मयकारी उत्कृष्टता का विवेक बाद में लौटा जब अभिव्यक्ति फिर से विषादपूर्ण उत्प्रेरण की ऊंचाइयों को छू लेने को होती। इस समय वे उनके लिए धरती पर बचे सामान्य दृश्य और श्रव्य को देखकर बड़े आराम से आश्वस्त हो रहे थे और उनका आनंद उठाते प्रसन्न थे। ज्यादा कुछ जीने की पुरानी खुशी में नहीं रखा था। रिक्त प्रकोष्ठ में दीप जलाने का भला क्या लाभ? इससे बेहतर था कि वह आकाश की तरफ प्रकाश करता, जहां उसकी पुरानी स्मृतियों ने तारों के बीच अपना वह पथ खो दिया था जिसे उन्होंने अपने संपूर्ण जीवन में देखा था। हो सकता है कि यह दीप ही स्मृतियों को धरा तक उतार लाए। इसी तरह उन्होंने इस कृति के शीर्षक को पहली ही कविता में समझाया। उनकी प्रसन्नता और शांति

पुनर्एकत्रित करने में थी। उनकी कई कविताएं स्मरणशील हैं लेकिन वे किसी तरह की आत्म पीड़ा और रुग्णता से मुक्त थीं।

चैत्र के महीने में जब आम के पेड़ों पर फल लगते हैं वे सुबह अपनी चाय पी रहे हैं। तीन कच्चे आम देखकर उनका मस्तिष्क फिर से बचपन की यादों में खो जाता है जब अंबिया एक ऐसी "सोने की चाबी होती थी जो दिन भर की मस्ती का रहस्यपूर्ण कमरा खोलती थी।" उन्हें कच्चे आम अच्छे लगते थे और वहां तक पहुंचने के लिए वे कच्चे आम चुपके-से उठाते और उसे भेंट कर देते। पेड़ों पर चढ़ना मना था इसलिए वे पेड़ के नीचे बैठकर हवा के तेज झोंके का इंतजार करते ताकि कुछ कच्चे आम नीचे गिर जाएं। पहली बार जब वे उसके लिए कच्चे आम ले गए थे तो उसने कहा था, "तुम्हें यह लाने को किसने कहा था?" बालक ने सिर झुकाकर कर कहा था, "किसी ने नहीं।" और टोकरी उसके कदमों में छोड़कर चुपचाप चला गया। एक दिन जब वह आम उठा रहा था तो एक मधुमक्खी ने काट खाया। उसने कहा, "तुम्हें ऐसा करने की जरूरत नहीं है।" वह चुप रहा लेकिन आखिर में उसने उसकी मित्रता जीत ली। उसने एक सोने की अंगूठी दी जिस पर कुछ मधुर संदेश अंकित थे। गंगा में नहाते समय वह उसकी उंगली से फिसल कर खो गई। कच्चे आम अभी भी पेड़ से गिरते हैं लेकिन उन्हें उठाने के लिए अब उनके पास वैसा उत्साह नहीं था। "वह ताला अब वहां नहीं रहा और कुंजी उसमें ठीक से लगती नहीं थी।"

अपनी दादी से सुनी छोटी कविता उन्हें फिर याद आती है, "पालकी में बैठी दुल्हन आती है, उसके गले में मोतियों की माला और पांवों में सोने की पायल है" तब से वे उस दुल्हन को ढूंढ़ रहे हैं जो उन तक पहुंचने के पहले तारों के बीच खो गई।

कविताओं का अगला संकलन था–'नवजातक' (नवजात) जो कवि की विशिष्ट मनोदशा को दर्शाता है, पूरी तरह पौरुषपूर्ण और आसपास की दुनिया में जो हो रहा है, उससे अनिवार्य तौर पर जुड़े रहना। इन कविताओं का परिचय कराते समय उन्होंने लिखा कि उनका काव्य समय समय पर और कई बार मौसम के अनुरूप बदलता रहता है। उन्हें स्वयं इसका पता नहीं चलता। ये कविताएं उनके आस-पास पैदा होने वाली नई पीढ़ी के साथ संवाद थीं। यह बताना यहां जरूरी है कि ये कृतियां अलग अलग चरणों में नहीं लिखी गई थीं, बल्कि एक पथ और एक जैसी मनोदशा या अवधि की हैं। कई कविताएं जो अलग अलग संकलनों में प्रकाशित हैं, दरअसल एक साथ लिखी गई थीं। उदाहरण के लिए–'नवजातक' की पहली कविता जिसमें वे नई पीढ़ी का स्वागत करते हैं, अगस्त 1938 में लिखी गई थी लेकिन प्रकाशित 1940 में हुई। एक भावदशा से दूसरी भावदशा में बदलाव यहां तक कि एक लहर का दूसरी लहर में लय त्वरित गति से होता था और कई बार तो एक ही दिन में कई कई बार। इन अलग अलग भावदशाओं में लिखी कविताएं बाद

में अलग की गईं और विभिन्न कृतियों और संकलनों में प्रकाशित हुईं। 'नवजातक' की कविताएं दूसरों की अपेक्षा कम आत्मगत थीं जो आसपास की दुनिया में उनकी जिज्ञासा प्रदर्शित करती हैं। इन कविताओं में प्रयोग किए गए विषय और रूपक इन्हें वस्तुगत बनाते हैं–रेडियो, ट्रेन, स्टेशन, हवाई जहाज, हिंदुस्तान, राजस्थान वगैरह।

वह पूर्व उद्धृत कविता जिसमें जापानी सैनिक करुणामूर्ति बुद्ध की प्रार्थना का मजाक उड़ाते हैं–उसी संग्रह में से थी और जनवरी 1938 में लिखी गई थी। संकट और आक्रमण का जो वातावरण सुदूर पूर्व और यूरोप में मंडरा रहा था उसके बेजा इस्तेमाल के चलते हवाई जहाज को तबाही का यंत्र बनाकर कवि ने मनुष्य के इस आविष्कार का विरोधी बना दिया था। अपनी 'पक्षी-पुरुष' शीर्षक कविता में रवीन्द्रनाथ बड़ी करुणा से कहते हैं कि आक्रमण के इस दूत ने उस स्थान में घुसपैठ की है जो भगवान ने पक्षियों के लिए सुरक्षित रखी थी। कविता कुछ इस तरह समाप्त होती है, "इस दुखी धरती की प्रार्थना सुनो–इन गहरे हरे जंगलों को फिर से पक्षियों के गानों से प्रमुदित होने दो।"

दूसरी तरफ मांग्पू में हिमालयी सुबह की हल्की ठंड में अपनी आराम कुर्सी में आराम करते वे उस संगीत से प्रसन्न होते हैं जो उनका रेडियो समंदरों के पार से लाता है। एक विदेशी युवती विदेशी सुर में गाती है। यह संगीत पर्वतों, नदियों और सागरों पर से तिरता आता है और बूढ़े होते कवि के स्वच्छंद हृदय में संस्पर्श जगा जाता है मानो कोई नया 'मेघदूत' प्रेमभरा संदेश लाया है। इस कविता का शीर्षक है–'साढ़े नौ बजे'। 'रात की रेलगाड़ी' शीर्षक से लिखी गई कविता में लगता है रेलगाड़ी जीवन का ही जीवंत बिंब है, अंधेरे में सरकती, डिब्बे में सोये पड़े लोगों से खचाखच भरी, अंतहीन की तरफ बढ़ती कोई अंतहीन यात्रा। कुछ कहते हैं, "यह एक मशीन के अलावा कुछ भी नहीं, और फिर भी उस अंधे हाथ को वे अपना जीवन सौंप देते हैं। अजनबी होते हुए भी वे उस पर विश्वास करते हैं, और अपने बिस्तर लगाकर सो जाते हैं और दूर सुबह का सपना देखते हैं।" 'स्टेशन' नामक दूसरी कविता में वे प्लेटफार्म पर आते-जाते यात्रियों की भीड़ को देखकर खुश होते हैं। कुछ लोग रेलगाड़ी में चढ़ जाते हैं, कुछ से यह छूट जाती है और वे रोने-बिलखने लगते हैं और कुछ सब्र से इंतजार करते रहते हैं। यह एक चित्र है जो हमेशा से बनता और बिगड़ता रहा है। एक स्पर्श से पैदा हुआ और दूसरे से मिट जाने वाला। कुछ छायाएं इस तरफ से तैर रहीं तो कुछ छायाएं उस तरफ से बाहर निकल रही हैं। वह भी सचमुच, जीवन की तरह है।

एक दूसरी सुंदर और सशक्त कविता में वे पूछते हैं, इस ब्रह्मांड में, इस आश्चर्यजनक और निरर्थक प्रतीत होती ऊर्जा का क्या कार्य हो सकता है, जैसा कि मनुष्य के मानस और जीवन में होता है। और अंत में हर चीज घुलकर उस रिक्त स्थान पर चली जाएगी, जैसे खाना खत्म होने पर उपेक्षित बर्तन? क्यों? इसका कोई उत्तर नहीं है और कवि कोई

आश्वासन देकर प्रश्न को ऐसे ही अनुत्तरित छोड़ देता है, उस खाली स्थान को जैसे वह था। इस कविता का यह शीर्षक उपयुक्त ही है—'क्यों?'

'सानाई' (शहनाई) नामक कृति की कविताएं जो कि इस क्रम में बहुत जल्दी आ गईं—विषय, भावदशा और शैली में सर्वथा अलग हैं। शहनाई एक परिष्कृत भारतीय वाद्य है, जिसका दर्दभरा सुर एक अजीब लय पैदा करता है, जैसी कि इस किताब की मधुर मर्मभरी कविताएं। कुछ 'आधुनिक बुद्धिजीवी' बंगाली आलोचकों ने कवि में इस बात की कमी पाई है कि वे इस उम्र में भी इतने 'नर्म' हैं, कुछ ऐसे ही आधुनिकों और बुद्धिजीवियों ने आश्चर्य व्यक्त किया है कि इस परिपक्व वय में भी कवि ने इतने सुंदर बोल लिखे हैं जिनमें अभी भी ताजगी भरी है, भले ही इनका स्वाद अलग है। लेकिन इस भावदशा में भी कवि बड़ी चतुराई से अपने मसीहा, धर्म-प्रचारक और विद्वान की भूमिका से अलग हटकर यही चाहते हैं कि वे श्रव्य और दृश्य की सीधी-सादी प्रसन्नताओं को भोग सकें, वे अपने आपको सपनों में डुबोना चाहते थे, पर बाहर चल रहे तूफान की क्रूर दस्तक को ज्यादा देर तक नहीं रोक सकते थे। यह परिहास वे बड़े नाटकीय और आश्चर्यजनक ढंग से एक कविता में व्यक्त कर सके जो कलिम्पोंग में 1940 की गर्मी में लिखी गई। इसके चित्र ग्रामीण बंगाल के सुंदर एवं शांत सौंदर्य में निगम्न हैं। संध्या की मीठी मीठी बयार चल रही है, भूसे से लदी एक बैलगाड़ी एक सुनसान खेत से गुजर रही है, एक छोटा-सा बछड़ा उसके पीछे पीछे चल रहा है। बनमाली पंडित का लड़का तालाब में मछलियां पकड़ रहा है, जंगली बतख का झुंड बड़े तालाब की तरफ कीड़ों की खोज में भटक रहा है, दो युवा मित्र जिनमें से एक नवविवाहित है—एक-दूसरे से बड़े दिनों बाद मिले हैं, गीली घास पर टहलते कभी न खत्म होने वाली बातचीत में मग्न, जंगली फूल हर तरफ अपना सिर उठाये हैं—जारूल के पेड़ की शाखाओं के बीच से कोयल अपनी एकरस पंचम में कूकती चली जा रही है, "और तभी यह खबर आती है कि सोवियत रूस की बम-वर्षा से फिनलैंड तहस-नहस हो चुका है।" इस कविता का शीर्षक है—'दुर्घटना' जो इस विडंबना को दर्शाती है।

इस बीच यूरोप में युद्ध छिड़ चुका था। 1914 के प्रथम विश्व युद्ध ने रवीन्द्रनाथ को बहुत बेचैनी और पीड़ा दी जिसने उन्हें तुरंत ही जनमंच पर शांति का पाठ पढ़ने के लिए प्रेरित किया। एक समय पर उन्हें बुरी तरह यह विश्वास हो गया था कि बार बार होनेवाली इस त्रासदी को रोकने के लिए यूरोपीय ईसाई सभ्यता में सदिच्छा और सद्भाव की कमी न थी। यह मोहभंग काफी दुखद था और 1939 के क्रिसमस को उन्होंने इसे वाणी दी और जिसकी आखिरी पंक्तियां थीं—

"जिन्होंने उन्हें एक बार आघात किया
अपने शासकों के नाम पर

वे इस युग में फिर से जन्मे हैं
प्रार्थना-कक्ष में वे धार्मिक परिधान पहन कर इकट्ठे होते हैं
वे अपने सैनिकों को बुलाते हैं और चिल्लाते हैं–
"मारो, मार डालो"
अपनी मिली-जुली गर्जना में
उनके स्रोतों का संगीत
जबकि आदमी का पुत्र कहता है–
'हे भगवान, दूर हटा लो इस पात्र को
जिसमें सबसे कड़वा जहर भरा है'।"

16

सूर्यास्त

मस्तिष्क में गूंजती है यही टेक
यह दूर नहीं है... बहुत दूर नहीं।

1940 का वर्ष मंगल और अमंगल दोनों को ही सूचित करता हुआ आरंभ हुआ। फरवरी के महीने में महात्मा गांधी और कस्तूरबा शांतिनिकेतन पधारे। यह महात्मा और कवि के बीच की आखिरी मुलाकात थी। उनके औपचारिक सम्मान में ठाकुर ने आम्रकुंज के मनोरम बाग में एक आनुष्ठानिक स्वागत समारोह का आयोजन किया। और ऐसे व्यक्ति को उन्होंने श्रद्धांजलि अर्पित की, जिन्हें उन्होंने कुछ समय पहले 'भिक्षुक वेश में एक महान आत्मा' कह कर पुकारा था। कवि ने कहा, "हम आपको ठीक वैसा ही समझते हैं, जैसे कि सारी मनुष्य-जाति अपने लोगों में गिनी जाती है।" हमेशा की तरह महात्मा गांधी ने अपने उत्तर में कहा, "हालांकि मैं इस यात्रा को तीर्थयात्रा कहता हूं... मैं यहां अजनबी नहीं हूं... मुझे ऐसा लगता है जैसे कि मैं अपने घर लौट आया हूं... मुझे गुरुदेव का आशीर्वाद मिल गया और मेरा हृदय आनंद से विभोर हो गया।"

5 अप्रैल को कलकत्ता में सी.एफ. एंड्रयूज का देहांत हो गया। वे कवि के घनिष्ठ और अंतरंग मित्र थे। उनका निधन कवि के लिए गहन आत्मीय शोक था। शांतिनिकेतन में आयोजित एक विशेष स्मृति सभा में उन्होंने कहा, "किसी भी व्यक्ति में ईसाई-धर्म का ऐसा उत्कर्ष मैंने नहीं देखा।" इसके पूर्व भी उन्होंने कहा था कि वे ब्रिटिश लोगों के प्रति कभी शत्रुभाव का पोषण नहीं कर पाएंगे, और भले ही कुछ कारण रहे हों, एंड्रयूज उनमें से एक कारण थे। एक समय ऐसा था जब एंड्रयूज उनके बहुत निकट के व्यक्ति थे—उनके प्रधान सहकारी, परामर्शदाता और मित्रों में से एक। रवीन्द्रनाथ ने किसी और को अंग्रेजी में इतने पत्र नहीं लिखे, जिनमें उन्होंने अपने मुक्त हृदय के रहस्यों को खोलकर रख दिया हो—मानो उन्हें एक ऐसे विश्वस्त मित्र की आवश्यकता थी जिसे अपना समझकर वे अपनी समस्त भावनाओं और अनुभवों को जी खोलकर बता सकें। इन्हीं पत्रों में से कुछ को एंड्रयूज ने बाद में संपादित किया और 'एक मित्र को पत्र' (लेटर्स टु ए फ्रेंड) जैसा सर्वथा उपयुक्त

शीर्षक देकर छपवाया। एंड्रयूज स्वयं कवि को बहुत चाहते थे, उनकी बहुत सराहना करते थे, वे रवीन्द्रनाथ और महात्मा गांधी के बीच एक सजीव कड़ी के रूप में विद्यमान रहे, उन्हें भी वे बहुत चाहते थे और सराहते थे लेकिन कुछ दूसरे ढंग से। एंड्रयूज एक सच्चे मानव-सेवी थे। असहायों, दीनों के मित्र थे चाहे वह कोई भी हो, कहीं भी हो। और इसलिए उनको 'दीनबंधु' नाम से जाना जाता था। चार्ल्स फ्रीयर एंड्रयूज (सी.एफ.ए.) को कैसे उनके एक भारतीय प्रशंसक ने उनके नाम के आद्याक्षरों को ईसा का यह विश्वस्त शिष्य (क्राइस्ट्स फेथफुल एपॉसल--सी.एफ.ए.) के रूप में प्रस्तुत किया था। उनकी उपस्थिति कई जगहों पर अपेक्षित थी--भारत में और भारत के बाहर भी, कभी शांतिनिकेतन से बहुत दूर और कभी रवीन्द्रनाथ की उपस्थिति में। यही कारण था कि दोनों के बीच का सक्रिय संपर्क बाद में क्षीण हो गया था--लेकिन पुरानी मित्रता कायम रही।

रवीन्द्रनाथ अपनी रचनात्मक भावाभिव्यक्तियों में प्रचुर उल्लसित और कभी कभी मुखर प्रतीत होते दिखाई पड़ सकते हैं लेकिन अपने व्यक्तिगत संपर्कों में वे बड़े ही मितभाषी थे और ऐसे समय में भी, जब उनका हृदय स्नेहरिक्त रहा करता था, कभी कभी ऐसा लगता था कि वे तटस्थ, निस्संग और असंबद्ध हैं। और तभी, उन्होंने अपने पुराने और विश्वस्त मित्र के अपने से दूर चले जाने को बड़ी गहराई से महसूस किया और, इस दुख को अपने तक सीमित रखा, सिवा एक अवसर के जब उनकी स्मृति में आयोजित सभा में उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि व्यक्त की थी। कुछ दिनों बाद जब वे मांग्पू में थे, उन्होंने अपने मेजबान को बताया था कि एंड्रयूज जब कभी शांतिनिकेतन में होते थे, तब कैसे प्रतिदिन सुबह उनसे मिलने आ जाते थे और गले से लिपट जाते थे। साथ ही यह भी जोड़ दिया करते थे, "कैसा पवित्र प्रेम था उनका, हमारे लिए; उन्होंने कितना कुछ किया, फल की कोई प्रत्याशा किये बिना। पूरी तरह से निस्वार्थ और अनवरत श्रम। और उन्हें किसी तरह का अहंकार नहीं था कि उन्होंने कितना कुछ किया था-- वह एक सच्चे मसीहा थे।"

इसी वर्ष, गर्मी का एक हिस्सा, पिछले साल की तरह ही मांग्पू और कलिम्पोंग में ही बीता। मांग्पू में ही प्रवास के दौरान उनके पास जो समाचार आया वह उनके जीवन का अंतिम शोकपूर्ण संवाद था। उनके अत्यंत प्रिय भतीजे सुरेन्द्रनाथ की कलकत्ते में मृत्यु हो गई थी। सुरेन्द्र और इन्दिरा, उनके बड़े भाई सत्येन्द्रनाथ की संतान थे और रवीन्द्रनाथ के बचपन के संगी थे। और जब उन्होंने कोई साठ साल पहले एक विद्यार्थी के रूप में इंग्लैंड में प्रवास किया था तब से भाई और बहन इन दोनों के साथ उनका स्नेह संबंध निरंतर प्रगाढ़ होता चला गया जो अंत तक बना रहा। शोक संवाद को पाकर रवीन्द्रनाथ एक शब्द भी बिना बोले चुपचाप बैठे रहे। पूरे दिन चुपचाप रहने के बाद उन्होंने अपनी भावनाओं को एक छोटी और हृदयस्पर्शी कविता में व्यक्त किया। एंड्रयूज के निधन और फिर इस मृत्यु ने उन्हें अवश्य ही बता दिया होगा कि अब इस बात में अधिक देर नहीं

है कि उन्हें भी इसी तरह जाना होगा। उन्होंने बार बार इस बात को दोहराया भी था कि वह घाट की सीढ़ियों पर बैठे हैं और उस पार ले जाने के लिए मांझी का इंतजार कर रहे हैं।

चूंकि कवि के जन्मदिन के ठीक एक दिन पहले सुरेन्द्रनाथ की मृत्यु का समाचार आया था और यही कारण था कि इस समाचार को उनसे छिपाकर रखा गया था। उनकी वर्षगांठ उस छोटे-से पहाड़ी स्थान पर जितनी सादगी और सौम्यता से मनाई गई, वह शायद ही कलिम्पोंग जैसी बड़ी जगह में संभव हो पाती, कलकत्ता जैसे शहर में तो और भी नहीं। मांग्पू में सामाजिक या साहित्यिक दृष्टि से कोई भी चर्चित व्यक्ति उन्हें घेर कर खड़े होने को उपस्थित नहीं था—जो इस धरती पर उनके जीवन के सबसे अंतिम में से पूर्व जन्मदिन के सौम्य गांभीर्य को विघ्नित कर सकता। उस दिन सुबह गांव के एक वृद्ध नेपाली बौद्ध उन्हें शुभकामनाएं देने को उपस्थित हुए। वे जमीन पर बैठ गए, अगरबत्ती जलाकर मंत्र उच्चारण कर बुद्ध की वंदना की। कवि इससे बहुत प्रभावित हुए और अगले ही दिन उन्होंने एक कविता लिखकर इस भावना को अभिव्यक्त किया। उस स्रोत को सुनकर, जो 'उस सर्वोपरि मनुष्य को संबोधित था, जिनके जन्म लेने से यह धरा पवित्र हुई और मानव जीवन को अर्थवत्ता प्राप्त हुई', उन्हें लगा कि उनके जीवन को भी आशीर्वाद मिल गया, 'इस पृथ्वी पर अस्सी वर्ष पूर्व मानव के बीच जन्म लेकर मैं भी इस परम आत्मा की परंपरा में सम्मिलित हुआ हूं।'

संध्या के समय उनकी मेजबान महिला ने आसपास के पहाड़ी गांव के लोगों को एक भोज में आमंत्रित किया। वे कवि के लिए फूल लेकर आए, ढेर सारे फूल। ये गरीब और अनपढ़ लोग, जिन्होंने कभी भी उनकी कोई रचना नहीं पढ़ी थी, उनके प्यार की यह सादगी भरी भेंट कवि के हृदय को बहुत गहराई तक छू गई। अपनी कृतज्ञता को वे केवल एक कविता के द्वारा ही व्यक्त कर सके। उन्हें लगा कि सदियों की तपस्या के बाद इस पथराई धरती को इन फूलों का आशीर्वाद मिला जो उसकी गोद में मानव जाति के आगमन के अभिवादन के लिए था। क्या ऐसी अभिव्यक्ति इन सहस्रों सूर्यों और नक्षत्रों से पूर्व ब्रह्मांड में कहीं मिल सकती थी?

सृष्टि के वैचित्र्य और रहस्य को समझने के लिए एकाकी ध्यान में कवि ने अपने आपको निमग्न कर दिया होगा क्योंकि उसी दिन उन्होंने एक लंबी और भी अधिक मनोहारी कविता लिखी थी—

> "जब मैंने अपने जीवन के अस्सीवें वर्ष में प्रवेश किया
> मेरा मानस इस आश्चर्य में डूब गया—
> कोटि-कोटि नक्षत्र और सूर्य काट रहे हैं चक्कर
> अकल्पनीय गति से निरंतर

उस अंतहीन शून्यता को प्रकाश से भरकर
इस प्रशांत और अनंत व्योम के नीचे
मैं प्रकट हो गया अचानक त्वरित तत्क्षण स्फुलिंग की तरह
बलिवेदी की कभी समाप्त न होने वाली अग्नि सृष्टि से।"

रवीन्द्रनाथ सृष्टि के आद्यजीवन के बारे में लिखते चले गए कि कैसे वह समुद्र की कोख से फूट पड़ा और विश्व मंच पर मानवीय चेतना का महानाटक धीरे धीरे कैसे अवतीर्ण और अभिनीत हुआ–

"मैं भी इस रंगमंच का रंगकर्मी हूं
अपनी भूमिका के लिए प्रस्तुत,
मैंने इसके पर्दे को उठाने में सहायता की है
और यह भी मेरे लिए आश्चर्य की बात है।
धन्य किया है मैंने इस धरा को–जो आत्मा का नश्वर आगार है
आकाश, प्रकाश और पवन से लिपटी
समुद्रों, पर्वतों और अंतरीपों को ढोती
आखिर सूर्य के चारों ओर घूमने का कौन-सा है महत उद्देश्य।
इस रहस्यपूर्ण डोर से बंधकर
मैं आया था यहां अस्सी वर्ष पूर्व
और विदा हो जाऊंगा कुछ वर्ष बाद।"

लेकिन कुछ वर्ष नहीं बल्कि इस पृथ्वी से उनकी अनंत यात्रा को कुछ ही महीने शेष थे।

मांग्पू में अपने जन्मदिन के कुछ दिन बाद ही, रवीन्द्रनाथ कलिम्पोंग के लिए प्रस्थान कर गए, जहां उनका पुत्र और पुत्रवधू उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। इस बीच नाजी गिरोह के लोग सारे यूरोप में भूखे भेड़ियों की तरह टूट पड़े थे और यह रवीन्द्रनाथ के लिए निरंतर कष्टपूर्ण होता जा रहा था कि उन्होंने जिन देशों का भ्रमण किया था, जिन्हें चाहा और सराहा था–वहां होने वाली घटनाओं और वहां से मिलने वाले अप्रिय समाचारों से उनका दुख दिनों दिन बढ़ता चला जा रहा था। उन्होंने इस संत्रास, दुविधा और आक्रोश को अपनी दो कविताओं में व्यक्त किया, जो मई माह के उत्तरार्द्ध में लिखी गई थीं। मानव जो सभ्य सुसंस्कृत प्रतीत होते हैं, अचानक भयंकर दानव के रूप में कैसे बदल जाते हैं? क्या ऐसे लोग उस नियति के प्रतिनिधि हैं, जो मनुष्यों द्वारा शताब्दियों से किए जा रहे अपराधों के ढेर पर कुपित हो खड़े हैं। रवीन्द्रनाथ पूछते हैं कि क्या मनुष्य अपने पूर्वकृत्य पापों के प्रायश्चित्त के लिए स्वयं अपना जानी दुश्मन बन गया है। वे इस बात से आहत, अपमानित

और अवसादग्रस्त हैं, लेकिन क्रोध से बिफरे या गुस्से से कोसते नहीं। बल्कि संयत और ध्यानस्थ मनोदशा में, अपने सहयोगियों के अपराधों (दुष्कर्मों) को इतिहास के बृहत्तर परिदृश्य में देखने को प्रवृत्त हुए थे। यद्यपि वे अपनी आशा छोड़ने को तैयार नहीं थे–

"दुंदुभि बज रही है
काल झंझा से मर्माहत युग
दे रहा है समय के बदलाव का संकेत।
एक नये हृदयहीन अध्याय का होगा आरंभ
फिर यह निर्मम बर्बादी किसलिए है भला!
अपनी ही प्रेतात्मा द्वारा भविष्य के अग्रदूत को
बर्बरतापूर्वक इस तरह घसीटा जाना?
अब इस ध्वस्त युग का क्या नष्ट होगा
और क्या शेष रहेगा?
अब यह जानने की घड़ी आ गई है
कि चमकदार कचरे का मतलब क्या है
और किसलिए बज रहे हैं नगाड़े?"

लेकिन वर्तमान चाहे कितना भी निराशाजनक हो, कवि भविष्य के लिए अपनी आशा कभी नहीं छोड़ सकता। मनुष्य की परिपूर्णता में परम आस्था, उसकी चेतना में अंतर्निहित देवत्व रवीन्द्रनाथ की अपनी अंतरात्मा की अत्यधिक आवश्यकता रही है। इस आस्था को वह अपनी एक दूसरी कविता द्वारा सुदृढ़ करते हैं–

"जब यह वीभत्स उत्सव
मृत्यु के भयंकर नृत्य में परिणत हो जाएगा
और यह पाप नृत्य समाप्त हो जाएगा
तपःपूत पावन
और लोभ से परे मनुष्य
चिता भस्म पर समाधि लेगा,
एक नई सृष्टि के लिए
आज की गोलाबारी
नई सर्जना का कर रही है सूत्रपात।"

अपनी व्यथा को उन्मुक्त कर अपनी आस्था को दृढ़मूल करके, उस माध्यम से जिसमें वे निष्णात थे, वे संतुष्ट नहीं रहे। उनका अपना देश मनहूसियत और हताशा में घिसट रहा था और कोई निराश निर्णय लेने के लिए प्रस्तुत हो रहा था। वृद्ध, दुर्बल और रुग्ण

रवीन्द्रनाथ (कवि कई दिनों से ज्वाराक्रांत थे) को लगा कि अपने देश की ओर से इस विरोध को स्वर अवश्य देना चाहिए। इसीलिए 15 जून को, कलिम्पोंग प्रवास के दौरान उन्होंने अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट को एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य का उपनिवेश होने के कारण भारत की असहाय और संकटपूर्ण अवस्था का बखान किया, जब कि विश्व के अन्य स्वाधीन देश जीवन-मरण के प्रश्न से जूझ रहे हैं। एक स्वतंत्र भारत स्वाधीन विश्व के लिए महत्वपूर्ण संपदा के रूप में प्रतीत होगा, जबकि पराधीन भारत एक बोझ और एक दुर्वह दायित्व के रूप में बना रहेगा।

7 अगस्त 1940 को शांतिनिकेतन में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय की ओर से एक विचार-गोष्ठी का आयोजन हुआ—रवीन्द्रनाथ को डाक्टरेट (डी.लिट्.) की मानद उपाधि देने के लिए। इस प्रशस्ति फलक में उन्हें समस्त कलासर्जना का सर्वाधिक प्रिय बताया गया। भारत के तत्कालीन न्यायाधीश, सर मौरिस ग्वेयर, डा. राधाकृष्णन और कलकत्ता उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति ने आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय का प्रतिनिधित्व किया था। सर मौरिस ग्वेयर ने कहा, "विश्वविद्यालय, जिसका मैं प्रतिनिधित्व कर रहा हूं, वह आपको सम्मानित करते हुए वस्तुतया स्वयं को सम्मानित कर रहा है।" इस घटना के बाईस वर्ष पूर्व इसी विश्वविद्यालय ने इस भारतीय कवि को सम्मानित करने से इनकार कर दिया था। इस संदर्भ में रोथेन्स्टीन को उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा।

"फॉक्सं स्टैंजवेज़ यह चाहते थे कि आक्सफोर्ड या कैम्ब्रिज रवीन्द्रनाथ को सम्मानार्थ उपाधि प्रदान करे। इस संबंध में जब लार्ड कर्जन से सलाह ली गई तो उन्होंने बताया कि भारत में ऐसे कई लोग हैं जो रवीन्द्रनाथ से कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं। मैं इस बात पर हैरान हुआ कि वे कौन हो सकते हैं : मैंने इस बात पर अफसोस जाहिर किया कि इंग्लैंड ने साहित्य के प्रति उनके योगदान को पहली बार इतनी स्पष्टता से नकार कर अपने आपको सचमुच एक पराया देश साबित कर दिया है।"

इस वर्ष के समाप्त होने तक उनकी तीन कहानियां—इस विधा को अंतिम योगदान स्वरूप—"तिन संगी" (तीन मित्र) शीर्षक के अंतर्गत प्रकाशित हुईं। ये कहानियां 'रविवार', 'शेषकथा' और 'लेबोरेटरी' उनकी पिछली कहानियों की अपेक्षा सर्वथा अलग हैं। कवि एक बुद्धिजीवी के रूप में अधिक कठोर और श्रेष्ठ कथावाचक के बदले एक विश्लेषक के तौर पर यहां उपस्थित थे। मानो हिमालय की पर्वत शृंखला सिकुड़कर एक गगनचुंबी इमारतों की उपत्यका में तबदील हो गई हो। रवीन्द्रनाथ जैसे पूर्णतावादी अपनी विषयवस्तु से, अगर वह जड़ या गतिहीन हो, कभी संतुष्ट नहीं हो सकते थे। तो भी उनके ही अनुसार यह परिपूर्ण नहीं थी। उच्चतम शिखर पर चढ़ाई करने के बाद, उन्होंने इसे पीछे छोड़ दिया था और दूसरी ऊंचाइयों पर चढ़ने को बढ़ गए—जो कि गुणवत्ता की दृष्टि से अपेक्षाकृत कम ताजगी भरी थी।

हालांकि इसी वर्ष उनकी एक और कृति 'छेलेबेला'–प्रकाशित हुई थी जो उनकी बाल्य स्मृतियों से भरी, बहुत ही सरल, जीवंत, अनोखी और अनूठी रचना थी, और उक्त तीनों कहानियों की अपेक्षा अपनी प्रकृति और मनोदशा में सर्वथा अलग थी। रवीन्द्रनाथ ने विभिन्न स्तरों पर अपने विचारों को ग्रहण किया था और इन्हें लगभग एक साथ सर्जनात्मक स्तर पर अभिव्यक्त भी किया था। वे अपनी इच्छानुसार इन रचना-तरंगों पर नियंत्रण रख सकते थे और एक को छोड़कर दूसरे पर आ-जा सकते थे। शायद अपनी इच्छा के साथ तालमेल बिठा न पाने के कारण वे अपनी स्वाभाविक भाव दशा के शिकार हो गए थे, जो उन क्षणों में उनके साथ नहीं थी। 'छेलेबेला' से उद्धृत अंश से यह स्पष्ट हो जाएगा कि उन्होंने अपनी स्मृतियों को कितनी सरलता और सहजता से लेखनीबद्ध किया है।... एक पुरानी और परित्यक्त पालकी उनके पैतृक भवन के किसी एक कमरे में पड़ी थी। यह उनकी दादी मां की थी। ज़ब उनकी निगरानी करने वाला नौकर, दोपहर के भोजन और नींद के लिए चला जाता था तब बालक रवि दोपहर के समय वहां जाकर छिप जाया करते थे। मानो इस परित्यक्त पालकी और उस उपेक्षित बालक के बीच कोई रहस्यपूर्ण सहानुभूति और मित्रता कायम हो गई थी। उस पालकी के बंद पल्लों के भीतर सुरक्षित दूसरों की पैनी दृष्टि से बचकर, वह बालक अपनी कल्पनाओं को बेलगाम छोड़ देता था।

"बाहर से देखने में स्थिर खड़ी रहती मेरी पालकी कल्पनाओं की यात्राओं में विचरण करती है। मेरी पालकी के कहार मेरी आज्ञा पाकर, 'हवाई बुलबुले' की तरह उपस्थित हो जाते हैं, मेरी कल्पनाओं से ओतप्रोत होकर वे मुझे मेरे कल्पित देशों में ले जाते हैं, ऐसे कई अद्भुत देश-देशांतर पार कर हम चलते हैं, मैं हर एक ऐसे देश का कोई नाम रख लेता हूं, जो मैंने पुस्तकों में पढ़ा था, मेरी कल्पना मुझे किसी सघन वन की पगडंडी से ले गई जहां घनी झाड़ियों के बीच मुझे एक बाघ की जलती हुई आंखें दिख रही हैं और मैं डर से सिकुड़ गया। मेरे साथ हैं, विश्वनाथ शिकारी। उनकी बंदूक गरज उठी– धांय... धांय... और फिर सब कुछ खामोश, शांत हो गया। ...कभी कभी मेरी पालकी मोरपंखी नाव बन कर तिरती हुई उस अछोर समुद्र से जा मिलती है, जिसके किनारे का दूर दूर तक कोई निशान नहीं। मेरी पतवार धीरे से पानी को छूती है, हम सागर की उत्ताल लहरों से घिर जाते हैं। मांझी हमें पुकार कर कहता है, 'सावधान, तूफान आने वाला है।' अपने हाथ में पतवार की मूठ थामे अब्दुल मांझी खड़ा है, उसकी नुकीली दाढ़ी, मुड़ी हुई मूंछ और सिर पर छोटे छोटे बाल, मैं उसे पहचानता हूं, वह पद्मा नदी से मेरे भैया के लिए हिलसा मछली और कछुए के अंडे लेकर आता है।"

7 अगस्त को आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय का विशेष समावर्त्तन-सभा के तीन दिन बाद (यह दिन उनके लिए विशेष महत्व रखता है जब कि आठ वर्ष पहले इसी दिन जर्मनी में उनके पौत्र नीतीन्द्र की मृत्यु हुई और ठीक एक वर्ष बाद इसी दिन वे स्वयं चल बसने

वाले थे)। रवीन्द्रनाथ ने एक जनसभा में रामायण के सांस्कृतिक महत्व पर भाषण दिया। उन्होंने इस महाकाव्य को हिंदी में रूपांतरित करने वाले महान कवि तुलसीदास जी की भरपूर प्रशंसा की। उन्होंने बताया कि हिंदी भाषियों के क्षेत्र में इसे बाईबिल की संज्ञा दी जाती है। 3 सितंबर को वे शांतिनिकेतन के वर्षा मंगल उत्सव में उपस्थित हुए–जीवन में अंतिम बार। इसके पंद्रह दिन बाद वे चिकित्सकों से अपने स्वास्थ्य की जांच करवाने कलकत्ता में थे। 19 सितंबर को वे दोबारा कलिम्पोंग चले गए, पूर्वी हिमालय की पहाड़ियों पर हेमंत ऋतु के नैसर्गिक वातावरण में स्वास्थ्य-लाभ करने।

इस शरद के आनंद का केवल एक सप्ताह ही उन्हें प्राप्त हो सका। और इस अंतिम समाप्त में उन्होंने भरपूर आराम किया–अपनी आराम कुर्सी पर बैठकर शरद की सुनहली धूप में नहाकर और नीली पहाड़ियों के साथ आकाश के नीले रंग के घुल-मिल एक हो जाने वाले दृश्यों को देखकर,

> "यह आकाश अपने स्तब्ध उल्लास में
> बजाता है तालियां।
> रंग और स्वर से परिपूर्ण है
> मेरी प्रसन्नता
> क्या इस बात को कलिम्पोंग जानता है?
> बज रहा है प्रातःकाल का सुनहरा घंटा... डिंग डौं...ग
> क्या इसे सुन रहा है कलिम्पोंग !"

यह कविता 25 सितंबर को लिखी गई थी। इसके दूसरे ही दिन रवीन्द्रनाथ अचानक बीमार पड़ गए और अचेत हो गए। ठीक वैसे ही, जैसे कि तीन साल पहले सितंबर के महीने में। "एक बार फिर प्रकाशहीन ब्रह्मांड की कंदरा से मृत्यु के दूत के कदमों की आहिस्ता आहिस्ता बढ़ती आहट मुझे सुनाई पड़ी।" और पिछली परेशानियों की तरह, इस बार भी कोई समुचित डाक्टरी सहायता उपलब्ध नहीं हो पाई। दूसरे, कलिम्पोंग शांतिनिकेतन की अपेक्षा कलकत्ते से कहीं दूर था। कलकत्ता से कोई भारतीय डाक्टर आए, इस दौरान दार्जिलिंग के ब्रिटिश सिविल सर्जन से गुहार की गई कि वह एक बार बीमार को देख जाएं। वह बड़ी अनिच्छा से आए और उन्होंने बीमार की जांच करने के बाद, बड़ी रुखाई से पूछा, क्या वह अंग्रेजी जानता है। देश की जनता से ब्रिटिश शासन की तेजी से बढ़ती जा रही दूरी या अलगाव का इससे दुखद उदाहरण शायद ही मिले। उसने यह बताया कि मरीज की किडनी खराब है और यह भी कि अचेत पड़े मरीज की जान बचानी है तो तत्काल एक बड़ा ऑपरेशन करने की जरूरत है। सौभाग्य से, उसे ऐसा करने की अनुमति नहीं दी गई और ठीक समय पर कलकत्ता से एक चिकित्सा-दल उन्हें वहां ले जाने के लिए

आ पहुंचा।

29 सितंबर को रवीन्द्रनाथ के अपने पैतृक आवास लौटने पर महात्मा गांधी के सचिव महादेव देसाई उनसे मिले और उनके स्वास्थ्य के बारे में महात्मा की गहरी चिंता जताई। कवि अब भी कानों से कम सुन पा रहे थे और उनकी जुबान लड़खड़ा रही थी। वे बेबस से महादेव देसाई की ओर देख रहे थे और उनकी आंखों में आंसू छलक उठे थे। इस अवसर पर उपस्थित कवि की पुत्रवधू ने उस दृश्य को इस तरह लेखनीबद्ध किया : "यह पहला मौका था जब मैंने कवि की आंखों से बह रहे आंसुओं को देखा। उनका अपने आप पर ऐसा कठोर नियंत्रण रहता था कि कठिन शोक और अवसाद के क्षणों में भी मैंने उनको कभी रोते हुए नहीं देखा। यह देखकर ऐसा लगा कि जैसे तटबंधों ने रास्ता छोड़ दिया हो।"

रवीन्द्रनाथ पूरी तरह स्वस्थ्य तो नहीं हो पाए लेकिन कुछ दिनों बाद अपने बिस्तर पर उठकर बैठ सकते थे और बातें भी कर लेते थे। उनके हाथ कलम को कस कर पकड़ने के लिए तैयार नहीं हो पाते थे परंतु शब्द और छंद उनके मस्तिष्क में निरंतर चलते रहे, इसलिए उन्हें बोलकर लिखवाना पड़ा। आरंभ की ऐसी कविताओं में से एक कविता की कुछ पंक्तियां नीचे उद्धृत की गई हैं--

"इस विराट ब्रह्मांड में
पीड़ा का महान चक्र घूम रहा
तारे और ग्रह-नक्षत्र टूट टूट कर छिटक रहे,
उड़ रहे हैं, दुर्धर्ष स्फुलिंग दूर दूर तक
दुर्दांत गति से टूट-टूट कर बिखरे
अस्तित्व का आक्रोश
अपने आदिरूप में समेटे हुए है जिन्हें
पीड़ा के शस्त्रागार में
चेतना के तरंगों का विस्तार करते हुए, उद्दीप्त,
यंत्रणा का वाद्य हो रहा है झंकृत
रक्तरंजित घाव और गहराने लगे
कितना लघुकाय है, मनुष्य
लेकिन उसमें पीड़ा को सह लेने की है अपार शक्ति
निर्माण और ध्वंस के संगम स्थल के
किस सिरे पर, वह थामे रखता है अपना हालाहल-पात्र
देवताओं के अलौकिक उत्सव में--
अपनी स्वर्गिक शक्तियों के मद में चूर

उसकी देह माटी से भरकर
क्यों ले जाते हो, उसे आंसुओं के उत्तप्त रक्त-ज्वार में बहाकर..."

कवि इसका उत्तर जानने का छल नहीं करते, न ही इसके लिए उनके मन में कोई आशा बंधी है। वे यह भी नहीं चाहते कि उनकी शारीरिक अस्वस्थता के कारण उनकी इच्छा शक्ति दरक जाए या उनकी आस्था पराजित हो जाए। वे जानते हैं कि मनुष्य पीड़ा के पात्र से जीवन का अमृत ढूंढ़ सकता है–

"अपनी अदम्य आकांक्षा से
वह हर क्षण लाता है अनंत मूल्यवान उपहार
मनुष्य का बलिदानी उपहार है
उसकी जलती शारीरिक यंत्रणा
क्या हमसे तुलना की जा सकती है–
सूर्य और तारों के अखिल उत्सर्ग की।"

जैसे जैसे कवि स्वास्थ्य लाभ करते गए, वैसे वैसे अपनी स्वाभाविक मानसिक जीवंतता के साथ छोटी छोटी घटनाओं, दृश्यों और स्वरों का आनंद लेने लगे। 11 नवंबर की सुबह ने उनसे जो लिखवा लिया–वह मनोरम, सुकुमार तथा आनंद से परिपूर्ण था। यह कविता एक नन्हीं गौरैया को संबोधित कर लिखी थी। वह चिड़िया उनकी खिड़की को अपनी चोंच से कुरेदती, इधर से उधर फुदकती और अपनी गीली पूंछ हिला हिलाकर चहचहाती और यह प्रश्न करती–"क्या मेरे लिए कोई समाचार है।"

"जब कष्टपूर्ण निद्राविहीन रात्रि
लंबी होती चली जाती है
तब मैं तुम्हारी पहली चहचहाहट में
दिन के उजाले की
राह देखता हूं कि कब तुम मेरे लिए
जीवन का अभय
संदेश और दिवस का प्रकाश लेकर आओगी तुम
ओ मेरी भोर की गौरैया !"

इसी तरह, जो सेवक उनकी रात-दिन सेवा करते और बारी बारी से उनकी रोग शय्या के पास रहते, उन सेवकों पर कविताएं लिखी गई थीं, जो अत्यंत मोहक और प्रिय जान पड़ती थीं। उनकी यह जिद थी कि वह प्रशिक्षित परिचारिकाओं से सेवा नहीं करवाएंगे। उन्हें उनका मित्रवत साहचर्य चाहिए था, जो उन्हें हृदय से चाहते हैं और साथ ही जिन्हें

वे अपना समझकर तंग कर सकते, प्यार कर सकते और छेड़ सकते थे।

"शेषरात्रि में, मेरी रुग्ण शय्या पर
झुटपुटी रोशनी में
जब मुझे अचानक तुम्हारी
निद्राविहीन उपस्थिति का आभास होता है
और मुझे प्रतीत होता है कि असंख्य सूर्य और ग्रह-नक्षत्र
मेरे इस तुच्छ जीवन का भार वहन करने का
शाश्वत आश्वासन दे रहे हैं।"

जब रवीन्द्रनाथ की तबीयत में थोड़ा सुधार हुआ, उस वक्त उन्होंने हास-परिहास से भरपूर एक कविता लिखवाई, जिसमें वे अपनी असहाय अवस्था का मजाक उड़ाते हुए कहते हैं कि उन्हें अब 'शांत पड़े रहो', 'ज्यादा बातें नहीं', 'तुम्हें थोड़ा और खाना चाहिए' जैसे आदेशों और हिदायतों का पालन करना पड़ रहा है। और ये हिदायतें उनसे मिल रही हैं जो कुछ दिन पहले तक गुड़िया घर में गुड्डे-गुड्डों के साथ खेला करती थीं।

जल्दी ही उन्हें शांतिनिकेतन की खुली हवा, नैसर्गिक हरीतिमा, नीले आकाश और उन्मुक्त परिवेश के बीच लाया गया। यहां के उन्मुक्त वातावरण और बच्चों की निर्मल मुस्कान ने उन्हें नई जीवनी शक्ति से भर दिया--

"खोलो, खोलो द्वार,
नील निर्वसन आकाश और सुमनों की सुरभि
मेरे कमरे में भर जाए
सूर्य की पहली किरण
मेरे संपूर्ण अस्तित्व को निमज्जित कर दे
पत्तों के मर्मर में, मैं सुन पाऊं
स्वागत का संदेश
कि मैं अब तक जीवित हूं।"

यह और ऐसी अन्य कविताएं जो वर्ष के अंत में प्रकाशित हुई थीं, कवि की विभिन्न मनोदशाओं एवं संवेदनाओं को दर्शाती हैं और जिनमें तरह तरह की बातों को व्याख्या करके बताया गया था। इस कविता का नाम था, 'रोग शय्या' (रोग शय्या पर, 1940) परिस्थिति के अनुरूप ही इसका शीर्षक था। इसके पश्चात 1941 में दूसरी कृति 'आरोग्य' (स्वास्थ्यलाभोन्मुख) के नाम से निकली। जैसा कि शीर्षक सुझाता है, यह लेखक के स्वास्थ्य लाभ से संबंधित थी, परंतु वे इतनी लंबी बीमारी के बाद कभी भी पूर्ण स्वस्थ नहीं हो

पाए थे। केवल घूमने वाली कुर्सी पर उन्हें बिठाकर इधर-उधर ले जाया जाता था। सिर्फ उस तीव्र वेदना का उपशमन हो रहा था 'रोग शय्या का धूमिल प्रकाश' तीव्र हो गया था पूरी तरह से खत्म नहीं, यह रोशनी सूर्य की किरणों से थी। और सबसे अहम बात कवि स्वयं को दोबारा रोमन्थन तथा ध्यानमग्न करने में व्यस्त रख सकते थे। ये बातें कवि को अत्यंत ही प्रिय थीं (प्राणों से अधिक)। कवि चूंकि सूर्य उपासक थे, इसी कारण इस संकलन की तथा पहले की अधिकांश कविताएं या तो उषा के प्रथम प्रहर या दिन के वक्त ही लिखवाई गई थीं। शाम को बुखार चढ़ने की वजह से वह स्वयं को किसी भी परिश्रम के योग्य नहीं पाते थे। इस संकलन की पहली कविता उनके पहले के दृढ़ विश्वास जैसी लगती है :

"मधुमय है यह विश्व
इस धरा की धूल भी है मधुमय
इस महान सत्य को
मैंने अंतर्मन का मंत्र बनाकर
स्वीकार किया है।
इस संसार के त्यागने की घड़ी में
मैं उससे कहूंगा
मैंने अपने भाल पर लगाया है
तुम्हारा मृत्तिका-तिलक
माया के आवरण में
मैंने अनंत के गौरव को पहचाना,
इसी धूल में संजोई हुई है, सत्य के सौंदर्य की सुरभि
इसी से मैं तुम्हें अपनी
श्रद्धा और आदर करता हूं समर्पित
इन अंतिम क्षणों में और क्या बचा है मेरे पास
तुम्हें देने को !"

ईश्वर ने कवि को सौंदर्य और सत्य का वरदान दिया, इसी से वह उसके प्रति कृतज्ञ हैं। "प्यार के अनंत भंडार से मनुष्य का प्रेम मिला" उन्हें जो दुख-दर्द सहना पड़ा, वह उन्हें एक नई राह दिखा गया और वह स्वयं को इस प्रकार ढाल सके कि कोई दुख या कष्ट उन्हें छू नहीं सके और वह अपनी आत्मा को जीत सकें–"यह स्मृति मैं अपने साथ लेकर जा रहा हूं और शब्दों में यह कृतज्ञता व्यक्त नहीं की जा सकती।"

अपनी रुग्ण शय्या ("रोग शय्या") की एक कविता में उन्होंने अपनी तुलना उस सूखे

तिनकों से बनी एक डोंगी के साथ की है जो नदी की मुख्य धारा से कट कर एक छोटे-से टापू की तरह चक्कर खाती रहती है। बंद कमरे के घुटन भरे वातावरण ने उनको सिर्फ अपने ही बारे में सोचते रहने पर बाध्य कर दिया था। रवीन्द्रनाथ अपनें प्रति सदैव निर्मम बने रहे थे। उनके सेवारत लोग उनकी अपूर्व सहनशक्ति को देखकर आश्चर्यचकित रह जाते कि वह किस प्रकार अपने कष्ट को "एक कमरे के बंद आकाश में, बिना किसी प्रकाश के झेलते रहते थे।" अपनी पीड़ा अपने सेवकों या अपने आस-पास के लोगों के चेहरों पर देखकर कवि अपनी पीड़ा को छिपाने का भरसक प्रयत्न करते रहते। उनको मजेदार कविताएं रचकर या हल्की-फुल्की बातों से प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते। सारी जिंदगी कष्ट सहने की इस भरसक कोशिश की वजह से ही वह कठिन आत्मनिर्णय ले सकते थे। जब वह युवा एवं सक्षम थे उस समय आत्मानुशासन के मामले में ठोस सफलता प्राप्त की थी। एक बार उन्होंने स्वयं बताया था कि कैसे उन्हें कलकत्ता स्थित अपने पुराने पैतृक मकान के एक तलघर में सुलाया गया था और तब वह बिल्कुल डरे नहीं क्योंकि वह कमरा काफी दिनों से इस्तेमाल में नहीं लाया गया था और वहां उन्हें अकेले ही सोना पड़ा था। अचानक आधी रात को पैर की उंगली की असहनीय पीड़ा से उठ बैठे क्योंकि उन्हें एक जहरीले बिच्छू ने काट खाया था। बिच्छू के दंश जैसे कष्टदायी अनुभवों से उन्हें चुपचाप गुजरना पड़ा था। वह अपने वास्ते किसी को जगाना नहीं चाहते थे। वह दर्द को झेलते रहे और जब दर्द बढ़ता चला गया तब उन्होंने अपना ध्यान शरीर से हटा लिया। पीड़ा शरीर के अंदर थी और चेतना अलग। मन की शक्ति से उन्होंने स्वयं को द्विधा-विभक्त कर लिया था। उसी क्षण दर्द गायब हो गया। इस तरह के अजीब अनुभव और मन की शक्ति द्वारा पीड़ा का अवसान दुबारा नहीं हुआ। लेकिन जब कभी वह शारीरिक पीड़ा का अनुभव करते अपनी चेतना को शरीर से अलग कर देते।

शांतिनिकेतन लौटने के बाद भी पूरी तरह से स्वस्थ नहीं हो पाए लेकिन दर्द तथा तकलीफ को वह निरंतर भूलने का प्रयत्न करते, विशेषकर सुबह के समय जब उन्हें बुखार आता था और उनके शरीर को तोड़ देता था। लेकिन फरवरी के प्रारंभ में, बसंत ऋतु के आगमन के साथ, उनकी पुरानी ऊर्जा वापस लौट आई तो प्रकृति में फिर से आनंद लेने लगे और जीवन की खुशियां उन्हें रास आ गईं। वह दुबारा लोगों के बारे में चिंतामग्न हो उठे। जब वह इस प्रकार की भावनाओं के बहाव में बह रहे थे तव 13 फरवरी को उन्होंने एक यादगार कविता लिखवाई जो उनके अंतर्मन का आकलन है। कैसे वह अपने मन को अपने लोगों के इतिहास जानने के लिए खुला छोड़ देते हैं बिना किसी बागडोर के। इस कविता का नामकरण किया गया 'काल की अबाध प्रदक्षिणा'। अपनी नजर दौड़ाने पर वह केवल चारों ओर अंधेरा और धुंधली होती जाती तस्वीरों को एक के बाद एक गुजरते हुए देखते हैं। एक के बाद एक तस्वीरों का गुजरना—साम्राज्य के भूखे पठान और

फिर उनके बाद साम्राज्यलोलुप मुगल, जैसी तस्वीरें उभर उभर कर उनके सामने आकर नई नई कहानियां गढ़ने का मसाला उन्हें प्रदान करती रहती हैं। "विजय का रथ-चक्र अपने पीछे धूल के गुबार छोड़ता चला जाता है।" फिर जब दूसरा चित्र नजर आता है तो वे पाते हैं कि अब उनका कोई नामोनिशान बाकी नहीं। एक और धूमिल चित्र है कि "अंग्रेज आग उगलते रथों पर लोहे की सड़कों पर निकल रहे हैं।" वह भी चले जाएंगे और अपना कोई चिह्न नहीं छोड़ेंगे। रह क्या जाएगा, वही नीला अंबर, भोर और संध्या और उसमें रहनेवाले साधारणजन जो मेहनत कर पसीना बहाकर इस धरती पर जिंदा रहते हैं—

"अहर्निश नौका खेते हुए
पतवार थामे रहते हैं वे
बीज बोकर, फसल काटकर
वे अपना कार्य करते चले जाते हैं,
राज्य नष्ट हो जाते हैं,
युद्धवाद्य का बजना थम गया है
सेना की टुकड़ी जो कभी
विजय पताका फहराती थी
मूर्ख की तरह ताकती है
यह भूल कर कि उनका कोई
अस्तित्व भी है
खून से सने हथियारों और
रक्तवर्ण आंखों और चेहरों ने
खुद को बच्चों की
कहानियों में कैद कर रखा है
मेहनती मेहनत करते चले
जा रहे हैं।
अंग में, बंग में,
कलिंग के समुद्री तट या नदियों
के किनारे,
या पंजाब, बंबई, गुजरात में हो...
उनका दुख और आनंद
उस जीवन संगीत में व्याप्त है
हजारों साम्राज्य पतन की
राह चले जा रहे हैं

वे परिश्रमी अपना
काम करते चले जा रहे हैं।

वस्तुतया, उनके प्रशंसक इस कविता में वृद्ध कवि की समाजवादी समर्थकों के प्रति बढ़ती हुई सहानुभूति को देखते हैं। उनके अनुसार वे कवि को श्रद्धांजलि स्वरूप यही कह सकते हैं कि वे सर्वहारा वर्ग के कवि थे। परंतु रवीन्द्रनाथ ने उस मायने में स्वयं को 'प्रतिश्रुत' नहीं किया था जैसा कि समझा जाता रहा है। उन्हें जीवन के प्रति प्रेम और श्रद्धा है और लोगों की छोटी छोटी खुशियों और दुखों के प्रति समर्पित थे। यह कविता उनकी 'जीवनी शक्ति का संगीत' है। ये सारी बातें इस कविता में दर्शाई गई हैं। वह हमेशा से ही साधारण लोगों से प्यार करते थे और उनके प्रति चिंताशील थे, उस वक्त जबकि ऐसा करने का चलन नहीं था। कोई आधी शताब्दी पूर्व जब वे अपने गांव में रहते हुए अपनी पैतृक संपदा की देखभाल कर रहे थे तब उनकी कई चिट्ठियों से पता चलता है कि उन्हें किसानों और मजदूरों से किस प्रकार गहरा लगाव था। उनकी सोच मानवीय रही जो एक स्वस्थ नैतिक मनोभाव की प्रतीक थी और वह किसी खास मतवाद से आंदोलित नहीं थी।

उनकी इस उक्ति में कोई क्रांतिकारी या विशेष बात नहीं है कि जब साम्राज्य का पतन होगा, तब आम आदमी धरती पर जी सकेगा। तभी यह कविता इतनी स्मरणीय हो गई है। बंग्ला के एक सुविज्ञ प्राध्यापक की यह शिकायत है कि "इस कविता की शिल्पगत सूक्ष्मताओं को समझा नहीं गया है", जो काफी हद तक ठीक है। उनकी अप्रतिम और परिष्कृत रचना-कौशल की सूक्ष्मता को देखकर यही लगता है कि "हम कवि के शांत और ध्यानस्थ अंतर की लय को इस कविता में सुन रहे हैं जो सहज और निश्चेष्ट है।" वह आगे कहते हैं, "रवीन्द्रनाथ अपनी प्रतिभा के प्रति प्रतिश्रुत हैं और किसी साहित्यिक दौड़ के आगे घुटने नहीं टेकते। यद्यपि वह संसार के परिवर्तनों से अनजान नहीं हैं और जरा-सा भी बदलाव उनकी नजरों से ओझल नहीं रहता।"

रवीन्द्रनाथ मनुष्य में स्थित मनुष्य को चाहते और उसकी सराहना करते हैं–भले ही समाज में उसका स्थान चाहे ऊंचा या नीचा, साधारण या असाधारण कुछ भी हो। इस संबंध में रवीन्द्रनाथ और गांधी एक ही मत के थे। एक कविता जो 11 दिसंबर 1940 को लिखी थी, एक लोक धुन पर आधारित थी और लिखवाई थी, उनकी साधारण आदतों और अन्य बातों का बखान करती हुई थी–

"गांधी महाराज के शिष्य
कुछ हैं अमीर कुछ गरीब
उन सब में एक बात है समान
कि गरीबों को लूटकर कभी नहीं भरते अपना पेट

अमीरों के सामने नहीं टेकते हैं अपने घुटने
ना ही हार कर अंग्रेजों के चंगुल या चाबुक से डरकर
पीले पड़ जाते हैं,
हम हंस हंसकर यही
कहते हैं
''तुम्हारे रक्तचक्षु
नींद में खोये
बच्चों को डरा सकते हैं
लेकिन उन्हें कैसे डरा सकते हैं
जिन्हें डरने से इनकार है?''

'आरोग्य' के बाद 'जन्मदिन' का प्रकाशन हुआ। इस कृति का नाम ऐसा इसलिए रखा गया क्योंकि इसकी कविताएं पिछले जन्मदिन की स्मृति स्वरूप और उस अवसर को प्रतिबिंबित करने के लिए लिखी गई थीं। इन सब में उदासीनता की झलक है। ''जन्मदिन और मृत्युदिन दोनों एक-दूसरे के सम्मुखीन हैं।'' इनमें से एक 1924 में की गई उनकी चीन यात्रा से जुड़ी थी–जहां मई में उनका जन्मदिन धूमधाम से मनाया गया था –

''एक बार चीन यात्रा के दौरान
जिनसे मैं था अब तक अपरिचित
उन्होंने मेरे भाल पर लगाया था तिलक
जो यह दर्शाता था–
'हम तुम्हें जानते हैं।'
इसी के साथ मेरा अपरिचय
मुझसे अलग हो गया
और एक अंतरंग व्यक्ति
सामने आ गया
जो हमेशा एक जैसा ही रहा है।
मैंने एक... चीनी नाम रखा,
चीनी कपड़े पहने
और मैंने यह महसूस किया
मिलता है कोई मित्र जहां कहीं भी
मेरा नया जन्म होता है वहीं।''

इनमें से कुछ कविताएं पिछले जन्मदिन पर मांग्पू में लिखी गई थीं जिनके बारे में

पहले ही बताया गया है। इनमें से सबसे सुंदर कविता शांतिनिकेतन में 21 जनवरी 1941 को बोलकर लिखवाई गई थी। कवि के रूप में अपनी उपलब्धियों और गतिविधियों की समीक्षा करते हैं तो पाते हैं कि वे अपने दोषों के बारे में अवगत हैं और अपनी सीमाओं को बड़ी उदारता से अपनी असफलताओं से जोड़कर देखते हैं। यह विश्व कितना विचित्र और विविधताओं से परिपूर्ण है और वह इसके बारे में कितना कम जानते हैं। उनका मन इस अपरिसीम विस्तार के एक तुच्छ कोने के इर्द-गिर्द ही घूमता रहता है, जीवन और जगत से संबंधित ज्ञान उनकी चेतना-परिधि से परे है। उन्होंने जो कुछ प्राप्त किया है वह पुस्तकों और दूसरों के अनुभव से ही–

"मैं इस धरती का कवि हूं
इसके विभिन्न
स्वर एवं सुर
मेरे अंतर का करते हैं स्पर्श
लेकिन मेरे पास
बहुत ही कम सुरों की सरगम है
जबकि उनके पास पहुंचने
के लिए बहुत दूर जाना पड़ता है...
सबसे मुश्किल है अपने अंतर में बैठे
मनुष्य तक पहुंच पाना
काल और समय का
कोई निश्चित मापदंड नहीं
और केवल मन ही
मन की बातों को समझ सकता है
लेकिन मैंने पाया है कि हर अवसर पर
ऐसा हो पाना असंभव है
मेरी राहों पर बिछे कांटों ने
कर दिये हैं अवरुद्ध सारे द्वार।
किसान जोत रहे हैं खेत
और जुलाहे कात रहे हैं चरखे
मछुआरे फैलाते हैं अपना जाल
तमाम कामों और कारोबारों द्वारा
चाहे छोटे हों या बड़े
दुनिया को चला रहे हैं।

प्रसिद्धि के शिखर से
हटाये जाने के बाद
एक खिड़की से टिककर और एक कोने से लगकर
कभी-कभी मैं सीमाहीन प्रांत तक
पहुंच जाता हूं
लेकिन उनके घरों में घुसने
का साहस खो चुका हूं
जब जीवन और जीवन
के बीच नहीं हो पाता है कोई संवाद
गीत का मूल्य हो चुका है नष्ट
मैं यह अभियोग स्वीकार करता हूं
कि मेरा संगीत अधूरा रह गया
और मेरी कविता कई रास्तों से
गुजरने के बाद भी
अपनी मंजिल को ना पा सकी।"

अपनी सीमाओं को स्वीकार कर रवीन्द्रनाथ भविष्य के उन कवियों का आह्वान करते हैं जो इस धरा से जुड़े होंगे और उद्यमियों के साथी होंगे, जो उन लोगों के कवि होंगे जो निर्वाक और निर्बोध हैं, उनके छिपे दुखों को एक स्वर देंगे और इस उजाड़ और बंजर जमीन पर रस बरसायेंगे। वह प्रार्थना करते हैं कि नया कवि अपनी निष्ठा के प्रति सच्चा होगा और उसके कार्यों और शब्दों में समरूपता होगी। वह गरीबों के प्रति अपनी बनावटी सहानुभूति द्वारा अपना नाम कमाने का प्रयत्न नहीं करेगा। वे किसी कवि के प्रति अपनी अभ्यर्थना जताते हैं, लेकिन चालबाजों से सावधान रहने को कहते हैं।

रवीन्द्रनाथ यह नहीं जानते थे कि मूक और दलितों के प्रति उनकी सहानुभूति जल्दी ही साहित्यिक जगत में रूढ़ि बन जाएगी और किसी बाद के नाम पर इस प्रकार का तगमा लगाएगी और वे साहित्य जगत में छा जाएंगे। हो सकता है, उन्होंने ऐसी संभावना का अनुमान पहले ही लगा लिया हो और इसी कारण चेतावनी दी हो। चाहे जो भी हो, अपनी सीमाओं को स्वीकार करना ही उनके कवि-कर्म को और भी उच्चतर शिखर तक पहुंचा देता है कि उन्हें अपने बारे में ऐसा सोचना पड़ा और उन्हें एक क्षमाप्रार्थी होने की जरूरत क्यों पड़ी! ऐसे कवि कहां हैं, जिनकी बोध-शक्ति का विस्तार इस पृथ्वी के असंख्य लोगों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण और सोचपूर्ण है, जो हजारों लोगों के बारे में सोचते हैं? जो असमर्थ लोगों के बारे में उत्तेजनापूर्वक गान गाते रहते हैं। ऐसा लगता है कि वह किसी और के प्रति कम ही सहानुभूति रख पाते हैं। यह कविता जिसमें पहले ही साम्राज्यों के पतन का

तथा परिश्रमी लोगों के इस जीवन को चलाते रहने का उल्लेख आया है, किसी भी प्रकार से इस बात का इंगित नहीं करती कि वयोवृद्ध कवि मृत्यु के सम्मुख आने पर अकस्मात अपना विश्वास खो चुका था और एक 'संगी यात्री' बन चुका था। यह तो बल्कि इस तथ्य पर प्रकाश डालती है कि बढ़ती वय के साथ उसकी भावनाएं और भी गहरी होती गई। समकालीन दुर्दशाओं के प्रति उसका बोध क्रमशः विस्तृत होता गया, साथ ही उसका मनुष्य की नियति के प्रति विश्वास और कवि रूप में उसका प्रत्यय और भी प्रखर हो प्रभावी होता चला गया।

गंभीर कविताओं के साथ साथ रवीन्द्रनाथ ने कुछ शिशु कविताएं भी लिखवाईं। साथ ही कुछ कहानियां और कथाएं भी लिखीं जिनका ताना-बाना दादा-नाना से सुनी कहानी जैसा था--जो रोचक कल्पना से परिपूर्ण और हास्य-कौतुक के रस से सराबोर थीं और जिनसे ऐसा नहीं लगता था कि वह ऐसे मनुष्य की रचना है जो कठोर शारीरिक पीड़ा से गुजर रहा है और जो करीब करीब रोग शय्या पर पड़ा है। बाद की कविताएं 1941 में प्रकाशित 'गल्प सल्प' (कथाएं और खेल) में संकलित हुईं। उनमें से एक 'बिग न्यूज' आज की दृष्टांत कथा के रूप में कही गई है जो समकालीन मशीनी समाज की दुविधा का बखान करती है, पतवार और पाल के बीच संघर्ष के द्वारा इस अनिवार्य दुविधा को समझाया गया है, पतवार तो परिश्रम करती है। पाल इस बात का दावा करती है कि नाव को वही खे रही है जबकि वह कुछ भी नहीं करती। यह उदाहरण आज के भौतिकवादी समाज के संकट की ओर इशारा करता है। यही वह 'बड़ा समाचार' है कि दुनिया में तीव्र परिवर्तन की आवश्यकता है। यही बात कुसमी को उसके दादा द्वारा बताई गई जिनसे वह हमेशा यही पूछती है, "आज का सबसे बड़ा समाचार क्या है? लेकिन कुसमी कुछ भी समझ नहीं पाती। वह यही समझती है कि दादा उसका मजाक उड़ा रहे हैं।"

"तुम्हारा बड़ा समाचार बहुत छोटा है? तुम मजाक कर रहे हो?"
"अच्छा यह मजाक लग रहा है," दादा जी ने कहा--
"लेकिन जल्दी ही यह खबर बड़ी बन जायेगी।"
"और तब?"
"तब तुम्हारे दादा जी समय के प्रवाह को
रोक लेंगे अपनी उन पतवारों से"
"और मैं?"
"जब यह पतवार ज्यादा चूं-चपड़ करे तब तुम
उसमें डाल देना थोड़ा-सा तेल।"

"यही सच्ची खबर है" दादा जी ने जारी रखा, "यह अभी छोटे बीज की तरह छोटी

लगती है लेकिन जल्द ही इसमें पेड़ की शाखाएं और फल लगेंगे। अब तुमने इसका मतलब समझ लिया?"

"मैं समझती हूं," उसकी आंखें बता रही थीं कि वह खुद भी समझ नहीं पा रही है। लेकिन कुसमी में एक गुण यह था कि वह अपने दादा जी के सामने कभी यह स्वीकार नहीं करती कि वह नहीं समझती।

यह किताब दृष्टांतों तथा कथाओं की 'जन्मदिन' की कविताओं की तरह, जिसका उल्लेख पहले किया गया है, अप्रैल 1941 में प्रकाशित हुई। बंग्ला नववर्ष इसी महीने के मध्य में होता है जो कि पहले की तरह अब भी, शांतिनिकेतन में कवि के जन्मदिन के साथ मनाया जाता है (जबकि वास्तव में यह दिन 3 सप्ताह बाद 7 मई को आता है) जिससे कि विद्यार्थीगण इसमें भाग ले सकें क्योंकि इसके बाद ही गर्मी की छुट्टियां शुरू हो जाती हैं। उस दिन 14 अप्रैल 1941 को कवि ने अंतिम सार्वजनिक सभा में भाषण दिया जो कि 'सभ्यतार संकट' शीर्षक से प्रकाशित किया गया। कवि तब इतने कमजोर थे कि वह भाषण उनकी उपस्थिति में किसी अन्य के द्वारा पढ़ा गया। भारत के लोग हों या यूरोप या सुदूर-पूर्व के, वे एक बड़े संकट के दौर से गुजर रहे थे। इसके अलग अलग रूप थे और अलग अलग कारण थे। जो कुछ भी हो रहा था वह था सभ्यता का संकट और रवीन्द्रनाथ का भाषण इसके दोनों पहलुओं–विश्वास और निराशा को एक साथ उजागर करता जाता है। वह इस बात को याद करते हुए शुरू करते हैं कि कैसे आधुनिक पश्चिमी सभ्यता पर उनकी आस्था इसकी मानववादी परंपरा के कारण विकसित हुई जो कि मूल तौर पर अंग्रेजी साहित्य और ब्रिटिश उदारवादी संस्थाओं से सम्बद्ध थी। साथ ही, वह एक युवा विद्यार्थी के रूप में लंदन में जॉन ब्राइट के भाषणों को बड़ी तन्मयता से ब्रिटिश संसद में सुना करते थे। "उन उदारपंथी और उग्र सुधारवादी भाषणों ने जो राष्ट्रीय सीमाओं के किसी भी बंधन से परे थे, उन्होंने उनके दिमाग पर इतना गहरा असर किया कि उनमें से कुछ की गहरी छाप अकरुण मोहभंग के दिनों में भी उनके मन पर अंकित रही।" इस पर आगे विश्लेषण करते हुए वह कहते हैं कि 'अकरुण मोहभंग' आजकल इन दिनों में जबकि वह भ्रम कट गया है, इसका कारण है ब्रिटिश शासकों द्वारा उन मूल्यों का असम्मान जो कभी पश्चिमी सभ्यता के गौरव थे। "एक दिन भाग्य चक्र अवश्य ही ब्रिटिश शासकों को उनका यह भारतीय साम्राज्य छोड़ने पर विवश करेगा। लेकिन वे किस तरह का भारत अपने पीछे छोड़कर जाएंगे वह कैसा पीड़ित और शोषित भारत होगा। जब उनके शासन की दो शताब्दियों की धारा पूरी तरह सूख जाएगी तब क्या बचेगा, वे अपने पीछे सिर्फ गाद और गंदगी छोड़कर चले जाएंगे!"

लेकिन इतने गहन अंधकार के पारावार में भी रवीन्द्रनाथ का विश्वास किसी नैराश्य में खत्म नहीं हो पाया। "जैसे ही मैं अपने चारों तरफ देखता हूं तो पाता हूं कि एक गौरवमय

सभ्यता के ध्वंस स्तूप के ढेर बेकार फैले हुए हैं। तो भी मैं ऐसा कोई दारुण पाप नहीं करूंगा कि मनुष्य पर अपना विश्वास खो दूं। बल्कि मैं इसके इतिहास के उस नए अध्याय की प्रतीक्षा करूंगा जबकि यह तूफान थम जाएगा और वातावरण सेवा और बलिदान के भाव से ओत प्रोत हो जाएगा।"

मनुष्य की नियति (चाहे वह अच्छी हो या बुरी, कौन बता सकता है?) के प्रति उनकी आस्था गहरी थी--यह बड़े उत्साह से उनके एक नए गीत में अभिव्यक्त था, जो कि उसी अवसर पर पहली बार गाया गया था। कुछ दिन पूर्व उनके भाई के नाती सोमेन्द्रनाथ ठाकुर ने कलकत्ता में आकर उन्हें एक नई गीत-रचना देने को विवश किया था, ताकि उसे समवेत स्वर में गाया जा सके। इस गीत में उस मनुष्य का आह्वान था जो सही मायने में एक नया, सच्चा और स्वतंत्र मनुष्य होगा, जो मनुष्य के उत्थान की चेष्टा में ही अपना जीवन लगा देगा और जो सामाजिक या राजनैतिक मशीन का एक पुर्जा मात्र नहीं रह जाएगा। यह प्रस्ताव एक बीज की तरह था जो शीघ्र ही अंकुरित और पल्लवित हो गया--

"इस धरा पर वह महान आत्मा उतर रही है
तो घासों की पत्तियां, सिहर-सिहर उठती हैं इस संभावना में
स्वर्ग में नगाड़े बजने लगते हैं:...
काली रात का दुर्ग धूल में मिल जाता है,
और फैल जाता है, भोर का उजाला
एक नए जीवन का आश्वासन, 'कोई भय नहीं'
और आकाश में प्रतिध्वनित होने लगता है यह मंत्र
एक नए मानव की विजय का हो रहा है आगमन।"

रवीन्द्रनाथ के अंतिम तीन महीने दुख और तकलीफ से भरे थे। उनकी अपनी शारीरिक यंत्रणा, शरीर की पीड़ा उन्हें घड़ी भर चैन से बैठने न देती थी। दर्द से कोई छुटकारा नहीं। उनका दुखी देश एक अजीब परेशानी के दौर से गुजरते हुए एक विशाल कारागार में परिणत हो गया था, नेता जेल में, लोग सशंकित और पीड़ित चारों ओर भूख का हाहाकार। रवीन्द्रनाथ जिस गंभीरता से अपने लोगों से प्यार करते थे वह सिर्फ उन्हीं लोगों तक सीमित नहीं था। वे यूरोप की उस असहनीय अवस्था और दुर्दशा के बारे में जो युद्ध के कारण हो रही थी, सोच सोच कर घुटते रहते थे। हिटलर की फौजें रूस की ओर बढ़ती चली जा रही थीं। वह उन लाखों निरपराध लोगों के बारे में सोचते रहते थे जो या तो इस युद्ध के शिकार थे या इसमें हथियार के बतौर इस्तेमाल हो रहे थे। रवीन्द्रनाथ आहत थे यद्यपि उनकी पूरी सहानुभूति चीन, रूस और मित्र देशों की ओर थी परंतु वे जर्मनी और जापान को इस नाटक की पृष्ठभूमि का एकमात्र खलनायक नहीं समझते थे। वे यह बात कहते

नहीं थकते थे कि यह दुनिया अपने ही बनाए इस प्राणांतक जाल में जकड़ गई है, विभिन्न प्रकार के वादों ने इसकी जकड़बंदी को और भी अधिक मजबूत बना दिया है। लालची और पाखंडी पुरोहितों और सत्तालोलुप राजनीतिज्ञों ने साधारण लोगों की भावनाओं से खिलवाड़ कर अपनी घृणा या नायकत्व की क्षमता और भावना का अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए इस्तेमाल किया है।

इस शारीरिक और मानसिक यंत्रणा और साहित्यिक कार्यों के बीच भी उनकी भावनाएं हर घड़ी शांतिनिकेतन और वहां पढ़ रहे अपने नन्हें बच्चों के बीच पहुंच जाती थीं। यह विद्यालय उनका प्रथम प्रेम था लेकिन जब पूरी चमक-दमक वाली विश्वभारती अस्तित्व में आ गई तो इसे उन्होंने दरकिनार कर रखा था। अब वही पुराना लगाव फिर से पैदा हो गया था। वह यकायक ही प्रश्न करते, "आजकल स्कूल में बंग्ला कौन पढ़ा रहा है।" मैं आशा करता हूं वह कोई साहित्य प्रेमी और भाषा का सम्मान करने वाला होगा न कि कोई उबाऊ पंडित। बच्चे अध्यापक की वाणी में निहित स्वरों में भावना से अपनापन महसूस करें। वह याद करते हैं कैसे वह उल्लासित रहा करते थे जब बच्चों को पढ़ाया करते थे। उनकी आवाज भारी थी। फिर वह यह भी जोड़ देते कि "अब मैं न तो उन्हें स्वयं पढ़ा सकता हूं और न उनकी देख रेख ही कर सकता हूं।"

वह इस बात का हमेशा ख्याल रखते थे कि बच्चों के लिए मीठी मीठी गोलियों की शीशी या चॉकलेट के बक्से पड़े हों ताकि उनके पास आने वाले बच्चे कभी खाली हाथ या खाली मुंह न लौटें। एक आवारा कुत्ता, जिसे किसी भी तरह से बाहर निकाला नहीं जा सका, उनकी आराम कुर्सी के नीचे आश्रय लेकर इस घर के मुख्य सदस्य के रूप में जमा रहा। हर सुबह वह उनके करीब आकर खड़ा हो जाता और जब तक वह उसके सिर पर हाथ नहीं फेरते, चुपचाप खड़ा रहता और इसके बाद वह उस कुर्सी के नीचे आकर बैठ जाता। किसी आगंतुक के आने पर किसी कोने में खिसक जाता। 'आरोग्य' की एक कविता इसी अनाम कुत्ते पर लिखी गई है जिसने अपनी भक्ति और मूक श्रद्धा से स्वास्थ्य लाभ कर रहे कवि का हृदय जीत लिया था। बाद में जब उनकी स्थिति बिगड़ती चली गई तो वे बिस्तर से लग गए, वे अपनी कुर्सी पर बैठ भी नहीं सकते थे। उन्होंने अपनी इस तकलीफ को 'खाली कुर्सी' में व्यक्त किया है, जो सचमुच मन को छू लेता है--यह कुर्सी उन्हें बेहद प्यारी थी जिस पर उन्होंने खुशी के ऐसे कई पल गुजारे थे--जो यूं तो महत्वहीन लगते हैं लेकिन अपनी रचनात्मकता में समृद्ध हैं। सोलह वर्ष से अधिक हो गए जब सानइसी में इनकी मेजबान विक्टोरिया ओकाम्पो ने उन्हें यह कुर्सी भेंट में दी थी। उन्होंने पाया कि कवि इस पर बैठकर आराम और निश्चिंतता महसूस करते हैं। उन्होंने इस कुर्सी को उन्हें लेकर जाने का आग्रह किया था। फिर इसे ब्यूनस आयर्स से उनके साथ जहाज पर लादकर लाया गया। उनकी यह प्रिय कुर्सी शांतिनिकेतन के 'विचित्रा'

संग्रहालय में पड़ी है।

"सूरज की तपती धूप
और यह मध्याह्न की गर्मी
उस खाली कुर्सी को देख
दिलासा की कोई बूंद तक नहीं
उसके हृदय में शून्यता जगाती
करुणा से सिक्त
शून्यता के स्वर
जिसकी अंतर्निहित वाणी को
समझ पाना कठिन है।"

कवि की सहनशीलता और विनोदप्रियता से स्निग्ध हास्य अंत तक उनके साथ रहा। उनकी रोग शय्या पर सेवारत लोगों के लिए तो सबसे बड़ा नाम और ईनाम था वह आनंदपूर्ण परिवेश, जो कवि के विनोदपूर्ण वाक्यों और उनकी रसिकोचित बातों से भरा-पूरा था और धरोहर रूप में उन लोगों के पास सुरक्षित है। जब उन्हें ग्लैक्सो का आहार दिया गया तब वह इस बात पर परिहास करने से नहीं चूके कि वे 'ग्लैक्सो बेबी' हैं। वे थोड़ी थोड़ी मात्रा में ही आहार ले सकते थे इसलिए उन्हें दो महीने के बच्चे की खुराक दी जाती थी। जब कभी उनके सामने ग्लैक्सो लाया जाता वे हर बार यही पूछते, "अब मैं कितने महीने का हो गया?"

पेड़ों के प्रति उनका प्रेम संभवतया बहुत पुराना था। बचपन में ही उन्हें एक पुराने बरगद के पेड़ से बड़ा लगाव हो गया था जिसे वे अपने पैतृक मकान की खिड़की से निहारा करते थे, जहां उनके चौगिर्द खड़िया का घेरा खींचकर, उन्हें नौकरों की निगरानी में रखा गया था। अपने आखिरी दिनों में जब वे चलने-फिरने योग्य नहीं थे तब शांतिनिकेतन आश्रम के बाहर एक सुंदर सेमल को बड़े उत्कंठित भाव से चुपचाप निहारते रहते थे। गर्मी में पतझड़ के कारण वह आश्रम के वृक्षों के बारे में सोच सोच कर चिंतित हो उठते। वह चाहते थे कि वृक्षों को किसी भी कीमत पर बचाना चाहिए। "क्या तुम्हारे बगीचे में महुआ का पेड़ है" वे यकायक ही किसी भी अभ्यागत से यह सवाल कर बैठते, "अगर नहीं है तो तुम्हें एक लगा लेना चाहिए। जब यह बड़ा होगा तब तुम देखोगे कि संथाल औरतें इसके नीचे इकट्ठा होकर इसके फूल बीनकर मादक पेय बनाती हैं।" वह बड़ी दृढ़ता से उस खाद्य पदार्थ को चखने से मना कर देते थे जो उन्हें प्रिय थी और जो बड़े जतन से उससे बनाई गई थी, दूसरी ओर बड़ी अधीरता से और एक बच्चे की तरह जंगली जंबू बेरों को खाने के लिए जिद करते जो उनके पास लाए जाते। वह उन गुच्छों को अपने

पास रखते और आगंतुकों को लालच देते, "अच्छा सिर्फ एक जंबू चख कर तो देखो कि यह कितना रसीला और मीठा है। यह मेरे अपने पेड़ का है जो सेमल के पीछे उगा है।"

अपने जन्मदिन के तीन दिन पहले जो बंग्ला पंचांग के हिसाब से 8 मई होता है, उन्होंने एक गीत लिखवाया जिसकी सर्जना और स्वर-संरचना उन्होंने की थी। वह कभी स्वरलिपि का सहारा नहीं लेते थे केवल उसका गान करते जिसमें से धुन स्वयं ही निकल पड़ती। कोई और इस धुन को पकड़कर स्वरलिपि तैयार कर देता। यह अंतिम गीत जो उनके अंतिम जन्मदिन पर गाया गया था और आज भी उनकी जन्मवार्षिकी पर गाया जाता है इसमें वे ईश्वर की वंदना करते हैं जो अपने को नए नए रूपों में उजागर करता है।

"तुम स्वयं को उस तरह प्रकाशित करो
जैसे सूरज कोहरे की चादर भेद कर प्रकट होता है।
अंतहीन आश्चर्य का यह अनंत विस्तार
जीवन की विजय घोषित कर
स्वयं को उजागर करे।"

रवीन्द्रनाथ ने 6 मई को भी जो कविता लिखवाई वह अत्यंत मार्मिक है, अपने आने वाले जन्मदिन के उत्सव में भी वे अपने आपको थका-हारा महसूस करते हैं। उनकी झोली खाली है। इस विदाई की बेला में वे सबसे मानवीय प्रेम और ऊष्मा की याचना करते हैं, उनके पास कुछ भी नहीं है, यही उनके लिए विदाई का उपहार होगा--

"मेरे साथ होगा
लोगों का प्यार, लोगों की क्षमा
जब मैं अपनी अंतिम यात्रा पर निकल पडूंगा
इस निःशब्द उत्सव के अंत में।"

कवि के लिए यह कोई अजीब बात नहीं थी कि उनकी मनोदशा बहुत जल्दी बदलती रहती थी। लेकिन इन आखिरी महीनों में जब जीने की या जिंदा रहने की आकांक्षा तीव्रतर होती चली गई, तब एक संवेदना से दूसरी संवेदना में परिवर्तन बहुत जल्दी जल्दी होने लगा। आनन्द से नैराश्य, विश्वास से प्रश्नाकुल, लगाव से अलगाव। हर प्रकार का भाव जब भी उनमें आता, वे बहुत गंभीरता से उसे महसूस करते और सच्चाई से उसे प्रकाशित करते, शायद इसमें और भी अधिक शक्ति और सौंदर्य का भाव होता, बिना किसी तामझाम या लाग-लपेट के, जो उनके लिए अब किसी भी अतिरेक के बेमानी रह गई थी--अनिश्चित और विचारमग्न--

"चारों ओर फैलता जा रहा है गोधूलि का झुटपुटा

मेरा मन कहता है, अब मुझे घर चलना चाहिए
लेकिन कहां है घर,
वह यह नहीं जानता।
विश्वास शक्तिशाली हो उठता है--
मृत्यु, राहु की तरह,
जीवन पर डाल सकती है मात्र अपनी छाया
जड़ता का आकुंचन
जीवन को स्वर्गोपम अमृत से
वंचित नहीं कर सकता
यह मैं निश्चित रूप से
जानता हूं।"

आस्था ही कवि रवीन्द्र की शक्ति का स्रोत रहा है। हाथ में छड़ी और मशाल लेकर वह अंधकार में मार्ग तलाश करते रहे। यह किसी अंधे की तरह स्वयं को धोखा भी नहीं देते थे। इस धरती की वेदना को विधाता (नियति) से अलग न समझकर जीवन की कठोर वास्तविकताओं से उन्होंने कभी अपनी आंखें नहीं मूंदी। ना ही उन्होंने निराशाभरी खीज या आत्म करुणा के वशीभूत हो सत्य के भीषण सौंदर्य को कभी नकारा। 'रोग शय्या' में वे इस विधाता को आदिसृष्टि (स्त्री) रूप में संबोधित करते हैं --

"आज, इस कभी ना खत्म
होनेवाले दुख के अंधकार में
मैं यह जान गया हूं
तुम काल के प्रथम चक्र की संपूर्ण कालिमा में विराज रही हो
निर्वाक और नेत्रहीन
भीषण एकांत में बैठी सृष्टि-संरचना में ध्यानमग्न।"

अपने जन्मदिन के एक सप्ताह बाद वह फिर सृष्टि के रहस्यों को अनवरत और अपलक निहारते रहते हैं। वह कहते हैं कि रूपनारायण (बंगाल की एक नदी) के किनारे उनकी आंख खुली--यह नाम ही बताता है कि यह ईश्वर का ही दृश्यरूप है--

"मैं जानता हूं
यह पृथ्वी
स्वप्न नहीं
मैंने अपनी सत्ता को

रक्त में लिखा देखा
एक पीड़ा के अनंतर दूसरी पीड़ा के द्वारा
मैं अपने आपको
जान पाया
सत्य कठोर है
मैं इस कठोरता से करता हूं प्रेम
यह कभी धोखा नहीं देती।"

इस तरह मई और जून के महीने किसी प्रकार घिसट घिसट कर चले गए। सूरज की तेज गर्मी ने पृथ्वी का सारा रस सोख लिया था और पीड़ा की असह्य गर्मी ने कवि के शरीर के अंदर की बची-खुची शक्ति को भी पूरी तरह से निचोड़ लिया।

"जीवन की गति मंथर है
मेरी रोग शय्या पर
काई, तिनके और घास-पात फैले हैं
जिनका कोई मोल नहीं है।"

अपने जीवन के अंतिम दिनों में लिखवाई गई कविताओं के बारे में उनका नम्र मूल्यांकन था। लेकिन कुछ परिपक्व, प्रौढ़ और परिष्कृत बंगाली आलोचकों का यह मत है कि ये अंतिम कविताएं संक्षिप्त, संश्लिष्ट और संपूर्ण हैं और इनमें 'भीषण सौंदर्य' का जन्म हुआ है जो उनकी पिछली कविताओं में नहीं मिलता और इनमें से कुछ श्रेष्ठ और लगभग संपूर्ण हैं। ये कविताएं जो उनकी मृत्यु के पहले लिखवाई गई थीं, जो उनके मरणोपरांत 'शेष लेखा' शीर्षक से छपीं।

दिन-प्रतिदिन उनका कष्ट बढ़ता चला गया, हर रात ज्वर बढ़ जाता और तब रात असह्य बेचैनी से बीतती। कलकत्ता से बड़े बड़े डाक्टरों और शल्य चिकित्सकों का दल बारी बारी से उन्हें देखने के लिए आता। वह हमेशा इस बात पर जोर देता कि शल्य चिकित्सा या बेहतर चिकित्सा के वास्ते कलकत्ता ले जाया जाना चाहिए। यह निर्णय रोगी को परेशान कर देता क्योंकि वह डाक्टरी चिकित्सा में कम ही विश्वास रखते थे। वैज्ञानिक शल्य-चिकित्सा के नाम पर अपने शरीर पर होने वाले संभावित अत्याचार की बात सोचकर ही वे सिहर उठते। लेकिन वे असहाय थे। यहां तक कि गांधी को भी शल्य-चिकित्सा के लिए राजी होना पड़ा था। "मुझे शांति से मरने क्यों नहीं दिया जाता"—वे जिद किया करते, "क्या मैं काफी जी नहीं चुका?" "अब पंछी के उड़ने का समय आ गया है।" जैसा कि उन्होंने अपनी पिछली कविताओं में से एक में कहा भी था। इस निश्चित विश्वास से उनका कहना कि उनका अंत निकट है, यह सहजात बुद्धि की भावना से प्रेरित था। "प्रति क्षण मुझे

ऐसा लगता है कि काल मुझे अपने समीप खींच रहा है।" लेकिन जो उनके आसपास थे, वह भी दृढ़प्रतिज्ञ थे कि उन्हें बचाया जाए क्योंकि एक बेहद मूल्यवान जीवन किसी भी प्रकार खोया नहीं जा सकता। और रवीन्द्रनाथ अपने प्रियजनों के अनुरोध को नकार नहीं सकते थे। इसी कारण अपनी इच्छा और अपनी प्रवृत्ति के विरुद्ध न चाहते हुए भी उन्होंने घुटने टेक दिए। इससे अधिक उनके लिए और क्या अच्छा हो सकता था कि वह अपनी आखिरी निश्वास भी शांतिनिकेतन में ही छोड़ें, उन प्रियजनों, स्त्री-पुरुषों, बच्चों और वृक्षों से घिरे जो उनके अपने थे और जिन्हें वे बहुत प्यार करते थे।

यह जुलाई का महीना था, हमेशा की तरह आकाश में बादलों का समूह उन्हें अभिनंदन कर रहा था। ये बादल आकाश से ही उनको रिझाने की कोशिश कर रहे थे। इसीलिए वह इस रम्य परिवेश को छोड़कर नहीं जाना चाहते थे, यहां की हर चीज उनके स्नेह और प्यार भरी निगरानी में पली-बढ़ी थी। जिन पेड़ों को वे प्राणों से अधिक प्रिय समझते थे, यह सोचकर दुखी हो जाते, "अब इन पेड़ों को कभी देख पाऊंगा या नहीं," वे धीरे धीरे से बड़बड़ाते रहते।

25 जुलाई को उन्हें कलकत्ता ले जाया गया। शायद यही विधि का विधान था और ठीक भी था क्योंकि जहां उन्होंने जीवन के आरंभिक दिन काटे थे वहीं उन्हें अपने अंतिम दिन भी काटने थे। वहीं उनका अपना पैतृक घर था और वहीं उनका बचपन गुजरा था। दो दिन बाद उन्होंने एक कविता लिखवाई, जो अपनी संक्षिप्तता, परिपूर्ण वैचारिक सघनता और शक्ति में ऋग्वेद के किसी मंत्र की तरह थी--यहां प्रस्तुत है --

"प्रथम दिवस के सूर्य ने पूछा--
नई सृष्टि के आलोक में
तुम कौन हो?
कोई उत्तर नहीं मिला
वर्ष के अनंतर बीत गए वर्ष
अंतिम द्रिवस के अंतिम सूर्य ने
आखिरी बार वही प्रश्न दोहराया
पश्चिमी समुद्री किनारे से
तुम कौन हो?
कोई उत्तर नहीं।"

यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि रवीन्द्रनाथ की यह उक्ति इतनी उच्च कोटि की और प्रभावशाली थी जिसमें बौद्धिक अलगाव इंगित है, इस अंतिम आश्वासन को संदेह का प्रतीक मानें या विश्वास का। उत्तर भी पूरी तरह इतना ही सरल, अकृत्रिम और सच्चा

होगा। रवीन्द्रनाथ के वचन सत्य से परिपूर्ण हैं जो विश्वास या संदेह से परे हैं या इनमें संदेह और विश्वास दोनों का ही मिश्रण है। कवि का वह कथन कठोर सत्य है–कि वह जीवन के अंतिम रहस्यों और इस विश्व ब्रह्मांड के बारे में कुछ भी नहीं जानता। इस शरीर के अंदर और इस काया के बाहर क्या है, इस तथ्य से वे अवगत नहीं। काया से परे भी कुछ है यह कोई भी पूरी तरह से नहीं जान पाया। यह कहना कि "कोई उत्तर नहीं मिला"–कवि के शून्यवाद का नहीं बल्कि उनके सत्य का प्रकाश है। सत्य वह जानते थे जो कटु है और यह सच्चाई ही मायने रखती है। परंतु वह न तो निराशावादी थे और न ही भौतिकवादी–जैसा कि इन शब्दों का अर्थ प्रायः लगाया जाता है। उनका विश्वास था कि जीवन मृत्यु से अधिक श्रेष्ठ है और मनुष्य की आत्मा जीवन से श्रेष्ठ। क्योंकि–जीवन, प्रकृति और विश्व-पदार्थ एक-दूसरे से जुड़े हैं और एक विश्वव्यापी नियम के द्वारा अनुशासित हैं जिसके सिद्धांत यांत्रिक ना होकर आध्यात्मिक हैं। इसीलिए इसे समझने और अनुभव करने के लिए आंशिक रूप से ही सही, हृदय का उपयोग करना होगा न कि मस्तिष्क का, इसे प्रेम के द्वारा जाना जा सकता है न कि युक्ति या तर्कपूर्ण बातों से।

साधारणतया जो मनुष्य आस्थावादी है उसका विश्वास दृढ़ एवं सच्चा होता है क्योंकि वह पीड़ा की आग में तपा होता है। यह आडंबरपूर्ण उधार लिए हुए विश्वासों की बनावटी बैसाखी पर कायम नहीं रह सकता बल्कि दुख तथा अनुभव पर टिका रहता है। वास्तव में, युवावस्था में कवि ने कुछ विश्वासों को अपने मस्तिष्क में बसा लिया था जो धीरे धीरे उनसे अलग होते गए और उन्होंने त्याग दिए; हां जो उनके अंदर काफी प्रभाव जमा चुके थे और उनके अंदर फैल चुके थे, अंत तक उनके साथ रहे। अंतिम दो कविताएं जो उन्होंने बिस्तर पर लेटे लेटे ही लिखवाई थीं, वास्तव में मृत्यु शय्या की वसीयतें हो गई थीं। यह वसीयतनामा एक साथ उदासीन और उज्ज्वल, शोकपूर्ण और गंभीर था, विशिष्ट था और उनकी आस्था की पराकाष्ठा का प्रतीक था। पहली कविता 29 जुलाई को उनके कलकत्ता पहुंचने के चार दिन बाद की थी–

"मेरे द्वार पर दुख की
मंडरा रही है काली रात बार-बार
इसका एक ही हथियार
जो धोखे से पीड़ा को खींच लाया
अंधेरे में छल कर रही है
भय की चोर-मुद्रा
जब जब मैं इसके
भयंकर मुखौटे पर विश्वास कर बैठा
मुझे असफल पराजय का मुंह देखना पड़ा।

हार और जीत का यह खेल
जीवन की प्रवंचना है
बचपन से ही, हर कदम पर
यह जकड़े रहता है।
दुखों से परिहास करता हुआ
कई-कई भयों का एक चलयमान दृश्य
मृत्यु की खूबसूरत दस्तकारी
घने अंधेरे में लिपटी।"

अगले दिन ही उनका आपरेशन किया गया। जब कवि को प्रातकाल में आपरेशन टेबल तक ले जाया जा रहा था, उस वक्त भी उन्होंने अपनी अंतिम कविता लिखवायी और इस तरह अपनी कलादेवी को अंतिम श्रद्धांजलि अर्पित की जो परमात्मा के साथ रहस्यपूर्ण वार्तालापों में एक थी और शायद सबसे अधिक निकटतम और हृदयग्राही, आज तक उन्होंने जितनी बातें उस ईश्वर के साथ की होंगी उनमें सबसे अंतरंग, मार्मिक एवं अंतरात्मा से निकलने वाली आवाज –

"अपने सृष्टि के पथ पर तुमने
तरह-तरह के रहस्य जाल बिछा रखे हैं
हे मायावी
अपने कुशल हाथों से यह मिथ्या मायाजाल तुमने
सीधे-सादे लोगों पर
फैला रखा है।
इस छल के चलते तुमने अपनी महानता पर लगा दिया है प्रश्नचिह्न
क्योंकि उसके लिए कोई रहस्यपूर्ण रात्रि नहीं है।
उसके अंतर से फूट पड़ता है
उसका सरल विश्वास
और जिसमें आंतरिक आभा है।
इसी में निहित है उसका गौरव
कि वह बाहर से वक्र
किंतु अंदर से ऋजु है।
लोग इसे अकारथ कहते हैं।
किंतु, वही पा सकता है सत्य
जिसका उज्वल अंतर अपने ही प्रकाश से युक्त हो।

उसे कोई भी छल नहीं सकता
अपने खजाने में संजो पाता है वह यह अंतिम पुरस्कार
जिसने तुम्हारे मायाजाल को तोड़ दिया
वह तुम्हारे हाथों पाता है
अक्षय शांति का दान।"

रवीन्द्रनाथ, साधारणतया जब कभी श्रुतिलेख लिखवाते थे तो अक्सर उसे जांच लेते और फिर से पढ़ते और दोहराते थे। लेकिन इस अवस्था में उन्हें ऐसा करने का अवसर नहीं मिला। इससे पहले कि वे बाद में होने वाली तकलीफों से उबर पाते, उनकी हालत और बिगड़ गई। धीरे धीरे उनकी चेतना खोती चली गई और फिर कभी वापिस नहीं आई। 7 अगस्त, दोपहर बारह बज कर दस मिनट पर उन्होंने अपना अंतिम निश्वास उसी पुराने जोड़ासांको वाले मकान में त्यागा, जहां उन्होंने अस्सी वर्ष और तीन माह पूर्व अपनी आंखें पहली बार खोली थीं। यह श्रावण के महीने की पूर्णमासी का दिन था, श्रावण यानी वर्षा का महीना--उनकी कविताओं एवं गीतों में न जाने कितनी बार जिसका उत्सव मनाया गया था।

कुछ दिन पूर्व रवीन्द्रनाथ ने एक गीत की रचना की थी और इच्छा प्रकट की थी कि इसे उनकी मृत्यु पर ही गाया जाए। उनकी विदा बेला में यही गीत गाया गया और आज भी उनकी पुण्यतिथि पर गाया जाता है –

"शांत समुद्र सम्मुख ही विराजमान है
हे नाविक, नाव खेकर ले चलो
तुम्हीं हो मेरे चिर संगी....."

इस प्रकार कवि अपनी अंतिम यात्रा के लिए प्रस्थान कर गए अपने साथ अपनी 'प्रिय' की पतवार खेते हुए। उस महान अज्ञात के संधान में, जिसे उन्होंने हमेशा इस परिचित जगत में खोजने की कोशिश की। तीन दशक पहले उन्होंने 'गीतांजलि' में गाया था–

"मेरे गीतों की तमाम कड़ियां
एक साथ जुड़कर एक प्रवाह में बहती हुई
शांत सागर में जा मिलें
और उस महान शाश्वत को
अपना प्रणाम निवेदित करें।"

वस्तुतया ये भाव कड़ियां विविधरूपा ही थीं और पिछले तीस सालों के अंतराल में और भी भिन्न होती गईं, कभी कभी तो लगता कि ये एक-दूसरे से अलग दूर चली जा

रही हैं, लेकिन ये बार बार अंततः एक ही धारा में प्रवाहित हो गईं। उनकी मृत्यु के कुछ ही महीने पहले उनकी एक प्रार्थना इस गीत में दोहराई गई थी–

"पर्दा गिर जाएं 'अहम' का
चेतना का श्वेत शुभ्र प्रकाश
कोहरे से छनकर आने दो
शाश्वत सत्य को मेरे समीप
सारे भेदों को छिन्न कर।"

एक दूसरे गीत का भाव है–

"संसार के सारे बंधन टूट जाएं
महान विश्व ब्रह्मांड से अपनी बांहों में उसे समेट लो
अपने अंतर में सहेज लो उसे
निर्द्वंद्व और निर्भय होकर
उस अज्ञात को।"

सचमुच उनके साथ ही एक युग चला गया। एक कालखंड समाप्त हो गया। हालांकि यह अंधकारमय था क्योंकि तब भारत विदेशी सत्ता के अधीन था। तो भी वह युग भारत के इतिहास में स्वर्णयुग की तरह ही स्मृति स्वरूप बना रहेगा क्योंकि इसी युग ने भारत की स्वतंत्रता और एकता की नींव रखी जिस पर वर्तमान और भविष्य की पीढ़ी पूरी स्वाधीनता से एक आदर्श भारत की संरचना कर सकी है। इसी युग ने इसे दो महान सपूत सौंपे–जो सदैव सम्मानित बने रहेंगे। इनमें से पहला अपने जीवन में भारत को स्वतंत्र नहीं देख पाया और दूसरा अपने ही कृतघ्न देशवासी की गोली का शिकार बना।

लेकिन क्या वे सचमुच मरते हैं जो अपने पीछे एक अनमोल विरासत छोड़ जाते हैं?

संदर्भ-ग्रंथ सूची

रवीन्द्रनाथ के जीवन पर लिखित (अंग्रेजी में) यह एक संक्षिप्त और चुनिंदा पुस्तक-सूची है। इनमें से कुछ (संख्या 7, 8, 12 और 14) में रवीन्द्रनाथ की प्रकाशित कृतियां (बंग्ला एवं अंग्रेजी) की संपूर्ण सूची दी गई है और इनमें से एक (संख्या 8) में, इनके अलावा रवीन्द्रनाथ पर तथा भारतीय तथा अन्य विदेशी भाषाओं में अनूदित रचनाओं की सूची भी दी गई है। अतः इस बात की ज़रूरत नहीं समझी गई कि इस ग्रंथ में रवीन्द्रनाथ की कृतियों की कोई अलग सूची सम्मिलित की जाए। सुधी पाठक निम्नलिखित पुस्तकों में से संबंधित जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

यहां इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि रवीन्द्रनाथ की प्रकाशित कृतियों की अब तक कोई संपूर्ण सूची उपलब्ध नहीं है, यद्यपि उनके बंग्ला में लिखित पत्र (जिनमें से अब तक कुछ अप्रकाशित हैं) विश्वभारती द्वारा नियमित रूप से प्रकाशित किए जा रहे हैं। यह बहुत मूल्यवान सामग्री है और इसका समुचित प्रयोग किया जाना आवश्यक है। इसके अलावा रवीन्द्रनाथ की कृतियों के अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हो रहे हैं।

1. *रवीन्द्रनाथ टैगोर : ए बायोग्राफिकल स्टडी;* अर्नेस्ट राइज, मैकमिलन एंड कं. लंदन, 1915

2. *रवीन्द्रनाथ टैगोर : द मैन एंड हिज पोयट्री;* वसंत कुमार रॉय, डोड मीड एंड कं, न्यूयार्क, 1916

3. *रवीन्द्रनाथ टैगोर : पोयट एंड ड्रामाटिस्ट;* एडवर्ड थॉम्पसन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, 1926, (दूसरा संशोधित संस्करण, 1948)

4. *रवीन्द्रनाथ टैगोर : हिज़ पर्सनैलिटी एंड वर्क्स;* वी. लेसनी, जॉर्ज एलेन एंड अनविन, लंदन, 1939

5. *टैगोर : ए स्टडी;* धूर्जटीप्रसाद मुखर्जी, पद्मा पब्लिकेशंस, बंबई, 1943

6. *ऑन द एजेज आफ टाइम : रिफ्लेक्शन्स आफ हिज फादर;* रवीन्द्रनाथ टैगोर, ओरियंट लौंगमैंस, बंबई, 1958

7. *रवीन्द्रनाथ टैगोर : 1861 - 1961, ए सेनेटेनरी वाल्यूम,* साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली, 1961

8. *ए टैगोर रीडर :* संपादक, अमिय चक्रवर्ती, द मैकमिलन कंपनी, न्यूयार्क, 1961

9. *टैगोर सेनटेनरी एक्जिबीशन* 1961, ललित कला अकादमी, नयी दिल्ली, 1961

10. *टैगोर बाई फायर साइड;* मैत्रेयी देवी, रूपा एंड कं. कलकत्ता, 1961

11. *द लेटर पोयम्स आफ टैगोर;* शिशिर कुमार घोष, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बंबई, 1961

12. *रवीन्द्रनाथ टैगोर : ए बायोग्राफी;* कृष्ण कृपलानी, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, और ग्रोव प्रेस, न्यूयार्क, 1962

13. *द ल्यूट एंड द प्लो;* ए लाइफ आफ रवीन्द्रनाथ टैगोर; जी.डी. खानोलकर, द बुक सेंटर प्रा.लि., बंबई, 1962

14. *एन आर्टिस्ट इन लाइफ :* ए कमेंटरी आन द लाइफ एंड वर्क्स आफ रवीन्द्रनाथ टैगोर; नीहाररंजन राय, यूनिवर्सिटी आफ केरल, त्रिवेंद्रम, 1967

अनुक्रमणिका